आदिवासी नीतियाँ
एक दीर्घकालिक नज़रिया

बी.के. रॉय बर्मन

अनुवादः रोज़ केरकटा

आदिवासी नीतिया
एक दीर्घकालिक नज़रिया

बी.के. रॉय बर्मन

अनुवाद
रोज़ केरकटा

दक्षिण एशियाई हरित स्वराज संवाद
(साउथ एशियन डॉयलॉग्स ऑन इकोलोजिकल डेमोक्रेसी)

© सर्वजन सुलभ, 2017
अपने नज़रिए से इसे इस्तेमाल करने, पुनर्प्रकाशित करने के लिए आप स्वतंत्र हैं। हमें सूचना देंगे तो अच्छा लगेगा।

प्रकाशक

nf{k.k ,f'k;kbl gfjr Lojkt lokn
(साउथ एशियन डॉयलॉग्स ऑन इकोलोजिकल डेमोक्रेसी)
सिएमेनपू फाउंडेशन, फिनलैंड, के वित्तीय सहयोग से
बी ई – 14 ए, डी.डी.ए. फ्लैट्स,
मुनिरका, नई दिल्ली – 110067
ईमेल : networkscommunication@gmail.com

DAANISH
BOOKS
दानिश बुक्स्
संपादकीय कार्यालयः 13 सी, स्काईलार्क अपार्टमेंट्स,
गाजीपुर, दिल्ली– 110096
www.daanishbooks.com

ISBN : 978-93-81144-64-0

Published by:

South Asian Dialogues on Ecological Democracy (SADED)
(With financial support from Siemenpuu Foundation, Finland)
B E - 14 A, D.D.A. Flats,
Munirka, New Delhi- 110067
Phone: 011- 26101580
Email: networkscommunication@gmail.com

Printed by Multiplexus (India)
multiplexusindia@gmail.com

Li"Vhdj.k

इस पुस्तक में शामिल सभी लेख, बी.के. रॉय बर्मन द्वारा दक्षिण एशियाई हरित स्वराज संवाद (SADED) को उपलब्ध कराई गई पांडुलिपियों को पुनः टंकित किया गया है। मूल प्रति से छेड़छाड़ किए बिना कुछ संपादकीय संशोधन किए गये हैं। यह उन्हीं लेखों का हिन्दी अनुवाद है। इस कार्य के पूर्ण होने से पूर्व ही प्रो. बी.के. रॉय बर्मन का अचानक देहावसान हो गया। किसी भी अनदेखी, चूक या टंकण में त्रुटि के लिए क्षमा चाहते हैं।

आशा है कि इस पुस्तक में शामिल लेख विचारित विषयों एवं किसी कानूनी या अन्य पेशेवर मार्गदर्शन की अंतर्दृष्टि प्रदान करेंगे।

fo"k; l|ph

1.	पंचायत अधिनियम 1996 (अनुसूचित क्षेत्रों पर विस्तार) का विश्लेषणात्मक आकलन	01
2.	पेसा की सच्चाई उजागर करती भुवनेश्वर घोषणा	15
3.	वन कर्मियों के लिये दिन में भी अंधेरा और उनकी मांगों का चार्टर	22
4.	जनजातीय भूमि विसंबंधन पर योजना आयोग के उप–समूह की रिपोर्ट पर प्रोफेसर रॉय बर्मन की टिप्पणी	32
5.	संविधान की पांचवीं अनुसूची और जनजातीय स्वशासन	37
6.	विश्व व्यवस्था के परिदृश्य में देशज और जनजातीय समुदाय	50
7.	मंत्री ('मिनिस्ट्री ऑफ डेवलपमेंट ऑफ नॉर्थ ईस्ट रीजन एण्ड ट्राइबल अफेयर्स') के साथ चर्चा के दौरान किये गये मुद्दों पर नोट	88
8.	पितृ सत्तात्मक मानवविज्ञान बनाम असमानता के द्वन्द्व : अनुसूचित जातियों की श्रेणी में शामिल करने और बाहर निकालने पर विचार	106
9.	राज्य केन्द्रित विश्व–व्यवस्था के भूमण्डलीकरण और मानव हस्तक्षेपवादी विश्व व्यवस्था में बदलाव के संदर्भ में लोगों का आत्म निर्णय का अधिकार	119
10.	संविधान की छठवीं अनुसूची	142
11.	कार्य बोधन, गुण निर्देश, पड़ोसी देश–चीन, थाईलैंड, बर्मा और बांग्लादेश में जनजाति और देशज व्यक्ति	165
12.	वैश्विक परिप्रेक्ष्य में जनजातीय लोग	175
13.	पिरेनीज पर्वत के बास्क लोगों के बीच सहकारिता का अनोखा अनुभव	197
14.	जनजाति क्या होती है : परस्पर विरोधी परिभाषाएं	200

mifuos'kokn i'kklu ls mHkjus dh fn'kk

— सव्यसाची

Jh बी. के. रॉय बर्मन के लेखों का यह संग्रह इस प्रश्न को हल करने के बारे में है कि लोगों के जीवन को प्रभावित करने वाले मुद्दों को हल करने के लिए क्या कानून और नीतियों की प्रशासनिक सरंचना उपयुक्त और पर्याप्त है? यह तर्क दिया जाता है कि प्रशासन की अनिश्चितता, नामतः नीतियों को चिन्हित करने, संदर्भ की स्पष्टता और सैद्धांतिक मान्यताओं की प्रखरता आवश्यक है।

प्रशासन के डिकोलोनाइजेशन के लिए बहस और अमल में योगदान के लिए यह महत्वपूर्ण राजनीतिक प्रक्रिया है। इन लेखों में यह तर्क दिया है कि डिकोलोनाइजेशन राज्य एवं इसकी प्रशासनिक संस्थाओं की मजबूती से केवल जुड़ा मामला है, क्योंकि किसी लोकतांत्रिक समाज में, ऐतिहासिक परिस्थितियों की विविधता में प्रत्येक राजनीतिक विचार हर समय पहुंच में है।

इन लेखों में बी.के. रॉय बर्मन हाशिए के लोगों के बारे में प्रशासन के 'नीच' विचार की अनिश्चितता को उजागर करते हैं। वे तर्क करते हैं कि बिना किसी 'उच्च' के कोई 'निम्न' नहीं हो सकता। केवल 'उच्च' से संबंध रखने पर 'नीच' मौजूद है। यह श्रेणीबद्धता को वैधता प्रदान करता है। इस विचार के साथ सैद्धांतिक अवधारणाएं दृष्टिकोण एवं श्रेणियां, लोगों की, संस्कृति एवं समाज से संबंध नहीं जोड़ पाते।

अतः सामाजिक न्याय के लिए यह आवश्यक है कि 'उच्च एवं नीचा' के विचार को छोड़ दिया जाए।

उनका तर्क है कि इस अनिश्चितता ने ही आदिवासियों को राजनीतिक अतिवाद की ओर धकेला है। राज्य और माओवादियों, दोनों द्वारा आदिवासियों को 'नीच' मान लिया गया है। दरअसल, आदिवासी समाज एवं संस्कृति से जुड़ाव के लिए समय एवं स्थान ही नहीं छोड़ता। यही नहीं, दोनों जमीन को भौतिक संसाधन, भूमि संसाधनों के विकास के रूप में देखते हैं। इसमें लोगों के जीवन में भूमि एवं संस्कृति के बीच अत्यंत महत्वपूर्ण संबंध ही गायब है।

यह राज्य के विचार का आधार है कि माओवादियों की चुनौती का मुकाबला विकास और पुलिस एक्शन से ही हो सकता है। विकास और पुलिस सक्रियता का मेल दरअसल, राजनीतिक इच्छा शक्ति द्वारा 'उच्च एवं नीच' के ढांचे को निरस्त न करने की इच्छा शक्ति को वैधता प्रदान करता है। साथ ही, यहाँ राज्य और माओवादियों के बीच यह गांठदार विरोध भी राजनीतिक इच्छा शक्ति की अभिव्यक्ति है कि लोगों को कष्ट और सांस्कृतिक स्थिति पर तब भी 'कुछ न बोला जाय,' जब विकास कार्यक्रमों के लिए

जबरन उनकी जमीन छीन ली जाती है और इसके लिए कोई जिम्मेदार और उत्तरदायी नहीं होता।

इन परिस्थितियों में, वैधानिक शासन या वैधानिक/अदालती प्रक्रिया संबंधित उसकी नीति के क्रियान्वयन सहित, सामाजिक न्याय संबंधित बहस को नहीं जोड़ा जा सकता। ऐसी बहस निरर्थक है, क्योंकि नीति के मसौदे व सहायक वैधानिक प्रशासनों की रूपरेखा तय करने वाले संदर्भ की शर्तों, अवधारणाओं, श्रेणीबद्धता एवं सिद्धांतों की धारणा पर प्रश्नचिन्ह नहीं लग सकते।

बी.के. रॉय बर्मन के अनुसार यह 'अनिश्चितता' वैधानिक विश्वास के साथ निर्मित है। बदली परिस्थितियों के आलोक में यह कानून को स्पष्टतः परिभाषित करने और संशोधन को बाधित करता है। उनका कहना है कि यह संपत्ति की आदिवासी धारणा को विकृति से बचाने में असमर्थ है। विविध सामाजिक–सांस्कृतिक प्रणाली में लोगों और संपत्ति के बीच विविधता की गहन जांच द्वारा इस विकृति को दूर करने की आवश्यकता है।

उनके विचार में, वैधानिक प्रत्यक्षवाद को साधन को समझना वैधानिक बहुलवाद से करने की आवश्यकता है। इसको करने के लिए सामाजिक ज्ञान को कानून से जोड़े और सरकारी एजेंसियों के स्थान पर समाज में कानून को ढूँढ़कर, उसे प्रोत्साहित करना होगा। इस दृष्टिकोण पर विचार हेतु आदिवासी समाज की भूमि का जटिल होना है। ऐसी प्रत्येक भूमि सामूहिक जिम्मेदारियों, आकांक्षाओं और वस्तुओं पर प्रभुत्व का, संपत्ति से संबंध नहीं है।

संपत्ति संबंधों को समझने से समाज और संस्कृति, सामाजिक न्याय में अन्तनिर्हित हैं। इस लेख श्रृंखला में यह समझाया गया है।

बी.के. रॉय बर्मन इंगित करते हैं कि यह 'घृणित धारा' औपनिवेशिक प्रशासन द्वारा प्रस्तावित और निर्मित की गई थी और वैधानिक मत पर आधारित है। यह धारा समस्त ब्रिटिश निर्भर देशों में समान रूप से लागू की गई और अब भी है। इस धारा के अनुसार, यदि राज्य न्यायालय द्वारा यदि यह प्राकृतिक न्याय, समानता एवं सद्विचार के प्रतिकूल नहीं है तो रूढ़िजन्य कानून का नियम लागू किया जा सकता है। वह कहते हैं कि यह पूर्व द्वारा दूसरे पर दमन को थोपना है।

उनका मानना है कि सर्वेक्षणों और समझौतों ने, इसी 'घृणित धारा' के कारण, उनके संपत्ति संबंधों के बनाने में लोगों के अधिकार पर विचार नहीं किया गया है। इन संबंधों के बारे में जन प्रथाओं और परंपराओं की भूमि सर्वेक्षणों में अनदेखी की गई है। चिन्हित क्षेत्रों पर गृहस्थों के विशिष्ट अधिकार के साथ ज्यादातर समुदायों में, समुदाय के अन्य सदस्यों के साथ सहभागी अधिकार शामिल हैं। इसके इस कारण मान्यता नहीं दी गई है क्योंकि सरकार के अनुसार सभी संपत्ति राज्य की है।

यहां ये समझाया गया है कि 'पृथागत कानून' एक विरोधाभास है क्योंकि क्रमशः

समुदाय परंपरा और तर्कसंगत सोच, उनकी वैधानिकता के संदर्भ सहित पृथा एवं कानून अलग–अलग हैं।

कानूनी तर्क संगत आधार पर लोगों के जीवन में स्पष्ट संपत्ति अधिकार/प्रथागत तौर तरीकों की सभी मान्यताओं को शामिल किए बिना 'प्रथागत कानून' है।

बी. के. रॉय बर्मन अधिक समावेशी संदर्भ विशिष्ट दृष्टिकोण का तर्क करते हैं। विशेषतः राज्य के प्रतिकूल कब्जे की सीमा होनी चाहिए। लोगों की आकांक्षाओं और आवश्यकताओं, ऐतिहासिक निश्चित प्रसंगों सहित भूमि सुधार हो। राज्य द्वारा जबरदस्ती कब्जा किया जाना औपनिवेशिक तरीका है। यहाँ यह सुधार होना आवश्यक है कि 'वैधता समाज से होती है न कि राज्य से।'

उनके लेखों में सामान्य सुविधाओं और सामुदायिक संपत्ति के बीच अंतर पर बहस है। पहले ग्राम के सदस्य के रूप में देश के नागरिक के रूप में और बाद में विशेष समुदाय के सदस्य के रूप में माने जाते हैं। जब भी समुदाय को नियामक और आवंटित शक्ति प्राप्त होती है, आम सुविधाएं सामुदायिक संपत्ति मान ली जाती है। उदाहरणः उत्तरी बस्तर में श्रीनगर भूमि के 'कोयतारों' के साथ काम करने के दौरान मैंने जाना कि प्राकृतिक संसाधनों पर 'मुखिया' की भी समान पहुंच ही थी। उसके पास आबंटन कार्य नहीं था। वह 'पृथ्वी मां' की तरफ से एक केयरटेकर, एक ट्रस्टी के रूप में जाना जाता था। उसकी जिम्मेदारी यह मानी जाती है कि प्राकृतिक संपदाओं में हिस्सेदारी को समझा जाय, जिसे अनेक पीढ़ियों द्वारा कठिन श्रम द्वारा प्राप्त किया गया है और उनके द्वारा बनाए गए नियमों और परंपराओं को भंग न किया जाय। इन नियमों को इस तरह तैयार किया गया है जिससे व्यक्तिगत/गृहस्थ के अधिकारों और सामुदायिक अधिकारों के बीच सांमजस्य बनाये रखा जाये।

उनका मानना है कि नव–सामंतवाद तभी आता है जब राज्य व्यक्तिगत और सामूहिक अधिकारों के बीच आपसी सहमति की उपेक्षा करता है और जन–संसाधनों पर कब्जा करता है। परंपरागत प्रक्रियाओं को धीरे–धीरे समाप्त करके और जंगल भूमि से जंगल की परिभाषा को बदल कर यह किया जाता है। पहला जमीन पर पहुंच को सीमित करने हेतु आवश्यक कदम है और दूसरा ढलान सहित त्रिआयामी जगह को द्वि–आयामी समतल जमीन में बदलना है।

बी.के. रॉय बर्मन संकेत करते हैं कि नव–सामंतवाद के आने से भूमि सर्वेक्षण की विधि, चेन सर्वे के तरीके से सादा–मेज सर्वेक्षण विधि में बदल गई। संचालन एजेंसी के लिए सादी–मेज विधि कहीं सस्ती थी, और इस विधि से दस प्रतिशत से ज्यादा ढलाव वाली भूमि की सटीक नाप नहीं हो सकती। अतः बहुत कम नाप वाला स्वामित्व रिकार्ड होता है।

जन संसाधनों पर कब्जा करने के लिए राज्य द्वारा इस्तेमाल की जाने वाली सादी–मेज सर्वेक्षण विधि इस तरह बनाई गई है जिससे सामूहिक और व्यक्तिगत अधिकारों की सहमति को मान्यता न मिले। बी.के. राय बर्मन के अनुसार यह सामुदायिक अधिकारों

को समाप्त करने के औचित्य को सिद्ध करने के लिए है। यह विधि लोगों की जीवंत प्रथाओं पर राज्य का एकाधिकार स्थापित करती है।

मेरी समझ में यह एफआरए 2006 में परिलक्षित है।

साथ ही, विसंगत धारा, सामाजिक न्याय एवं आत्म–निर्णय हेतु मापदंड निर्मित करती है।

बी. के. रॉय बर्मन इंगित करते हैं कि अनुसूचित जनजाति वर्ग में शामिल करने की विधि आदिम लक्षण है : आर्थिक पिछड़ापन, समाज के साथ बड़े पैमाने पर कम संपर्क तथा अकेलापापन व पृथक संस्कृति। यह 1950 में तय हुआ और उनके मतानुसार बहुत पुराना हो गया है और वर्तमान संदर्भ में दमनकारी है।

उनका तर्क है कि ऐतिहासिक परिवर्तन की रोशनी में ये मापदंड असमानता द्वंदात्मकों पर आधारित होना चाहिए। व्यापक सामाजिक संदर्भ के हिस्से के रूप में आदिवासी लोगों को देखा जाना चाहिए। नया दृष्टिकोण उनको व्यापक सामाजिक संदर्भ में सही स्थान पर स्थापित करेगा।

'नेशनल सेंटर फॉर रांची' को लिखे अपने दृष्टिकोण प्रपत्र में उन्होंने आदिवासियों की जंगल (जंगल भूमि नहीं) पर आधारित एवं संबंधित निकटता के नजरिये से जंगल कर्मियों की विविधता के महत्व पर प्रकाश डाला है। यह 'आत्म पहचान' और आत्मनिर्णय का आधार है।

इन लेखों में संदेश है कि राज्य–निरंकुशता, बाह्य प्रभुत्व का सर्वाधिक हिंसक रूप है। शक्ति और/या संवैधानिक तरीकों के प्रयोग द्वारा आत्मनिर्णय की सीमा तय होती है। अनेक देशों, विशेषतः रवांडा एवं सोमालिया में, नरसंहार और संजाति सफाई में बल का प्रयोग हुआ।

बी. के. रॉय बर्मन बताते हैं कि भारत में आत्म–निर्णय की सीमा संवैधानिक तरीके से निर्धारित है। पेसा (PESA) के विश्लेषणात्मक मूल्यांकन में वह दर्शाते हैं कि आत्म–निर्णय का अधिकार 'असंगत धारा' पर आधारित है। वैधानिक कानून का हिस्सा है। यह लोगों को जीवन से व पारंपरिक रिवाजों से काटता है। उदाहरणतः उनका तर्क है कि एक गांव की परिभाषा आरोपित है। जहां कुछ गृहस्थ एक स्थान पर बसे हैं और जो अपनी परंपरा और रिवाजों के अनुसार अपने जीवन को जीते हैं, उसे गांव नहीं माना जाता।

यह (PESA) के खुलासे के लिए भुवनेश्वर घोषणापत्र को सूचित करता है।

यह घोषणापत्र कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न उठाता है। क्या यह सच नहीं है कि दो अनुसूचियों में शामिल आदिवासी क्षेत्रों में देश में सारी आदिवासी आबादी नहीं रहती है? क्या यह सच है कि पांचवी अनुसूची के सभी प्रावधान आत्म–शासन की प्रोन्नति के लिए हैं? क्या राज्य विधान मंडल, उन विविध पारंपरिक रिवाजों के अनुरूप हैं जो एक गांव को

आकार देते हैं? क्या ऐसा कोई सक्षम प्राधिकरण है, जो ऐसी कानूनन बाध्यता की घोषणा कर सके कि राज्य विधान–मंडल द्वारा पारित कोई भी विधान, परंपराओं और रिवाजों के लिए हानिकारक है या नहीं है?

उनके अनुसार आत्म–निर्णय राज्य निरंकुशता के मुकाबले के लिए है। यह औपनिवेषिक प्रभुत्व से मुक्त करता है; स्वतंत्रता सुनिश्चित करता है और, नई सामाजिक सरंचनाओं के निर्माण की प्रक्रिया प्रारंभ करता है। ■

Ikpk;r vf/kfu;e 1996 ¼vuqlfpr {ks=ksa ij foLrkj½ dk fo'ys"k.kkRed vkdyu

उपनिवेशवादी शासन के खिलाफ भारत के स्वाधीनता संघर्ष के दौरान, इसके सामाजिक आधार को विस्तृत करने के लिये, जोर दिया गया, रणनीतिक जरूरतों और मानवीय गरिमा को नैतिकता और संघर्ष के द्वारा बढ़ी हुई भ्रातृत्व सम्बंधों पर जोर दिया गया। यह उत्साह स्थानीय स्व–शासन की संस्थाओं (विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में) के पुनरूत्थान में दिखाई दिया। हालांकि यह उत्साह हमेशा एक जैसा नहीं रहा। पारस्परिक रूप से भारतीय गांव विभिन्न वर्गों में बंटे हुए थे, जिनमें उच्च वर्ग का जीवन के सभी क्षेत्रों में दबदबा था और दलितों को तो ऐसे देखा जाता था जैसे वे इंसान ही नहीं हो। लेकिन गाांधी जी ने इस असमानता के खिलाफ संघर्ष किया। दलितों ने भी डा॰ भीमराव आम्बेडकर के नेतृत्व में संघर्ष की शुरूआत की। धीरे–धीरे भारत के ग्रामीण अंचलों में मानवीयता की भावना में गुणात्मक परिवर्तन दिखाई देने लगा। इस सामाजिक उभरती हुई हलचल के सन्दर्भ में संविधान के नौवें भाग के राज्य के नीति निर्देशक तत्वों और अनुच्छेद 40 में कहा गया, ‘‘ राज्य ग्रामीण पंचायतों को गठित करने और उन्हें स्व–शासन की इकाइयों के रूप में कार्य करने के लिए जरुरी शक्तियां प्रदान कराने के लिये प्रयास करेंगे।

राज्य के नीति निर्देशक तत्वों की कोई कानूनी बाध्यता नहीं है। ये केवल राज्यों को बढ़ने के लिये दिशा निर्देश हैं और राज्यों में बहुत से महत्वपूर्ण काम भी किये गये हैं जैसे भूमि सुधार, अस्पृश्यता के खिलाफ कानून बनाकर और अभियान चलाकर, आदिवासियों और दलितों के प्रति अत्याचार के खिलाफ अभियान और कानून बनाना, विधान सभा, नौकरी और शैक्षणिक संस्थानों में आरक्षण द्वारा दलित वर्गों को सशक्त करना आदि। इस तरह से असली प्रजातंत्र के काम की जमीन तैयार की गई और 1992 में संविधान में 73 वां और 74 वां संशोधन किया गया, जिसने राज्यों और केन्द्र शासित क्षेत्रों के सभी स्तरों पर न केवल ग्रामीण बल्कि शहरी क्षेत्रों में भी पंचायती राज संस्थाओं को आवश्यक बना दिया। साथ ही यह भी कहा गया कि इस संशोधन को संसद द्वारा जिस रूप में स्वीकार किया गया था, पांचवीं अनुसूची के कुछ निश्चित क्षेत्रों में इसे उस रूप में लागू नहीं किया जाएगा। उसी समय संशोधन अधिनियम में पहले से ही यह कहा गया था कि ‘‘अनुसूचित जनजाति वाले क्षेत्रों में प्रावधान बढ़ा भी सकती है, ये वे क्षेत्र है जहां कानून में वर्णित संशोधन और अपवाद लागू होते हैं’’ (अनुच्छेद– 243, एम 4 (बी)

संविधान के इस प्रावधान का अनुकरण करते हुए बनाए गए ‘प्रोविजन ऑफ पंचायत (एक्सटेंशन ऑफ द शेड्यूल्ड एरियाज़) एक्ट 1996 (संख्या 40, 1996), को ही आमतौर पर पेसा कहा जाता है, यह संसद द्वारा 24 दिसम्बर 1996, को लागू किया गया। ‘पेसा के विभिन्न प्रावधानों को प्रस्तुतीकरण और विश्लेषण किया गया है।

कुछ आंदोलनकारियों का मानना है कि पेसा संविधान के संशोधन का अभिन्न अंग है, और इसका दर्जा संविधान के प्रावधानों जैसा है लेकिन एक दूसरा विचार यह भी है कि हालांकि पेसा संविधान का अभिन्न हिस्सा है, पेसा की विषयवस्तु उसकी सहायक है, इसका दर्जा संविधान के विभिन्न अनुच्छेदों की तरह नहीं है। पहला मत रखने वाले चाहते हैं कि राज्य पेसा के प्रावधानों को जस का तस अपनाएं, जबकि भिन्न मत वाले पेसा को जस का तस नहीं बल्कि, कुछ संशोधनों और विचारों के साथ विशेष प्रावधान चाहते हैं। इसी बहस के संदर्भ में यहां पेसा के विभिन्न प्रावधानों का विश्लेषण ात्मक आकलन प्रस्तुत किया जा रहा है, ताकि ज्यूरिस्ट पेसा के विशेष प्रावधानों का विश्लेषण प्रस्तुत किया जा रहा है, ताकि ज्यूरिस्ट पेसा के विशेष प्रावधानों का कानूनी स्टेटस तय कर सकें।

jkT; fo/kk;u dk {k=

1. पेसा अधिनियम का सेक्शन 4(ए) कहता है, ''पंचायतों पर राज्य–विधान पारम्परिक कानूनों, सामाजिक, धार्मिक गतिविधियों और प्राकृतिक संसाधनों के पारस्परिक प्रबंधन कार्यों के साथ प्रतिकूल नहीं होगा।''

lD'ku 4¼,½ dk fo'y"k.k

2. बहुत से अनुसूचित क्षेत्रों में भिन्न–भिन्न जनजातियां रहती है, एथनोग्राफिक अध्ययनों से यह पता चलता है कि भिन्न–भिन्न जनजाति में और यहां तक कि कभी–कभी तो इको–कल्चरल जोन की भिन्नता की वजह से एक ही जनजाति में भी पारम्परिक कानून बदल जाते हैं। हैरानी तो इस बात की है कि राज्य कानून द्वारा किस–किस जनजाति के पारम्परिक कानूनों को सुनिश्चित करेगा।

(ए) क्या एक दीर्घकालिक न्यायिक प्रक्रिया के अलावा कोई अन्य संवैधानिक प्राधिकार है जो कानूनी बाध्यता प्रदान करे कि राज्य विधानमंडल द्वारा लागू कोई भी विधान पारम्परिक कानूनों इत्यादि से विपरीत नहीं होगा। केवल संविधान की छठीं अनुसूची ही एक ऐसा प्राधिकार देती है, हालांकि उसमें भी न्यायिक और राजनीतिक प्रक्रिया मिली–जुली है लेकिन पांचवीं अनुसूची में तो इस प्रकार की कोई व्यवस्था ही नहीं है।

(बी) संसाधनों के पारम्परिक प्रबंधन के तरीकों का सन्दर्भ जटिल मुद्दों को सुलझा देता है। पहला तो निश्चित रूप से पारम्परिक प्रबंधन के तरीकों के प्रमाणीकरण की समस्या है। इस मुद्दे पर करीब 20 साल पहले एक लेखक ने एक दिलचस्प अध्ययन किया था। दूसरी समस्या है कि एक ही भौगोलिक दायरे में रहने वाले भिन्न–भिन्न लोगों द्वारा पारम्परिक संसाधनों के प्रबंधन के तरीकों की दावेदारी का सामंजस्य कैसे बैठाया जाए। तीसरी और सबसे महत्वपूर्ण समस्या है कि वर्तमान और पारम्परिक उपयोग को पारम्परिक संसाधन प्रबंधन के तरीकों के साथ तालमेल

करने की है। इस संदर्भ में सर्वव्यापकता के बारे में कहा जाए तो इस प्रक्रिया में प्रोसीजरल लॉ और सब्सटेंटिव लॉ को संतुलित करना/मिलाना शामिल है।

ऐसे विवादस्पद मुद्दों पर निर्णय करते हुए न्यायिक अधिकारी ट्रावॉक्स प्रीपेरेटोइर का सहारा लेते हैं, और जहां तक पेसा का संबंध है तो शायद भूरिया कमेटी की रिपोर्ट और रिपोर्ट से संबंधित दस्तावेज ऐसा ही रास्ता है, और यह भी समझ लेना चाहिये कि बिना किसी चर्चा के स्वीकार किया गया विधेयक भी अपने आप में धोखा ही है। पेसा अधिनियम और राज्य अधिनियम (पेसा अधिनियम को सुनिश्चित करने/न करने वाले) पर विचार करने के लिए इन दस्तावेजों की जांच करना जरुरी होगा।

Xkko dh ifjHkk"kk& islk [k.n ds gh foijhr gS

3. सेक्शन 4(बी) में गांव की परिभाषा देते हुए कहा गया हैः ''गांव में आमतौर पर एक कुनबा या समूह या किसानों का ऐसा समूह होना चाहिए, जो एक समुदाय का निर्माण करे और अपने कार्यों का प्रबंधन परम्परा और रीति–रिवाजों के अनुसार करे।''

lsD'ku 4¼ch½ dk fo'ys"k.k

(ए) सेक्शन 4(ए) की तरह से यहां भी परम्पराओं और रीतिरिवाजों के प्रमाणीकरण की समस्या है।

(बी) इस उपसेक्शन में, 'कम्युनिटी' शब्द को भी बहुत ही लधु क्षेत्रीय अर्थ में प्रयोग किया गया है, लेकिन सेक्शन 4(जी) में कन्युनिटी शब्द को एथनिक अर्थ में किया गया है।

इस तरह अधिनियम में एक ही शब्द के भिन्न अर्थ देकर भ्रमित किया गया है।

(सी) जबकि सेक्शन 4(ए) में कहा गया है कि राज्य विधान पारम्परिक कानूनों के अनुकूल होगा, पेसा अधिनियम में भी इसी तरह की भावात्मक उम्मीद की जाती है। भारत के बहुत से हिस्सों में आदिवासी एक मुख्य एथनिक अस्तित्व रखते हैं और कुछ लोग विशेष एथनिक अस्तित्व वालों के अपने कार्य और सेवाएं हैं। मुख्य जाति वाले आदिवासियों के अपनी हितों की सुरक्षा के लिए राज्य स्तर और गैर–राज्यीय अभिकरणों से भी सम्बंध है।

(डी) उपलब्ध हुए एथ्नोग्राफिक तथ्यों से पता चलता है कि बहुत से आदिवासी गांव बहुत पुराने समय से अपने वर्तमान निवास पर बसे हुए हैं। इसका मतलब यह नहीं हैं कि इन सभी मामलों में 'स्टेट्स–को' लागू कर दिया जाना चाहिए। लेकिन कानूनी साधनों का सहारा लेकर, नये क्षेत्रीय अस्तित्व कायम करने के बजाय, वर्तमान गांवों को और गांवों की सीमाओं को मान्यता देना अच्छा है। इसके अलावा यह लोगों पर छोड़ दिया जाना चाहिये कि वे ऐसा प्रस्ताव पास करें, जिसमें वे अपने क्षेत्राधिकार

में बदलावों के कारण भी बताएं। ऐसा भी हो सकता है कि इस तरह के मामलों में पड़ोसी गांव से तनातनी हो जाए। ऐसे मामलों में राज्य नौकरशाही की जगह स्थानीय स्तर पर पंचायतों को पंचनिर्णय और समझौता कराने के अधिकार दिये जाएं।

xke lHkk % xke ufrd lenk;

4. सेक्शन 4(सी) में कहा गया है कि प्रत्येक गांव में एक ग्राम सभा होगी, जिसमें ऐसे व्यक्ति होंगे जिनका नाम पंचायत स्तर पर मतदाता सूची में हो।

lD'ku 4¼lh½ dk fo'ys"k.k

इस प्रावधान का विरोध किये बिना, यह सवाल किया जा सकता है कि क्या यह हमेशा आदिवासियों की परम्पराओं और रीति–रिवाजों के अनुकूल होगा? बहुत से आदिवासी गांवों में कुछ और गैर–आदिवासी परिवार भी पिछले कुछ समय से देखे गए है, जिनमें आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक शक्तियों की भिन्नता हैं हालांकि वे आदिवासी इलाकों के निवासी हैं, लेकिन उन्हें गांव के नैतिक समुदाय का सदस्य नहीं समझा जाता है और न ही वे उनके पारम्परिक चैनल का इस्तेमाल करके अपने काम कर सकते हैं। उनकी सदस्यता क्षेत्रीय जनसंख्या तो बढ़ा सकती है, लेकिन आदिवासी नैतिक समुदाय को खत्म कर देगी। हालांकि, यह एक बड़ी समस्या है, जो आदिवासियों के स्व–शासन की विभिन्न संस्थाओं को जानता है, दो सिद्धांतों को समझना ऐतिहासिक इकोलॉजी का कार्य, नैतिक समुदाय, शायद मानवीयता के परे नहीं लगेंगे। लेकिन इस समस्या पर बात करने से पहले, पेसा एक्ट की कुछ अस्पष्ट बातों को साफ कर लेना जरुरी होगा। दो सिद्धांतों को समझने की समस्या पर, प्रस्तुत पेपर में आगे चर्चा की जाएगी। इसी बीच यह भी यह पूछा जा सकता है कि अगर कुछ राज्य सरकारें पेसा एक्ट के सेक्शन 4(सी) इस आधार पर पीछे हटती है कि यह आदिवासी लोगों के रीति–रिवाजों और परम्पराएं से मेल नहीं खाता तो क्या पेसा एक्ट के लिये अभियान चलाने वाले लोग राज्य पर दबाव डाल सकते हैं कि यह संविधान का अभिन्न अंग है?

ijEijk dk lgtu esa xke lHkk dh lfØ;rk

5. सेक्शन 4(डी) में उद्घोषणा की तरह कहा गया है कि ''प्रत्येक ग्राम सभा सुरक्षा मानकों और लोगों की पारम्परिक रीति–रिवाजों, सांस्कृतिक पहचान, सामुदायिक संसाधनों और झगड़ों के निपटारे में पारम्परिक तरीकों की सुरक्षा करेगी। जो भी आदिवासी समुदायों को जानता है, एक प्रशासक की तरह नहीं, बल्कि व्यवस्थित शोधकर्त्ता की तरह, जानता है, शायद ही एकांत में रहने वाली कोई जनजाति एक से अधिक निवास स्थानों पर रहती है। अन्यथा एक ही निवास में पालन–पोषण धीरे–धीरे कम होकर खत्म हो जाएगा। विभिन्न स्तरों पर लागू की जाने वाली व्यवहारवादी शर्तें भी क्रमानुसार अलग–अलग हैं। एक शर्तें वे हैं जिन्हें पंक्ति स्तर में लागू किया जाता है, एक जो क्षेत्रीय सामुदायिक स्तर पर लागू की जाती

है और वे शर्तें जिनको पुनः परिभाषित किया जाए और एक बड़े सामुदायिक स्तर पर लागू की जाती है। यह एक सतत् प्रक्रिया हैः अगर हम अधिनियम की घोषणात्मक प्रकृति को देखें तो हैरानी होती है कि यह किसे सम्बोधित करके की गई है? यह राज्य–कर्मियों को सम्बोधित की गई है या गैर राज्यीय निहित हितों को, जो आदिवासी लोगों के क्षेत्राधिकार से संसाधनों को छीनना चाहते हैं? इस संदर्भ में वे प्रत्येक क्षेत्रीय इकाई को अलग–अलग डील करेंगे ताकि वे शोषण के खिलाफ एकजुट होकर खड़े हो सकें या फिर यह एकांत में रहने वाली जनजातियों को सम्बोधित किया गया है कि वे अपने सामूहिक संबंधों को समर्पित कर दें ताकि वे बाहरी अभिकरणों की दया पर निर्भर होकर रह जाएं। या फिर यह इंटर–हैबिटैट बड़ी जनजातीय संगठनों को संबोधित किया गया है जो एक मरणासन्न स्थिति के बाद फिर से संगठनात्मक ढांचे में पुनर्जीवन के चिन्ह दिखा रहे हैं।

;kstukc) fodkl esa xzke lHkk dh Hkwfedk%

6. सेक्शन 4(सी) के अनुसार– (1) ''ग्राम स्तर पर पंचायत द्वारा सामाजिक, आर्थिक विकास के लिये कार्यक्रम और योजनाएं क्रियान्वित करने से पहले ग्राम सभा द्वारा स्वीकृति दी जाएगी।

(2) ग्राम सभा का उत्तरदायित्व होगा कि वह गरीबी उन्मूलन और अन्य कार्यक्रमों के तहत लाभार्थी लोगों की पहचान करें।

lsD'ku 4¼lh½ dk fo'ys"k.k

(ए) ऐसा मान लिया गया है कि कार्यक्रमों और योजनाओं को स्वीकृत करने के अधिकार में ही, इन्हें अस्वीकृत करने का अधिकार भी शामिल है, हालांकि अधिनियम में इसे स्पष्ट रूप से बताया नहीं गया है। अब महत्वपूर्ण बात यह है कि अधिनियम में ग्राम सभा को सामाजिक और आर्थिक विकास के लिए खुद की नई योजना तैयार करने का अधिकार नहीं है, जो ग्राम सभा अपने और बड़े समाज के लिए उचित समझती है। इस संदर्भ में अधिनियम के ढांचे में एक स्थायित्व देखा जा सकता है। जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है कि अधिनियम में 'ग्राम' का मतलब है कि परम्पराओं और रीति–रिवाजों का स्व–प्रबंधक समुदाय। 'ग्राम सभा', ग्राम समाज यानी विलेज कम्युनिटी का एक कानूनी ढांचा है। तार्किक रूप से तो ग्राम सभा का मुख्य कार्य योजना, कार्यक्रम और रणनीति तैयार करना और लागू करना होना चाहिए, यह मुख्य रूप से संसाधनों के मोबिलाइजेशन और युटिलाइलेशन के लिए पारम्परिक व्यवस्था से जुड़े होने चाहिये, अन्य कार्य इसके सहायक होने चाहिये। पारम्परिक स्रोतों के प्रबंधन के मुख्य कार्य की अनुपस्थिति में सेक्शन 4(बी) अलंकारिक भाषा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

(बी) सेक्शन 4(ई) से आदिवासी स्वतंत्रता की जगह परतंत्रता नजर आती है।

इसमें गरीबी उन्मूलन व अन्य कार्यक्रमों में लाभार्थियों के चयन और पहचान के लिये ग्राम सभा के कर्त्तव्य बताए गए हैं, अधिकार नहीं। इसमें सहयोगी के बजाय संरक्षणवादी भाषा का इस्तेमाल किया गया है। इस संबंध में कोई भी सवाल कर सकता है कि जिस केन्द्रीय अधिनियम के तहत राज्य विधान सम्बंधित कानून लागू करते हैं, क्या वे परम्परागत कानूनों, सामाजिक और धार्मिक क्रियाकलापों और पारम्परिक प्रबंधन के अनुकूल हैं।

(सी) यहाँ यह बताना भी जरुरी है कि अधिनियम के भाषाई ढांचे में आंतरिक अस्थिरता ही एकमात्र खामी नहीं हैं, बल्कि इसका उद्देश्य कहीं अधिक है। उपलब्ध जानकारी से पता चलता है कि देश के आदिवासी बहुल क्षेत्रों में और उनके पूर्वजों के क्षेत्र में उत्पादक संसाधनों की भरभार है, इसके बावजूद भी, गरीबी रेखा से नीचे जीने वाले आदिवासी लोगों का औसत राष्ट्रीय औसत का लगभग दोगुना है, यह सिर्फ योजना में गलत नीति निर्णयों के कारण हैं। गलत नीति निर्णय योजना में टेक्नोक्रेटिक अप्रोच जैसे लगते हैं, जिसमें सामाजिक प्रक्रिया और लोगों की संसाधन व्यवस्था की सही जानकारी ही नहीं होती। योजना आयोग ने 'विजन 2020' नाम से एक कमेटी गठित की। कमेटी ने 2003 में अपनी रिपोर्ट दी। जैसे ही यह प्रकाशित हुई, विभिन्न एजेंसियों, जन चर्चाओं और नेशनल इंस्टीट्यूट फॉर रूरल डेवलमेंट द्वारा समर्पित फूड सिक्योरिटी ने विश्लेषणात्मक अध्ययन शुरू कर दिये, जिसमें यह बात सामने आई कि आदिवासियों के संदर्भ में कुछ खास बातें बिल्कुल ही गलत हैं। इसके अलावा फॉरेस्ट्री से संबंधित भारत सरकार द्वारा प्रकाशित किये गए आंकड़ों (2000 ई सन् और 2004 ई॰ सन् में) से यह पता चलता है कि वन विभाग और आदिवासी समुदायों द्वारा वन प्रबंधन से संबंधित तथ्य उचित नहीं हैं। जिनमें वे तथ्य भी शामिल हैं जो हवाई सर्वेक्षण और प्रबंधन ढांचों के जमीनी स्तर के आकलन से उपलब्ध हुए हैं।

(डी) इन संदर्भों की रोशनी में, लाभार्थियों का चयन करने और पूर्व नियोजित कार्यक्रमों को क्रियान्वित और मॉनिटर करने की ग्राम सभा की भूमिका अपने आप में जनजातीय स्व–शासन का मखौल जैसा है लेकिन ग्राम सभा अकेले ही राष्ट्रीय योजना नीति पर प्रहार नहीं कर सकती। विभिन्न स्तरों पर आदिवासी संगठनों का आपसी जुड़ाव और विभिन्न जनजातियों के संगठनों के बीच नेटवर्किंग ही नही बल्कि समान सामाजिक–आर्थिक श्रेणी के लोगों के संगठित फोरम को शामिल करना भी जरुरी होगा। इस परिप्रेक्ष्य में अधिनियम के अन्य प्रावधानों का भी परीक्षण और विश्लेषण किया जाएगा।

xke lHkk dh <kpkxr lhek,a

7. सेक्शन 4(एफ) के अनुसार, ग्राम स्तर पर प्रत्येक पंचायत को सेक्शन 4(ई) में दिये गए प्रोजेक्ट, योजना और कार्यक्रम के लिये फंड का प्रयोग करने के लिये ग्रामसभा से प्रमाण पत्र प्राप्त करना जरूरी है।

lD'ku 4 ¼,Q½ dk fo'yš.k

(ए) सेक्शन 4(ई) की सीमाओं के बावजूद भी सेक्शन 4(एफ) के प्रावधान कुछ अर्थों में उपयोगी है, लेकिन इसकी उपयोगिता, अधिनियम की खामियों की वजह से पूरी तरह जाहिर नहीं हो पाती। अधिनियम में यह साफ नहीं किया गया है कि ग्राम सभा की मीटिंगों का संचालन और अध्यक्षता कौन करेगा और मीटिंग के रिकोर्ड कौन संभालेगा आदि। फील्ड जांच से पता चलता है कि कुछ राज्यों में सरपंच ही ग्राम सभाओं की कार्यवाही की अध्यक्षता करता है और ग्राम पंचायत का सचिव मीटिंग की कार्यवाही तैयार करता है, और कुछ अन्य राज्यों में जिस चुनाव क्षेत्र में ग्रामसभा मौजूद है वहां की ग्राम पंचायत के सदस्य ही मीटिंगों का संचालन और अध्यक्षता करते हैं। सभी मामलों में मीटिंग की कार्यवाही की तैयारी ग्राम पंचायत के सचिव द्वारा की जाती है। यहां यह भी ध्यान देने लायक है कि जहां भूरिया कमेटी आदिवासी लोगों की परम्परागत पंचायतों की भूमिका के प्रति कुछ उदासीन सी है, तो भूरिया कमेटी की रिपोर्ट पर आधारित अधिनियम से ऐसी उम्मीद नहीं की जाती कि अधिनियम के प्रावधान पंचायती राज संस्थाओं के पारम्परिक और संवैधानिक स्वरूप में किसी प्रकार की कृत्रिमता की जाएगी। अधिनियम में इस बात से कम से कम यह संबंध जोड़ा जा सकता है कि पारम्परिक पंचायत का प्रमुख ही ग्राम सभा का संचालक और अध्यक्ष होगा और गांव का हांका लगाने वाला व्यक्ति सभी गांव वालों को मीटिंग के समय और स्थान की जानकारी देगा। यह भी हो सकता है कि गांव के प्राथमिक विद्यालय का मुख्य अध्यापक या अध्यापक को मीटिंगों के रिकोर्ड लिखने की जिम्मेदारी दे दी जाए।

(बी) हालांकि अधिनियम के अनुसार पंचायतों को फंड के इस्तेमाल के लिए ग्राम सभा से प्रमाण–पत्र प्राप्त करना जरुरी है लेकिन यह गांव के क्षेत्राधिकारी के तहत संगठन के कार्य के बारे में कुछ भी नहीं कहता। उदाहरण के तौर पर, कुछ राज्यों में संयुक्त वन विभाग समितियां पंचायतों की जगह काम कर रही हैं उन्हें ग्राम सभा की योजनाओं, मॉनिटरिंग और स्कैनिंग कार्यों को स्वीकार करना पड़ेगा और इस संदर्भ में केन्द्रीय अधिनियम को भी स्पष्ट होना चाहिये।

ipk;rh jkt lLFkkvk e lhVk dk vkj{k.k

सेक्शन 4(जी) के अनुसार प्रत्येक पंचायत के स्तर पर अनुसूचित क्षेत्रों में सीटों का आरक्षण उस पंचायत में समुदायों की जनसंख्या के अनुपात में होगा, जिनको संविधान के पैरा 9 के तहत आरक्षण मिलना चाहिये। यह भी जरुरी है कि अनुसूचित जनजातियों के लिये आरक्षण कुल सीटों की संख्या के 1/2 से कम नहीं होगा।

यह भी कहा गया है कि सभी स्तरों पर पंचायत के चेयरपर्सन की सीट अनुसूचित जनजाति के लिये आरक्षित होगी।

lD'ku 4¼th½ dk fo'y"k.k

(ए) जैसा कि पहले ही कहा गया है कि सेक्शन 4(बी) में 'कम्युनिटी' शब्द को लघु क्षेत्र के अर्थ में प्रयोग किया गया है जबकि सेक्शन 4(जी) में शब्द को जातिगत अर्थ में प्रयोग किया गया है। इसमें यह भी जोड़ा जाना चाहिये कि सेक्शन 4(ए) में कम्युनिटी शब्द को अस्पष्ट तरीके से प्रयोग किया गया है। इसे माइक्रो–टेरिटोरियल प्युरी–एथनिक कम्युनिटी भी कहा जा सकता था। फिर इसे युनि–एथनिक कम्युनिटी? जिसके अपने संघर्ष हैं, कहा जा सकता है।

(बी) अनुसूचित क्षेत्रों में बहुत से ऐसे गांव हैं, जिसमें कोई आदिवासी आबादी नहीं रहती या फिर बहुत कम रहती है। बहुत से ऐसे तालुका और जिले हैं जिनमें बहुत से छोटे से क्षेत्रों को ही अनुसूचित इलाकों के रूप में सूचीबद्ध किया गया है। ऐसे इलाकों में यह सामान्य रूप से देखा गया है कि अनुसूचित जनजातियां कुल जनसंख्या के 50 फीसदी से भी कम हैं। ऐसा लगता है कि जब सेक्शन 4(जी) का स्वरूप तैयार किया गया होगा तब उस क्षेत्र की डेमोग्राफी को मात्रात्मक रूप में ध्यान नहीं रखा गया होगा। इस स्थिति में सेक्शन 4(जी) के क्रियान्वयन में कई परेशानियां खड़ी हो जाएंगी।

(सी) कुछ लोग यह तर्क करते हैं कि गांव, तालुका और जिले की सीमाओं का रेखांकन खत्म करके समस्या का समाधान किया जा सकता है। इस तरह के यांत्रिक दृष्टिकोण से जटिल समस्या का समाधान करने का अर्थ है, गांवों, तालुकाओं और जिले में प्राचीन समय से बसे हुए लोगों को नजरअंदाज कर देना। उनमें उनका इतिहास, उनकी यादें, पूर्वजों की कहानी कहने वाले बसे हुए हैं। टेक्नो–ब्यूरोक्रेट्स नक्शों से उनके निशानों को बिगाड़ सकते हैं, लेकिन बहुत से लोग इसे प्रशासनिक क्रूरता ही मानेंगे।

(डी) ऐसे ही और भी बहुत से विचार है। केवल एथनिक होमोजेनिटी के आधार पर नए प्रशासनिक अस्तित्वों की स्थापना करना, वह भी विशेष रूप से तालुका और जिला स्तर पर, एथनो रीजनलिज्म, रिहाई रेशनलाइजेशन या फिर विभिन्न स्तरों पर अन्तः निर्भर कार्यकारी विभेद ही प्रोत्साहित करेंगे। धार्मिकतावाद और बौद्धिकतावाद में एक मौलिक अंतर है। धार्मिकतावाद चयनित अर्थ में सीमित विश्वासों पर केन्द्रित एक विशेष वस्तुनिष्ठ व्यवहार है जबकि दूसरी ओर बौद्धिकतावाद विशेषीकरण के विभिन्न स्तरों की सेवाओं और अर्थव्यवस्था की कार्यकारी अंतः निर्भरता को बनाने की प्रक्रिया है। यह तथ्य दिया गया है कि आदिवासी बहुल इलाकों में सेवाओं और मार्केटिंग के लिये ढांचा अपर्याप्त है और शिक्षा और व्यवसायिक शिक्षा के मामले में भी आदिवासी जनसंख्या का प्रतिशत कम है, आदिवासी बहुल वाले तालुका और जिलों में प्राकृतिक संसाधन तो बहुतायत में हो सकते हैं, लेकिन इन संसाधनों का अंधाधुंध दोहन और बाजार श्रम दबाव के लिये उसकी बड़े पैमाने पर प्रोसेसिंग या फिर अपने प्रशासनिक क्षेत्राधिकार से बाहर उसे बिना प्रोसेसिंग के ही निर्यात करने

से सामाजिक तनाव को बढ़ावा मिलेगा और अर्थव्यवस्था कमजोर होगी। यह तो नहीं पता कि इतने बड़े पैमाने पर प्रशासनिक इकाइयों के पुनर्गठन की बड़े पैमाने पर वकालत करने वालों ने इस समस्या पर सोचा भी था या नहीं।

(ई) एक दूसरी बड़ी समस्या है, जिस पर विचार किया जाना चाहिए। एक साथ रहने वाले आदिवासी बहुल क्षेत्रों से बड़ी संख्या में तालुका और जिले बना देने से बड़ी मात्रा में सरकारी नियुक्तियां करनी होंगी, यह भी खास तौर पर उच्च स्तर पर। इससे शायद टेक्नो–ब्यूरोक्रेट्स तो खुश होंगे लेकिन स्व–शासन के बजाय शासन की लागतें बढ़ जाएगी। और शायद आदिवासी लोग बहुत ज्यादा टेक्नो–ब्यूरोक्रेटिक दबाव में आ जायेंगे।

ifrfuf/k foghu tutkfr;k dk ukekdu

सेक्शन 4(एच) में कहा गया है कि राज्य सरकार ऐसी अनुसूचित जनजाति के व्यक्ति को नामांकित कर सकती है जिसका पंचायत के माध्यमिक या जिला स्तर पर कोई भी प्रतिनिधित्व नहीं है। यह भी कहा गया है कि नामांकन पंचायत में चुन जाने वाले कुल सदस्यों के 1/10 से अधिक नहीं होगा।

lD'ku 4¼,p½ dk fo'y"k.kkRed vkdyu

गैर प्रतिनिधित्व वाले सदस्यों के नामांकन से राज्य स्तर पर राजनीतिक नौकरशाही गठजोड़ के कारण राजनीतिक आधिपत्य से मुक्ति मिल जाएगी। वह फूट डालो और शासन करो, जैसी ही लगती है। इसके बजाय संबंधित आदिवासी समुदायों से चुने गए आदिवासी सदस्यों के सहयोग की व्यवस्था अपनाई जानी चाहिये। तभी आदिवासी लोगों का सशक्तीकरण होगा।

Hkfe vf/kxg.k l igy xke lHkk l ijke'k

10. सेक्शन 4(आई) में कहा गया है कि अनुसूचित इलाकों में विकासवादी कार्यों के लिये भूमि अधिग्रहण करने के लिये पंचायतों के उचित स्तरों पर ग्राम सभा से परामर्श लिया जाएगा।, ऐसा प्रोजेक्ट से प्रभावित लोगों के पुन प्रबंधन और पुनर्वास से पहले ही किया जाएगा, अनुसूचित क्षेत्रों में चलने वाले प्रोजेक्ट की असली योजना और क्रियान्वयन राज्य स्तर पर किया जाएगा।

lD'ku 4¼vkb½ dk fo'y"k.k

यह आदिवासियों के स्व–शासन का बहुत ही कमजोर ढांचा है। इसमें ग्राम सभा या पंचायतों को भूमि अधिग्रहण करने से पहले परामर्श करना होगा, लेकिन इसमें यह नहीं कहा गया है कि इसमें ग्राम सभा या पंचायतों की उपयुक्त स्तरों पर कोई स्वीकृति भी आवश्यक है। जले पर और नमक छिड़कते हुए, यह घोषणा की गई है कि प्रोजेक्ट का निर्माण और कार्यान्वयन वास्तविक रूप में राज्य स्तर पर किया जाएगा। लेकिन इसमें

यह स्पष्ट नहीं किया गया कि राज्य स्तर पर किस तंत्र से किनके बीच इसका समन्वय किया जाएगा। इसमें इस बात का भी कोई संकेत नहीं मिलता कि क्या योजना और समन्वय में पंचायती निकायों को शामिल किया जाएगा या नहीं? लंबे समय से इस बात की ताना–कशी चल रही है कि कैसे दलितों के गांवों को वैधानिक या अवैधानिक घोषित किया जाए। यह भी बड़ी अजीब बात है कि जो पेसा अधिनियम को सभी राज्यों द्वारा अपने क्षेत्राधिकार में आने वाले अनुसूचित क्षेत्रों सहित, वर्तमान यथास्थिति में ही स्वीकार किये जाने के लिये अभियान चला रहे हैं, उन्होंने भी इस पर कुछ नहीं कहा।

Tky fudk;k d fy; ;ktuk vkj ic/ku

11. सेक्शन 4(जे) में कहा गया है कि अनुसूचित क्षेत्रों में लघु जल निकायों के लिए योजना और प्रबंधन पंचायतों के उचित स्तर पर सौंपा जाएगा।

lD'ku 4¼t½ dk fo'y"k.k

(ए) कोई भी यह जानना चाहेगा कि पंचायतों को अनुसूचित क्षेत्रों में लघु जल निकायों की योजना और प्रबंधन किसके द्वारा सौंपा जाएगा? पहले यह भी देखा गया है कि अधिनियम के सेक्शन 4(बी) में कहा गया है कि किसी समुदाय का परम्पराओं के अनुसार प्रबंधन का आधार गांव ही है। सेक्शन 4(ए) के अनुसार राज्य विधान सामुदायिक संसाधनों की पारम्परिक प्रबंधन क्रियाओं के अनुकूल ही होना चाहिए। आश्चर्य तो यह है कि उपरोक्त आदेश राज्य विधान की भलाई के लिये हैं या केन्द्रीय विधान के लिये भी। कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति कहेगा कि 4(ए) में और 4(बी) में कहा गया है कि इसकी उपयोगिता कुछ भी हो, केन्द्र विधान के लिये भी अच्छा है।

(बी) कोई भी पूछंना चाहेगाः जो लोग पेसा अधिनियम 1996 के लिए उत्तरदायी है वे कैसे जानेंगे कि सेक्शन 4(जे) के प्रावधान 'सामुदायिक संसाधनों के पारस्परिक प्रबंधन क्रियाओं' के अनुकूल हैं या नहीं? एंथोग्राफर जानते हैं कि विभिन्न जनजातियों के बीच जल निकायों का प्रबंधन, ग्रामीण नैतिक अर्थव्यवस्था का एक रूप है और इस मामले में निर्णय–प्रक्रिया में पूरा समुदाय शामिल होता है। लेकिन पेसा अधिनियम इस प्रक्रिया को बनाता है।

(सी) लघु जल निकायों के प्रबंधन को सौंपना जैसे तथ्यों के संदर्भ में दो वैकल्पिक संभावनाऐं हो सकती है– (क) जल निकायों के प्रबंधन के लिये ग्रामीण समुदायों से अधिकार राज्य लेकर पंचायत को देता है,

(ख) ग्राम समुदाय जल संसाधनों के प्रबंधन के पारंपरिक अधिकार को पंचायत को सौंपता है, जिससे कानूनी प्रक्रिया द्वारा राज्य का निर्माण होता है।

बेशक, यह आदिवासी स्व–शासन का प्रारूप नहीं है बल्कि यह आदिवासी लोगों के नैतिक अर्थव्यवस्था का सीमांकन है।

(नैतिक अर्थव्यवस्था का मतलब निश्चित नियमों का पालन न करना है, बल्कि यह सांस्कृतिक रूप से नैतिक सिद्धांतों के साथ तालमेल करके संसाधन के वितरण और उपयोग के निरंतर प्रबंधन की प्रक्रिया है।)

ikLifDVx vkj ekbfux yht d fy; vuokn

12. सेक्शन 4(के) में कहा गया है कि अनुसूचित इलाकों में लघु खनिजों के लिये माइनिंग लीज या प्रोस्पेक्टिंग लाइसेंस देने से पहले पंचायतों के उचित स्तर पर या ग्राम सभा की सिफारिशें आवश्यक है।

lD'ku 4¼d½ dk fo'y"k.kkRed vkdyu

(ए) इस सेक्शन की भाषा स्पष्ट नहीं है। इसका अर्थ हो सकता है कि (क) प्रोस्पेक्टिंग अंडरटेकिंग के लिये सिफारिश या (ख) लीजधारक के प्रोस्पेक्टिंग लाइसेंस के चयन में मामले में सिफारिश।

(बी) कोई भी यह पूछना चाहेगा कि क्या खनिजों के लिये प्रोस्पेक्टिंग रोक दी जाएगी अगर ग्राम सभा या पंचायतें अपने क्षेत्राधिकार के अंदर लघु खनिजों के लिए प्रोस्पेक्टिंग की स्वीकृति न करें।

(सी) इस सेक्शन में 'रीकमेंडेशन' शब्द भी ठीक नहीं है। यहां सही शब्द 'कंसेन्ट' होना चाहिए।

Ukhykeh }kjk y?k [kfutk dk nkgu

13. सेक्शन 4(एल) के अनुसार, ''नीलामी द्वारा खनिजों के दोहन के लिये रियायतें देने के लिए ग्राम सभा या पंचायतों के उचित स्तर पर पूर्व अनुशंसा जरुरी है।''

lD'ku 4¼,y½ dk fo'y"k.k

(ए) सेक्शन 4(के) की तरह ही यह सेक्शन भी अस्पष्ट है। यह ग्राम पंचायत की अनुशंसा जरुरी बताता है। यह भी देखा जाना चाहिये कि एक अलग प्रक्रिया अपनाने के संदर्भ में ग्राम पंचायत की अनुशंसाएं कनून के तहत जरुरी होंगी या नहीं।

Ikpk;rk dk Lo&'kklu dh lLFkkvk d :Ik e l'kDr djuk

14. सेक्शन 4(एम) में कहा गया है कि ''पंचायतों को अनुसूचित इलाकों में स्व–शासन की संस्थाओं के रूप में काम करने के योग्य बनाने के लिये शक्तियां या प्राधिकार देते समय, राज्य विधान यह सुनिश्चित करेगा कि पंचायत के उचित स्तरों पर या ग्राम सभाओं को यह दिया गया है– (क) किसी भी नशीले पदार्थ के उपभोग और बिक्री को निषेध या नियमित या प्रतिबंधित करने की शक्ति, (ख) लघु वन्य उत्पादों का स्वामित्व, (ग) अनुसूचित इलाकों में जमीन के पृथक्करण को रोकना और किसी

भी गैर कानूनी तरीके से जमीन के पृथक्करण को रोकना, (घ) गांव बाजार को प्रबंधन करने की शक्ति, (ड़) अनुसूचित जनजातियों के कर्ज लेने को नियंत्रित करने की शक्ति, (च) सभी सामाजिक क्षेत्रों में संस्थाओं पर नियंत्रण करने की शक्ति। (छ) अनुसूचित जनजातियों के लिये स्थानीय योजनाओं और संसाधनों को नियंत्रित करने की शक्ति।

lD'ku 4¼,e½ dk fo'y"k.k

(ए) इस सेक्शन में बताई गई शक्तियाँ दो श्रेणी की हैः (क) कार्यकारी शक्तियां जो संबंधित राज्य सरकार द्वारा हस्तांतरित की जा सकती है, (ख) कानून–निर्माता शक्तियां, जिन्हें संविधान के बुनियादी ढांचे को जस का तस रखते हुए विभिन्न लोगों द्वारा लागू की जा सकती हैं, जैसा कि केशवानंद भारती विवाद में कहा गया है।

(बी) लघु वन्य उत्पादों का स्वामित्व, ग्राम बाजारों का प्रबंधन करने की शक्ति, संस्थानों और कर्मियों को नियंत्रित करने की शक्ति, स्थानीय योजनाओं और संसाधनों को नियंत्रित करने की शक्तियां आदि सभी कार्यकारी शक्तियां, जिन्हें राज्य सरकारें अपने क्षेत्राधिकार के तहत हस्तांतरित कर सकती हैं। लेकिन पंचायतों को ऐसे प्राधिकार हस्तांतरित करके, राज्य सरकार पंचायतों को राज्य का अधीनस्थ अंग बनाएगी। यह जनजातीय स्व–शासन की ओर से कोसों दूर है।

(सी) किसी भी नशीले पदार्थ की बिक्री या उपभोग को रोकना, प्रतिबंधित करना या नियंत्रित करने की शक्ति, अनुसूचित क्षेत्रों में भूमि के पृथक्करण को रोकना और गैर कानूनी भूमि पृथक्करण को रोकने के लिये उचित प्रतिक्रिया करना, कर्ज लेने को नियंत्रित करने की शक्ति और सेल्फ–रेगुलेटरी के लिये कानून–निर्माण शक्ति, न्यायिक शक्ति और कानून लागू करने वाली मशीनरी पंचायतों में निहित हों। जस्टिस महाजन द्वारा 1950 में दिये गये प्रसिद्ध दिल्ली निर्णय के मद्देनजर, यह भी हो सकता है कि राज्य विधान पंचायती निकायों को कानून–निर्माण शक्तियां साथ ही न्यायिक शक्तियां और पुलिस शक्तियां भी एक हद तक राज्य–कानून द्वारा सीमित की जा सकती है। लेकिन इसके लिए थोड़ा–सा राजनीतिक परिवेश को भी बदलना होगा।

सेक्शन 4(एम), 4(के) (एल) में दी गई शक्तियों के लिये बड़े पैमाने पर राजनीतिक चेतना की जरूरत है। लेकिन इसमें संदेह है कि प्रभुत्वशाली राजनीतिक वर्ग इस तरह की राजनीतिक जागरूकता के लिये तैयार होंगे या नहीं।

fofHkUu Lrjk ij ipk;rh jkt lLFkkvk d chp lEc/k dh çÑfr

15. सेक्शन 4(एन) के अनुसार, ''राज्य विधान जो पंचायतों को ऐसी शक्तियां और

प्राधिकार देते हैं जो स्व–शासन के संस्थाओं के रूप में कार्य करने के लिए जरुरी हैं, वे इस बात को सुनिश्चित करेंगे कि उच्च स्तर पर पंचायतें अपने नीचे की पंचायतों या ग्राम सभा की शक्तियों या प्राधिकार को स्वीकार नहीं करेंगे।

lsD'ku 4¼,u½ dk fo'ys"k.k

कोइ भी यह जानना चाहेगा कि पेसा अधिनियम के इस सेक्शन को लागू करने में कहा जा सकता है कि यह पारस्परिक कानून, सामाजिक और धार्मिक क्रियाओं और पारस्परिक प्रबंधन क्रियाओं और कम से कम देश के बड़े जनजातीय समुदायों के अनुकूल हैं या नहीं? क्या उन्हें संथालों की परगना व्यवस्था और उनके बीच लो बीर की भूमिका का पता है? या फिर क्या उन्हें ओरेओन की परहा व्यवस्था, मुंडाओं की पीर व्यवस्था, हो की झांकी मुंडा व्यवस्था, कभी–कभी राजस्व जिलों के क्षेत्राधिकार से परे नहीं जाने वाली भीलों की अंतः ग्राम संस्थाएं, मुख्य गांव और अबुझमारिया के सहायक गांव, पारम्परिक गौंड राजनीतिक ढांचा आदि से भी शायद परिचित नहीं होंगे। पारम्परिक व्यवस्था में भारत की लगभग सभी जनजातियों में और भारत के बाहर भी, उनके संबंधों और क्षेत्रीय आधार पर आधारित संस्थाएं अच्छी तरह से परिभाषित हैं। प्राथमिक स्तर के कार्य सबसे निम्न संस्थान द्वारा किये जाते हैं। इस सेक्शन में जमीनी परिदृश्य और समझ की कमी है। विभिन्न स्तरों पर पंचायती राज ढांचों के बीच संबंधों की पद्धति को निश्चित करने के लिए आदिवासियों को खुद ही मामला उठाना चाहिये।

ftyk Lrj ij NBh vuqlwph ds ekMy dk viukuk

16. सेक्शन 4(ओ) में कहा गया है कि राज्य कानून जिला स्तर पर पंचायतों में प्रशासनिक प्रबंध करते हुए संविधान की छठी अनुसूची की पद्धति का पालन करेगा।

lsD'ku 4¼vks½ dk fo'ys"k.k

हैरानी है कि क्या पेसा अधिनियम में इस सेक्शन को शामिल करने वाले उत्तरदायी लोगों को पता है कि छठी अनुसूची में आने वाले अनुसूचित इलाकों में एक समान प्रशासनिक प्रबंध नहीं हैं। अगर वे किसी भी विशेष पद्धति को जानते हैं तो इसे पेसा अधिनियम में भी कहना चाहिये।

lØe.k dh jktuhfr

17. अधिनियम का सेक्शन 5 एक संक्रमण प्रबंध है लेकिन कुछ राज्यों में संक्रमण लंबा चला। यह केवल तकनीकी कानूनी कभी नहीं समझना चाहिये, बल्कि इसे एक राजनीतिक समस्या के रूप में देखा जाना चाहिये और उसके प्रभावों को भी राजनीतिक परिदृश्य से विश्लेषित किया जाना चाहिये, केवल कानूनी परिदृश्य से ही नहीं।

क्षेत्रीय नागरिकता और नैतिक समुदायों का समझना

पहले क्षेत्रीय नागरिकता और ऐतिहासिक इकोलॉजी में जुड़ा हुआ नैतिक समुदायों के सिद्धांतों को समझने के लिये मेंशन भी बनाए गए थे। इसे करने के लिये ग्राम सभा की कार्यकारी विभिन्नता की व्यवस्था को दो श्रेणियों में लागू किया गया है, (क) सिविल और क्षेत्रीय (ख) एथनो–सोशल। आम सिविक हित के मामलों के लिये ग्राम सभा की सदस्यता सभी गांव वालों के लिए खुशी होनी चाहिये। पारम्परिक और एथनो–सोशल मामलों के लिए ग्राम सभा एक कोर यूनिट नियुक्त करेगी जिसकी सदस्यता गांव के आदिवासी लोगों तक ही सीमित रहेगी।

इसके अलावा अन्य समाधान भी होने चाहिये। लेकिन केवल जैसे कि पेसा अधिनियम का बुनियादी ढांचा ही नहीं, बल्कि 78 वें और 74 वें संशोधन और भूरिया कमेटी की रिपोर्ट में भी थोड़ा बहुत आदेश–कानून का ऑस्टीनटन परिदृश्य है। आदिवासी स्व–शासन न केवल कुछ प्रक्रियात्मक नियमों से सुनिश्चितता का मुद्दा है बल्कि सक्रिय लगाव भी है। सक्रिय रूझान के अर्थ में, अधिनियम का फोकस कुछ संकीर्ण है। लेकिन इस पेपर में इस पर विस्तार से चर्चा नहीं की जाएगी। ■

i`lk dh lPpkbZ mtkxj djrh
Hkqous'oj ?kks"k.kk

Hkqous'oj में 18–20 मई 2006 में, 'पेसा डीमिस्टिफाइंग' विषय पर हुई कार्यशाला में शिरकत करने वाले प्रतिभागी 'इस्टीट्यूट ऑफ सोशियो इकॉनोमिक डेवलपमेंट' का आभार व्यक्त करते हैं, जिसे पंचायत (एक्सटेंशन टू शेड्यूल्ड एरियाज़) एक्ट 1996 के प्रावधानों पर विश्लेषण करने के लिये आयोजित की थी।

प्रतिभागी प्रसिद्ध एंथ्रोपोलॉजिस्ट और नीति विश्लेषक प्रो॰ बी॰के॰ रॉय बर्मन और उत्कल विश्वविद्यालय के पूर्व वी॰सी॰ प्रसिद्ध एंथ्रोपोलॉजिस्ट प्रो॰ एल॰ के॰ महापात्रा का भी धन्यवाद अदा करते हैं साथ ही भुवनेश्वर और संबलपुर विश्वविद्यालयों का भी धन्यवाद अदा करते हैं। इन सभी ने कार्यशाला के लिए सधन समन्वयक की भूमिका अदा की। कार्यशाला में उड़ीसा के मंत्री श्री चैतन्य प्रसाद माझी को भी धन्यवाद दिया गया। जिन्होंने सक्रिय रूप से कार्यशाला में भाग लिया और पांचवीं अनुसूची में आने वाले उड़ीसा के विभिन्न प्रमुख व्यक्तियों और आदिवासी नेताओं के विचारों को सुना। कार्यशाला में मध्य प्रदेश के पूर्व मुख्यमंत्री डॉ॰ गिरिधर गोमांग का भी आभार व्यक्त किया गया।

कार्यशाला के दौरान प्रतिभागियों के जमीनी स्तर के अनुभवों को सुनने और विभिन्न रिसोर्स पर्सन से विचार–विमर्श करने के बाद यह निष्कर्ष निकाला गया कि पेसा में बहुत सी खामियां है–

(a) पेसा के अनुसार आदिवासियों की परम्पराओं और रीति–रिवाजों के लिये राज्य–विधान होना चाहिए लेकिन दूसरी ओर कई इलाकों में विभिन्न आदिवासी समुदाय के लोग रहते हैं, इसलिए यह साफ नहीं हैं कि राज्य का कानून किस समुदाय और जनजाति के रीति–रिवाजों को मान्यता प्रदान करेगा।

(b) चूंकि इस तरह की कानूनी बाध्यता की घोषणा करने वाली कोई भी संवैधानिक ऑथोरिटी नहीं है कि अमुक तरह का राज्य द्वारा लागू किया गया कानून आदिवासियों के रीति–रिवाजों से मेल खाता है या नहीं, इसलिये संबन्धित जनजातियों के बारे में पेसा के प्रावधान, संवेदनाओं के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

(c) (i) पेसा का सेक्शन 4(बी) कहता है कि एक गांव में कुनबा या लोगों का एक ऐसा समूह हो जिसका एक समुदाय हो और जो अपनी परम्पराओं और रीति–रिवाजों का प्रबंधन करता हो, लेकिन यहां यह बात साफ नहीं की गई है कि इन परम्पराओं और रीति–रिवाजों का औचित्य कौन सिद्ध करेगा और कैसे?

(ii) इसके अतिरिक्त सेक्शन 4(बी) में 'समुदाय' शब्द को बहुत ही माइक्रो–टैरिटोरियल

संदर्भ में प्रयोग किया गया है, लेकिन सेक्शन 4(जी) में इसे 'एथनिक सेगमेंट' के संदर्भ में प्रयोग किया गया है, इस तरह पेसा की मुख्य संकल्पना में ही अदृढ़ता नजर आ रही है।

(iii) इस प्रकार माइक्रो टैरिटोरियल की बात हो या एथनिक सेगमेंट की, पेसा ने फिजिकल और सामाजिक स्पेस को मिला दिया है। दरअसल, यथार्थ जीवन में संसाधनों के प्रबंधन की प्रकृति विभिन्न जनजातियों और स्थानों के अनुसार भिन्न–भिन्न होती है।

इस जमीनी यथार्थ को नकार कर और 'गाँव' की एक समान परिभाषा करके पेसा ने घोषणा की उस भावना का उल्लंधन किया है जो इसने राज्य–विधायन के लिए सुझाया है। विचारों पर गौर करने के बाद कार्यशाला ने यह निचोड़ निकाला कि कानूनी साधनों का सहारा लेकर क्षेत्रीय अस्तित्व को नए सिरे से तय करने के बजाए, वर्तमान ग्रामीण सीमाओं के लिये यही उपयुक्त होगा कि इसे उन लोगों पर ही छोड़ दिया जाए कि वे अपने क्षेत्राधिकार में जो परिवर्तन चाहते हैं उस परिवर्तन के कारणों के साथ एक प्रस्ताव पारित करें।

(d) सेक्शन 4(सी) के अनुसार प्रत्येक गांव में एक ग्राम सभा होगी, जिसमें ग्राम स्तर पर पंचायत के लिये मतदाता सूची में शामिल व्यक्ति ही शामिल होंगे, बहुत से अनुसूचित इलाकों में आदिवासी और गैर आदिवासी लोगों ने अपने नैतिक समुदाय बना लिये हैं जो प्रजातंत्र के अधिकारों का दावा करते हैं, और पेसा इन दोनों सामाजिक श्रेणियों की भूमिका की समस्याओं को समझने में असफल रहा है। इस संदर्भ में कार्यशाला में इस तथ्य पर रोशनी डाली कि कुछ राज्यों में इसके लिए कुछ प्रयास किये गए हैं कि गांव की मुख्य जनजाति की पारम्परिक काउंसिल के अध्यक्ष ग्राम सभा के चेयरपर्सन के रूप में काम करेंगे, जिसमें गांव के सभी वयस्क शामिल होंगे– भले ही वे आदिवासी हो या गैर आदिवासी। इन दो भूमिकाओं के लिए अन्य रास्ते भी हैं, लेकिन अनुसूचित इलाकों के लिए सबसे आसान रास्ता ही सुझाया गया है। कार्यशाला ने यह भी मत प्रस्तुत किया कि सूची में ही इस विचार को शामिल करके पेसा में संशोधन कर दिया जाना चाहिए।

(e) सेक्शन 4(बी) के अनुसार प्रत्येक ग्राम सभा अपने सुरक्षा मानक बनाएगी और लोगों की परम्पराओं, सांस्कृतिक पहचान, सामुदायिक संसाधनों और विवादों को सुलझाने के पारम्परिक तरीकों की रक्षा करेगी। यह स्टिपुलेषन जहां एक ओर उद्घोषणा के रूप में हैं, तो कोई भी यह जानना चाहेगा कि यह किसके लिये हैं। अगर यह राज्य के अधिकारियों और गैर राज्यीय हितों को सम्बोधित किये गए है जो संसाधनों पर आदिवासियों के क्षेत्राधिकार के बारे में है, यह कहने में कोई बुद्धिमानी नहीं है कि नौकरशाहों का संबन्धित वर्ग और उससे जुड़े हित प्रत्येक क्षेत्रीय इकाई के साथ आसानी से डील कर सकते हैं।

सुरक्षा मानकों के साथ ग्राम स्तर पर अकेले–अकेले समुदायों द्वारा कार्य किये जाने पर जोर देने के बजाय कार्यशाला ने यह विचार रखा कि सेक्शन 4(बी) में उद्घोषित वक्तव्य पूरी तरह गलत है। अधिकांश आदिवासी लोगों का अन्तः ग्राम्य सामाजिक संगठन है, जिनके माध्यम से वे अपनी परम्पराओं की सुरक्षा के लिये मानक तय करते हैं। कार्यशाला के इस उद्घोषणा के प्रति विरोध जताया गया।

(f) (i) सेक्शन 4(ई) में प्रत्येक ग्राम सभा को ग्राम स्तर पर योजना, कार्यक्रम और सामाजिक और आर्थिक विकास के लिए शक्तियाँ दी गई है। कार्यशाला में यह विचार भी सामने आया कि अधिनियम में ग्राम सभा के सामाजिक और आर्थिक विकास के लिये अपनी योजना बनाने के अधिकार को मान्यता नहीं है।

कार्यशाला में इस बात पर भी जोर दिया गया कि जहां तार्किक रूप से ग्राम सभा का मुख्य कार्य विकास के लिए कार्यरूप बनाना और कार्यक्रम बनाना तथा योजना की तैयारी और क्रियान्वयन करना ही मुख्य कार्य है। ये कार्य और योजनाएं मुख्य रूप से पारम्परिक व्यवस्था को मान्यता देने से संबन्धित है और साथ ही संसाधनों के उपयोग, पहचान और जागरूकता से संबन्धित है, पेसा का सेक्शन 4(ई) सिवाय बड़ी–बड़ी बातों के और कुछ नहीं है।

(ii) सेक्शन 4(ई) में लाभार्थियों (सक्रिय प्रतिभागी नहीं) के चयन और पहचान के लिये ग्राम सभा के अधिकारों की नहीं बल्कि कर्त्तव्यों की बात करता है। दूसरों शब्दों में, कार्यशाला में भागीदारी करने वाले लोगों के मुताबिक, तथा कथित लाभार्थियों के चयन और आदिवासी स्व–शासन के मखौल के रूप में योजनाओं और क्रियान्वयन में ग्राम सभाओं की भूमिका बिल्कुल निष्क्रिय है। यह रास्ता स्वतंत्रता की ओर नहीं बल्कि परतंत्रता की ओर जाता है।

(g) सेक्शन 4(एफ) के अनुसार, ग्राम स्तर पर प्रत्येक पंचायत के लिए, योजनाओं, कार्यक्रमों और परियोजनाओं के लिए पंचायतों द्वारा वित्त का प्रयोग करने के लिये ग्राम सभा से प्रमाण–पत्र प्राप्त करना जरूरी है। कार्यशाला में यह विचार आया कि सेक्शन 4(ई) कुछ सीमाओं के बावजूद लाभदायक है। अधिनियम की कुछ खामियाँ की वजह से इसकी उपयोगिता सीमित रह गई है। अधिनियम को पढ़ने पर यह पता नहीं चलता कि ग्राम सभा की मीटिंगों की अध्यक्षता और संचालन कौन करेगा, और उसके मिनट्स कौन लिखेगा। इसके अलावा अधिनियम के मुताबिक पंचायतों को फंड का इस्तेमाल करने के लिये ग्राम सभा से मंजूरी लेनी होगी, लेकिन इसमें ऐसे ही काम के लिये ग्राम के क्षेत्राधिकार के अन्दर आने वाले कामों के लिये कुछ भी नहीं कहा गया।

(h) सेक्शन 4(जी) में जहां यह कहा गया है कि अनुसूचित क्षेत्रों में आरक्षण, समुदायों की जनंसख्या के अनुपात में होगा, लेकिन अनुसूचित जनजातियों के लिये आरक्षण, जनजाति सीटों की संख्या के आधे से कम नहीं होगा और पंचायत के सभी स्तरों

पर अध्यक्ष पद अनुसूचित जनजाति के लिये आरक्षित होगा। अनुसूचित इलाकों वाले 9 राज्यों में 236 जिलों में से केवल 17 को ही पूरी अनुसूचित माना गया है। इन 17 जिलों में से 2 में अनुसूचित जनजातियां अल्प संख्या में है। 1991 में आंशिक रूप से अनुसूचित 52 जिलों में से 5 जिलों में 5 फीसदी से भी कम आदिवासी हैं। अनुसूचित जनजातियों की कम जनसंख्या वाले जिलों में, ऊपर बताए गए तरीके से सीटों के आरक्षण की संख्या से अनावश्यक रूप से संघर्ष और तनाव पैदा हो सकते हैं।

(i) सेक्शन 4(एच) के अनुसार राज्य सरकार ऐसे व्यक्ति को नामांकित कर सकती है जो ऐसी अनुसूचित जनजाति से हो, जिसका इंटरमीडिएट और जिला स्तर पर पंचायत में कोई प्रतिनिधित्व न हो। कार्यशाला में यह भय उत्पन्न हुआ कि इस तरह के प्रावधान से राज्य स्तरीय राजनीतिक नौकरशाही संघर्ष के कारण राजनीतिक प्रभुत्व का रास्ता खुल सकता है। यह सुझाव भी दिया गया कि अगर सम्बंधित जनजाति समुदाय से आदिवासी सदस्यों का चुनाव किया जाए तो इससे आदिवासी लोगों के बीच एकता और सौहार्द्र बढ़ेगा।

(j) सेक्शन 4(आई) में कहा गया है कि अनुसूचित इलाकों में विकासवादी कार्यों के लिये और प्रोजेक्ट से प्रभावित लोगों के पुनर्वास के लिए आदिवासी इलाकों में भूमि अधिग्रहण करने के लिए पंचायत के उचित स्तर पर ग्राम सभा से परामर्श लिया जाना चाहिए, इस बारे में कार्यशाला में विचार किया गया कि यह आदिवासी स्व–शासन का एक कमजोर ढांचा है। इसमें भूमि अधिग्रहण से पहले ग्राम सभा से पंचायत के उचित स्तर पर परामर्श करने के लिए तो कहा गया है, लेकिन उसमें ग्राम सभा की स्वीकृति अनिवार्य नहीं बताई गई है। इसका मतलब हुआ कि प्रोजेक्ट की योजना और क्रियान्वयन राज्य स्तर पर किया जाएगा, इसमें यह साफ नहीं किया गया कि राज्य स्तर पर इसका संचालन किनके बीच और कैसे किया जाएगा।

(k) सेक्शन 4(जी) के अनुसार अनुसूचित इलाकों में छोटे जल निकायों की योजना और प्रबंधन पंचायत के उचित स्तर के सुपुर्द किया जायेगा। लेकिन सवाल यह है कि यह सुपुर्दगी कौन करेगा और किस प्राधिकार के तहत।

(l) जहां सेक्शन 4(के) में कहा गया है कि ग्राम सभा या पंचायत के उचित स्तर पर, अनुसूचित इलाकों में खनिजों के खनन के लिये लीज अथवा लाइसेंस देने से पहले, अनुशंसा प्राप्त करना जरुरी होगा।

कार्यशाला में यह विचार आया कि इस सेक्शन की भाषा अस्पष्ट है। इसका मतलब कार्य करने या लीज धारक के लिये अनुशंसा हो सकती है। इसके अलावा यह भी स्पष्ट नहीं किया गया है कि अगर ग्राम सभा या पंचायत अपने क्षेत्राधिकार में आने वाले कम मात्रा वाले खनिजों के लिए खनन कार्य के लिये अनुशंसा नहीं करती तो

खनिजों के खनन का कार्य बन्द कर दिया जायेगा। इतना ही नहीं शब्द भी गलत है, इसकी जगह पर स्वीकृति शब्द होना चाहिए था।

(m) सेक्शन 4(बी) के अनुसार, कम मात्रा वाले खनिजों को नीलामी द्वारा सामने लाने के लिए छूट देने के लिये भी ग्राम सभा या पंचायत के उचित स्तर पर पूर्व अनुशंसा आवश्यक है। कार्यशाला के अनुसार सेक्शन 4(के) की तरह इस सेक्शन की भाषा भी स्पष्ट नहीं है।

सेक्शन 4(एम) में कहा गया है, ''अनुचित क्षेत्रों में पंचायतों को ऐसी शक्तियां और अधिकार देना, जो स्व–शासन के संस्थान के रूप में कार्य करने के लिये जरुरी है। राज्य विधान यह सुनिश्चित करेगा कि ग्राम सभा और पंचायतों के उचित स्तर पर उन्हें विशेषतः ये अधिकार दिए जाएं– (i) किसी भी नशीली चीज के उपभोग और बिक्री पर रोक लगाने की शक्ति, (ii) लघु वन्य उत्पादों का स्वामित्व, (iii) अनुसूचित क्षेत्रों में भूमि को पृथक्करण से रोकना और अनुसूचित जातियों की जमीनों को किसी भी गैर कानूनी तरीके से छीने जाने के प्रयास को रोकने के लिये उचित कार्रवाई करना, (iv) गांव के बाजार का प्रबंधन करने की शक्ति, (v) आदिवासियों द्वारा कर्ज के लेन–देन को नियंत्रित करना, (vi) सभी सामाजिक क्षेत्रों के संस्थानों और कर्मियों पर नियंत्रण, (vii) स्थानीय योजनाओं और संसाधनों पर नियंत्रण।

शक्तियां दो प्रकार की हैं– (i) शासन सम्बंधी और न्यायिक शक्तियां (ii) विधायी शक्तियां राज्य–विधान बिना किसी भी पांचवी अनुसूची के प्राधिकार को बुलाए पंचायतों को प्रशासनिक और न्यायिक शक्तियां दे सकता है, लेकिन यहां यह स्पष्ट नहीं है कि शक्तियों का प्रतिपादन अनुसूचित इलाकों तक ही सीमित क्यों हैं? उन सभी क्षेत्रों में क्यों नहीं जहां अनुसूचित जनजातियां मौजूद हैं। ऐसे में पेसा पूरे देश की अनुसूचित जनजातियों को सशक्त बनाने के बजाए निषेधन का माध्यम ज्यादा नजर आता है।

जहां तक विधायी शक्तियों का ताल्लुक है, सर्वोच्च न्यायालय में जस्टिस महाजन द्वारा 1950 में दिये गए प्रसिद्ध दिल्ली निर्णय के मद्देनजर, यह स्पष्ट है कि पेसा में जो कुछ भी कहा गया है, इसके बावजूद राज्य का विधान पंचायतों को ऐसी शक्तियां प्रदान नहीं कर सकता। संविधान की छठी अनुसूची के अनुसार ही केवल राज्य विधान के अधीन संवैधानिक निकायों को विधायी शक्तियां दी जा सकती हैं।

अनुसूचित जनजातियों के लिये सातवीं कार्य योजना दल ने पाचवीं अनुसूची को बाध्यकारी बताया है। कार्यशाला में अनुशंसा की गई कि छठीं अनुसूची (जिसे सातवीं योजना कार्यदल ने भी स्वीकार किया है) संविधान के स्व–प्रबंधन के बीच है, इसे अनुसूचित जनजाति वाले सभी इलाकों में लागू किया जाना चाहिए। हालांकि आदिवासियों के स्व–प्रबंधन के प्रावधानों के लिये छठीं अनुसूची के संस्थागत प्रबंधन के द्वारा उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो सकती, जब तक कि राष्ट्र के रणनीति निर्माता अनुसूचित जनजातियों के

सम्मान और जीवन शैली को मान्यता और आदर नहीं देते, खास तौर पर प्रकृति की देनों के प्रति उनके रचनात्मक लगाव को सम्मान नहीं देते।

दुर्भाग्य से, इस सम्बंध में स्ट्रेटेजी बनाने वाले, ट्राइबल अफेयर्स मिनिस्ट्री, भारत सरकार का रूख नकारात्मक ही दिखाई दिया है। मंत्रालय ने अनुसूचित जनजातियों की पहचान के लिये निम्नांकित संकेत अपनी वेबसाइट पर दे रखे हैं– (क) पौराणिक विश्वास (बिना यह बताए कि वे क्या हैं), (ख) आर्थिक पिछड़ापन, (ग) समाज से सम्पर्क करने में शर्माना, (घ) अकेलापन, (ड़) विशेष संस्कृति।

विभिन्न प्राधिकारियों ने भिन्न–भिन्न मानक सुझाए हैं लेकिन मंत्रालय ने अज्ञात कारणों से इस तरह के चयनित मानक अपनाए हैं, विशेष संस्कृति अपवाद से परे हैं, अन्य किसी ऐतिहासिक, काल्पनिक या पक्षपातपूर्ण रवैये का नतीजा हो सकते हैं। कुछ समय से कुछ समुदाय बुद्ध को अनुसूचित जनजाति के रूप में मान्यता दे रहे हैं और इसके लिये वे खुद ही कुछ प्रचलित विश्वासों का सहारा ले रहे हैं। यह सब अनुसूचित जनजातियों को दी गई कुछ रियायतों को पाने के लिये किया जा रहा है।

कार्यशाला में ऐसे समाज विज्ञानियों का आह्वान किया गया जो वर्तमान सोच से ज्यादा पारदर्शी मानक तय कर सकें, जिसमें आदिवासियों की जीवन शैली, खास तौर पर, समान सामाजिक दायरे के लोगों के प्रति लगाव, वातावरण में अपना विस्तार, प्रकृति की देनों के प्रति उनका सम्मान और राज्य तंत्र पर निर्भरता के बीच उनका आन्तरिक आत्म–नियमन आदि की साफ झलक मिल सके।

कार्यशाला में इस बात पर जोर दिया गया कि आदिवासियों के कुछ वर्गों को प्रिमिटिव ट्राइब्स कहकर निंदा न की जाए। जैसा कि राज्य ने पहले ही यह कहा है कि सभी आदिवासियों के अपने पुरातन विश्वास/चिन्ह हैं पर यह नहीं बताया कि वे पुरातन विश्वास/चिन्ह कौन से हैं। अगर यह गलत नहीं है तो आगे चलकर यह समस्या और बड़ी हो जाएगी कि 'प्रिमिटिव ट्राइब्स' के 'प्रिमिटिव ट्रेट्स' है। इस तरह संकल्पना के स्तर पर वे पुरातन से भी प्राचीन है। जातियों में भी देखा गया है। अर्थव्यवस्था की कृषि–पूर्व स्तर का जहां तक सवाल कृषि–पूर्व उत्पादन व्यवस्था से सम्बंध न रहा हो। अनुसूचित जनजातियों में ऐसे लोग हैं जो दूसरों की अपेक्षा आर्थिक, सांस्कृतिक और सामाजिक रूप से दयनीय स्थिति में हैं। कार्यशाला में यह सुझाव दिया गया कि प्रिमिटिव ट्राइब शब्द को बदलकर 'वल्नरेबल ट्राइब' कर दिया जाना चाहिये। इसके अलावा डी–नोटिफाइड ट्राइब शब्द को भी बदलकर वल्नरेबल ट्राइब कर दिया जाना चाहिए क्योंकि डीनोटिफाइड शब्द में कुछ ऐसी कड़वी यादें जुड़ी हुई हैं, डीनोटिफाइड जनजातियों को कभी–कभी 'क्रिमिनल ट्राइब' के रूप में देखा जाता है।

ikLV fLØIV

प्रो॰ महापात्रा ने सुझाव दिया कि जहां केन्द्रीय कानून के सकारात्मक तत्वों के प्रति

राज्य का कानून छोटा पड़ता है वहां केन्द्रीय कानून लागू होगा, इसे स्वीकार कर लिया गया। श्री गिरधर गोमांग, जो सत्र में उपस्थित थे, उन्होंने संशोधन करते हुए कहा–पेसा की खामियों को ध्यान में रखते हुए, राज्य सरकार से प्रार्थना है कि वह एक कानून लागू करे जिसमें पेसा के सभी सकारात्मक प्रावधान हों और इस अधिनियम का दायरा सभी MADA और आदिवासी बहुल क्षेत्रों तक हो। इस संशोधन को सर्वसम्मति से स्वीकार किया गया। ■

ou dfel;ksa ds fy;s fnu esa Hkh v/ksjk vkSj mudh ekaxksa dk pkVZj

(रांची में 17.09.98 को नेशनल सेंटर फॉर लेबर द्वारा, वन कर्मियों के अधिकारों पर संचालित सेमिनार में मुख्य व्याख्यान)

Hkkjr dh tux.kuk esa ou dehZ&

Hkkjr की जनगणना में पूर्ण कालिक वन कर्मियों को निम्न श्रेणियों में वर्गीकृत किया गया है : वनवासी और सम्बंधित कर्मी (एः 70517; बीः 121606); हार्वेस्टर्स और वन्य उत्पादों को इकट्ठा करने वाले (एः 30980 बीः 46207), लॉग फैलर्स और बुडकटर्स (एः111981, बीः 169254), चारकोल जलाने वाले और वन्य उत्पादों के प्रोसेसर्स (एः 14977, बीः 20533), लॉगर्स और अन्य कर्मी (एः 1957, बीः 2086)

नोटः ऊपर बताए गए आंकड़े जनगणना के आंकड़ों के अनुसार दिये गए हैं। 'ए' का अर्थ है 1971 की जनगणना के आंकड़े और 'बी' का अर्थ है 1981 की जनगणना के आंकड़े। 1961 से भारतीय जनगणना में काम को आर्थिक रूप से उत्पादक क्रिया में सहभागिता का नाम दिया गया है। यह भागीदारी शारीरिक या मानसिक हो सकती है। इस धारणा में काम का मतलब केवल वास्तविक काम से ही नहीं बल्कि प्रभावशाली निरीक्षण और निर्देशन से है। इसमें घरेलू कार्यों और खेत पर किये गए वे कार्य भी शामिल हैं जिनके लिये भुगतान नहीं किया जाता।

यह दिलचस्प है कि 1971 से 1981 की जनगणना के दौरान ऐसे लोगों की संख्या बढ़ी है, जिन्होंने वन या संबन्धित कार्यों को अपना मुख्य व्यवसाय बनाया है। 1991 के आंकड़ों से यह तथ्य और ज्यादा स्पष्ट हो जायेगा। यह भी गौर करने लायक है कि जनगणना में वन क्षेत्र को मुख्य व्यवसाय बनाने के रूप में चिन्हित व्यक्ति जरुरी नहीं कि पूरी तरह इसी पर निर्भर हों। उनमें से कुछ अन्य स्रोतों से आय अर्जित करते होंगे। जनगणना के आंकड़े चूंकि मात्रात्मक संकेत देते हैं अतः इसके लिये फील्ड में जांच करना जरुरी है।

जनगणना आंकड़ों को भी ध्यान से जानने की जरुरत है कि राज्य वन विभाग द्वारा स्थापित 5000 वन गांवों में लगभग 2 लाख कर्मी, वन कर्मी की श्रेणी में शामिल किये गए हैं या नहीं। उसकी सही स्थिति के बारे में संदेह है। वन गांव, राज्य वन विभाग द्वारा स्थापित किये गये थे ताकि वन्य क्षेत्र में मजदूर आसानी से समय पर उपलब्ध हो सकें। उनमें बहुत सी असमानताएँ थीं। इस व्यवस्था को केरल उच्च न्यायालय ने संविधान के विपरीत बताया। इसके अतिरिक्त, 1978 में 'स्टेट फॉरेस्ट और ट्राइबल अफेयर्स मंत्रियों की

बैठक में यह सिफारिश की गई कि फॉरेस्ट विलेज को रेवेन्यू विलेज में बदल दिया जाए। लेकिन जनजातियों के विकास के लिये नौंवी योजना के कार्य दल ने वर्तमान में भी अपनी उपस्थिति दर्ज कराई। भारत सहित अनेक देशों में जनगणना में कानूनी जानकारी को दर्ज न करने का प्रचलन है। इसलिये यह जानना मुश्किल है कि फॉरेस्ट विलेज कैसे बने थे।

ou dfe;k dk J.kdj.k &

मैं वन कर्मियों को निम्न श्रेणियों में वर्गीकृत करना चाहूँगा–

(a) पूर्ण कालिक या अंश कालिक वैतनिक मजदूर, जिन्हें वन विभाग, फॉरेस्ट डेवलपमेंट कॉरपोरेशन, कोपरेटिव और वन क्षेत्र में काम करने वाले अन्य निकायों का ठेकेदारों द्वारा रोजगार दिया गया है। इस क्षेत्र में काम करने वाले मजदूरों को संबंधित विभाग से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष अधिकार प्राप्त होते हैं।

(b) आर्टिसन, क्राफ्टमेन जो वन्य उत्पादों पर निर्भर हैं।

(c) शिकारी, जो जंगल में रहता है और पूर्ण या आंशिक रूप से जंगल से ही आजीविका प्राप्त करता है, (प्रत्यक्ष उपयोग द्वारा, स्थानीय विनिमय, विस्तृत व्यवसायिक सम्बंध द्वारा) पारम्परिक तरीकों से शिकार करता है जैसे जानवरों या पक्षियों को जाल या पिंजरे में कैद करके।

(d) व्यक्तिगत उपभोग, विनिमय या स्थानीय बिक्री के लिये घास, बांस, लकड़ी और लट्ठे आदि को सिर पर ढोकर ले जाने वाला।

(e) व्यक्तिगत उपयोग, विनिमय या स्थानीय बिक्री के लिये बिना लकड़ी वाले वन्य उत्पादों के संग्रहक।

(f) जड़ी–बूटियों का दवाइयों के रूप में इस्तेमाल करने वाले।

(g) आदिवासी समुदाय और अन्य छोटे समुदायों के किसान जिनकी अर्थ व्यवस्था जंगल पर ही टिकी है।

(h) अभ्यारण्य, राष्ट्रीय उद्यानों और वन्य जीवन सुरक्षा अधिनियम 1972 के तहत बन्द किये गये क्षेत्रों अथवा वन व्यवस्था से सम्बंधित अन्य कार्यों से प्रभावित जनसंख्या।

(i) जैव षड़यंत्र का शिकार बनी जनंसख्या।

(j) बायो–टेक्नोलॉजी के इस्तेमाल से प्रकृति की देनों को जीतने से प्रभावित जनसंख्या।

(k) सामाजिक वन्य कार्यक्रमों और संयुक्त वन प्रबंधन कार्यक्रमों में भाग लेने वाले, जो विशेष रूप से सामान्य जरूरतों को पूरा करने और समाज के कमजोर तबके को सामाजिक ढांचा उपलब्ध कराने से सम्बंधित है।

(l) वन्य कर्मी की श्रेणी में, गरीबी रेखा से नीचे वनों पर निर्भरता की सीमा

ouk ij fuHkjrk

भारत सरकार की वन और जनजाति समिति ने 1982 में रिपोर्ट दी कि आदिवासी प्राचीन समय से ही वन्य क्षेत्र घेरे हुए हैं और प्रकृति के साथ तालमेल बनाकर उसमें रह रहे हैं। जंगल उन्हें केवल भोजन, घर बनाने के लिये सामग्री, खाना पकाने के लिये ईंधन, गर्मी और ऊर्जा, मवेशियों के लिए चारा ही नहीं देते बल्कि उनकी आध्यात्मिक खोज को भी संतुष्ट करते हैं।

गुजरात के वन क्षेत्र में किये गये एक सर्वेक्षण से पता चलता है कि 22 से 27 फीसदी तक बुजुर्ग लोग और 70–72 फीसदी बच्चे जंगल में पत्तेदार सब्जियां, बांस और दूसरे वन्य उत्पाद इकट्ठा करने जाते हैं। मध्य प्रदेश के बस्तर जिले में 1980–81 में किये गए एक सर्वे के ज्ञात होता है कि घने जंगलों में वृद्ध लोग जंगल में निम्नांकित अनुपात में सामग्री इकट्ठा करते हैं– भोजन (31.23), बेचने के लिए वस्तुएँ (22.22), सामाजिक–धार्मिक क्रियाएँ (5.33),। एक औसत परिवार (जिसमें दो वयस्क, कम से कम एक बच्चा और एक वृद्ध हो) साल में औसतन 1500 रुपये कमाता है वह भी वन्य उत्पादों को बेचकर, जिसमें न तो कोई पूर्व निवेश है और न ही कोई जोखिम। आंध्र प्रदेश, उड़ीसा, बिहार और मध्य प्रदेश के अध्ययन और गुजरात के पंचमहल जिला में आदिवासियों के सामाजिक–आर्थिक जीवन पर एमएफपी संग्रह के प्रभाव पर 1980 के प्रारम्भ में किये गए अध्ययनों ने यह दिखाया कि आदिवासियों की आय का लगभग 35 फीसदी इन्हीं वस्तुओं से आता था।

हाल में पश्चिम बंगाल में किये गए एक अध्ययन से पता चलता है कि हालांकि आदिवासियों के परिवारों की लगभग 17 फीसदी आय वन्य क्रियाओं पर निर्भर है, कुछ क्षेत्रों में यह 25 फीसदी तक भी है। देहरादून एफ आर आई में स्थित फॉरेस्टर ने 1996 में यह सूचना दी कि राजस्थान में विभिन्न जनजातियों से जुड़े लगभग 5 मिलियन लोग अपनी आजीविका संग्रह, यातायात, प्रोसेसिंग और वन्य उत्पादों के विपणन आदि से अर्जित करते हैं। यहां तक कि अरावली के जंगलों में भी आदिवासी लोगों द्वारा 32 उपयोगी वस्तुएँ इकट्ठी की गई थी।

महाराष्ट्र में आदिवासी लोग अपनी की 30 फीसदी भोजन की जरूरत पत्तियों, सब्जियों, फल, मेवे, बांस, छोटे जानवर, शहद आदि जंगलों से ही प्राप्त करते हैं। पश्चिम बंगाल के दक्षिणी भाग के जंगलों में आदिवासी लोग 27 वाणिज्यिक उत्पाद और 37 चिकित्सीय औषधियाँ जंगलों से प्राप्त करते हैं।

भारत के उत्तर–पूर्व में बड़ी मात्रा में आदिवासी लोग पहाड़ी पर रहते हैं। (ब्रह्मपुत्र घाटी के मैदानों और इम्फाल–बराक घाटी को छोड़कार) लगभग 70 फीसदी क्षेत्र प्रमुख रूप से जंगली जीवन पर ही टिका है। ब्रह्मपुत्र घाटी के आदिवासी लोगों के ज्यादातर घर जंगलों में हैं। वे अपनी जीवन पद्धति को व्यवस्थित करने के लिए आंशिक रूप से जंगलों पर निर्भर हैं और जंगलों में काम करके ही काफी समय बिताते हैं।

कुल मिलाकर, 70 मिलियन आदिवासी भारत में जंगलों में मजदूरी लागत से लाभ की भिन्न–भिन्न सीमा प्राप्त कर रहे हैं। लेकिन आदिवासियों के अलावा अन्य दलित जैसे– डोम, भांजरा (उत्तरी हरियाणा में टोकरियां बनाने वाले) पूरी तरह से आजीविका के लिए वन्य उत्पादों पर ही निर्भर हैं।

वर्तमान में सोशल फोरेस्ट्री और ज्वॉइंट फॉरेस्ट मैनेजमेंट प्रोग्राम के आने के साथ ही आदिवासियों के अलावा अन्य लोगों का भी जंगल के साथ, आर्थिक क्षेत्र, पारम्परिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जुड़ाव उत्पन्न हुआ है।

जंगल अब रहस्यमय जंगलीपन नहीं है। गैर आदिवासियों के लिए इसकी घरेलू उपस्थिति एक उभरती हुई सच्चाई है जबकि जंगलों में आदिवासियों की उपस्थिति गम्भीर समस्या है।

ouokfl ;ksa dk vf/kdkjksa dh lekfIr

19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में अंग्रेजों ने जंगल की अधिकांश जमीन को कृषि भूमि में बदलने की बहुत कोशिश की और इसके लिये आदिवासियों के प्रतिरोध को कुचलने के भी प्रयास किये।

उपनिवेशवादी शासकों ने जंगलों के लिये 'बेकार जमीन राजा की है', का विचार अपनाया।

लेकिन आदिवासियों की आर्थिक निर्भरता और बहुत से मामलों में, राजनीतिक रूप से संगठित आदिवासियों ने अपने पारम्परिक सामाजिक संगठन के माध्यम से जंगलों पर अपना अधिकार नहीं छोड़ा, इसे अंग्रेज नकार नहीं सके, इन संगठित आदिवासियों ने निहत्थे ही बहादुरी से अंग्रेजों का सामना किया। 1884 में अंग्रेजों ने एक वन नीति अपनाई, जिसमें वनों पर आदिवासियों के अधिकारों को 'विशेषाधिकार' कहकर मान्यता दी गई। इस तरह जंगलों के संदर्भ में उपनिवेशवादी कानूनी व्यवस्था लागू करने के लिए 'बेकार भूमि राजा की' यह विचार बना रहा।

वन नीति के क्रियान्वयन में कानूनी दांव पेंच और धोखाधड़ी का सहारा लिया गया। नीति में इन क्षेत्रों की 'रिजर्व फोरेस्ट या सुरक्षित वन' कहा गया और जिन लोगों को इस पर आपत्ति हो वे तीन महीने के अंदर अपनी आपत्ति दर्ज कराएं। फॉरेस्ट सैटलमेंट ऑफिसर नियुक्त किया गया। वह ही सभी आपत्तियों और दावों पर विचार करेगा। यह ध्यान देने लायक है कि ज्यादातर प्रभावित लोगों में आदिवासी थे और उन्हें इस तरह के किसी नोटिफिकेशन की जानकारी तक नहीं थी, यही वजह थी कि मुश्किल से ही कोई आपत्ति या दावा दर्ज कराया गया। इस तरह जंगलों का कानूनी स्टेट्स बदल गया और लोगों को पता भी नही चला। उन्होंने तब प्रतिरोध किया जब सरकार ने अपनी कार्य योजना के अनुसार जंगल में काम शुरू किया। लेकिन अब आदिवासी लोग इस धोखे के प्रति जागरूक हो गए हैं। यहाँ तक कि वे अब दशकों पहले अपने साथ हुए अन्याय के

खिलाफ अदालतों में जा रहे हैं। उदाहरण के तौर पर, मेघालय में रीभोई जंगल के लोगों ने 20वीं शताब्दी की शुरूआत में उनके वनों के आरक्षण को अदालत में चुनौती दी है।

साम्राज्यवादी शासकों द्वारा किये गए इस कानूनी धोखे के आजादी के बाद कुछ भी नहीं किया गया। इसकी बजाय आदिवासियों के दावों को खारिज कर दिया। 1952 की वन नीति ने 1874 के विशेषाधिकारों को रियायतों का नाम दे दिया। एक ओर तो संसाधन आदिवासियों के हाथ से निकलकर पूंजीवादी औद्योगिक अर्थव्यवस्था को समर्थन देने के लिए इस्तेमाल हो रहे थे तो दूसरी ओर राजनीतिक संतुलन बनाए रखने के लिए कल्याणकारी मानक अपनाए गए। लेकिन जितनी उम्मीद थी, रणनीति ने उतना काम नहीं किया। देश के विभिन्न भागों में अंसतोष के अलावा धार्मिक या नक्सलवादी आंदोलन देश के विभिन्न आदिवासी बहुत क्षेत्रों में सैनिक कार्रवाई में बदल गए।

Hkkjr esa ou vkSj ouksa ds LokLF; dh fLFkfr

भूमि प्रयोग के आंकड़े दर्शाते हैं कि 7488 मिलियन हेक्टेयर जमीन कानूनी रूप से वन घोषित जमीन है। राज्य के दावे के अनुसार राज्य का अपना वन क्षेत्र 1949 और 1978 में 95.2 फीसदी के लगभग होगा है। तब से मालिकाना हक के दावे निरंतर बढ़ रहे हैं।

वन क्षेत्र में बर्फ से ढके अल्पाइन क्षेत्र, मरूस्थल और अत्यधिक दलदली क्षेत्र, बंजर चट्टानी इलाके और दूर तक स्क्रब जमीन आदि भी शामिल हैं।

भारत ने अपनी सबसे नई रिपोर्ट में यह अनुमान लगाया है कि देश में वन आच्छादित क्षेत्र लगभग 19.4 फीसदी है। लेकिन अगर घने जंगलों की श्रेणी पर विचार किया जाए तो देश का कुल 11.7 फीसदी भौगोलिक क्षेत्र वनों से आच्छादित है। यह एक प्रक्रिया के तहत हुआ है। 1951–75 के दौरान देश में वन क्षेत्र में 4.134 मिलियन हेक्टेयर की कमी आई है, तब से सुरक्षात्मक कदम उठाए जा रहे हैं और वृक्षारोपन कार्यक्रम भी चलाए जा रहे हैं। फिर भी वन क्षेत्र घट रहा है। 1975–1997 के दौरान लगभग 1.2 मिलियन हेक्टेयर के लगभग जंगल लगाए भी गए थे।

ouksa esa deh vkSj fouk'k ds fy;s ftEesnkj dkSu\

लगभग दो दशक पहले, उत्तर पूर्वी भारत के आदिवासी बहुल क्षेत्र में एक मुख्यमंत्री ने मुझे बताया कि वह इस तथ्य से परेशान था कि जब उसके राज्य में वैज्ञानिक वानिकी और संरक्षण मानक अपनाए गए, उससे पहले वहां वनों का न तो इतना विनाश था और न ही इतना भू–स्खलन, लेकिन वैज्ञानिक वानिकी और संरक्षण मानकों को अपनाए जाने के बाद से ही बड़े पैमाने पर वनों का विनाश शुरू हो गया। जो कुछ उस आदिवासी नेता ने समझा, उसे गम्भीरता से लिया जाना चाहिए। इस बात की जांच करनी होगी कि वैज्ञानिक वानिकी वास्तव में वैज्ञानिक है या नहीं? क्या संरक्षण मानक असलियत में उन उपयुक्त मानकों पर खरे उतरते हैं जो देखभाल के लिये अपनाए जाने चाहिए थे।

प्रायः, खास तौर पर उत्तर पूर्वी भारत में खेती में बदलाव, वनों के विनाश का एक मुख्य कारण है। लेकिन कृषि मंत्रालय, भारत सरकार के द्वारा छठीं योजना के दौरान प्रकाशित आंकड़ों में यह साफ दिखाई दिया कि देश में पर्यावरणीय रूप से नष्ट हुआ कुल क्षेत्र का 2 फीसदी से भी कम क्षेत्र, खेती में बदलाव के प्रभाव से सम्बंधित है।

दूसरी ओर, 1980 के उत्तरार्द्ध में कुछ राज्यों में वनों में कार्य योजना के परीक्षण से पता चला कि इसने पर्यावरणीय सोच की बजाय शक्तिशाली आर्थिक हित समूहों के संतुलन पर ज्यादा महत्व दिया। यह गौर करने लायक है कि लगभग दो दशकों पहले वाणिज्यिक रूप से मूल्यवान लकड़ी उगाने और अधिकतम लाभ कमाने पर ज्यादा शोध किये गए, लेकिन पौधों के समाजशास्त्र यानी पौधों का आन्तरिक आपसी संबंध और पौधे व प्रकृति के अन्य बायोटिक और अबायोटिक तत्वों पर अध्ययन नहीं किये गए। इसलिए यह कहना मुश्किल है कि वैज्ञानिक वानिकी का वैज्ञानिकी आधार वाकई में है। हाल ही में इस दिशा में गम्भीरता से काम शुरू किया गया।

कुछ रूढ़िवादियों ने यह भी बताया कि उस समय प्रचलित मोनोकल्चर वाली वानिकी भी प्राकृतिक तरीकों का उल्लंधन था। विशेष रूप से कोनिफर के जंगलों ने मिट्टी और पानी के कटाव को उतना नहीं रोका जबकि दूसरी ओर मल्टी–स्टोरीड विभिन्नीकृत वन, जिनमें व्यवसायिक महत्व के वन भी शामिल हैं ने बाढ़ के दौरान मिट्टी के कटाव और पानी के बहाव को अधिक सुरक्षा प्रदान की।

हालांकि इन आग्रहों को, कि वानिकी कार्य खुद ही वनों के विनाश के जिम्मेदार है, बहुत ही सोच समझकर, जांच के बाद ही स्वीकार किया जाना चाहिये, इन्हें इतनी आसानी से दर किनार नहीं कर दिया जाना चाहिए।

इसे भी समझा जाना चाहिये कि हालांकि वन विभाग द्वारा किये गए वानिकी कार्यों ने कुछ हद तक नकारात्मक भूमिका अदा की, लेकिन वनों के पूर्ण विनाश की जिम्मेदारी वन विभाग पर नहीं थोपी जानी चाहिए।

सैन्य और व्यवसायिक हितों को पूरा करने के लिए सड़कों के विस्तार, मिट्टी कटाव को रोकने के लिए कोई सुरक्षा मानक अपनाए बिना, बांधों का निर्माण, जहरीले औद्योगिक कचरे पर नियंत्रण करने में असफलता भी वनों के विनाश के लिए जिम्मेदार हैं। हाल में प्रतियोगिता करने वाली जातियों के विनाश के लिए बायो–टेक्नोलॉजिकल मेनिपुलेशन की भी सूचना मिली है।

इस तरह की हानि और वनों का विनाश कामगारों को दो तरीकों से प्रभावित करता है– पहला, वनों में विनाश और कटौती से उनकी आजीविका का आधार घटा है। दूसरे, इससे वे कम होते वन्य संसाधनों पर निर्भर रहने को मजबूर हो गए हैं, जिसकी वजह से और भी कमी आ रही है। हालांकि दूसरों के कामों से एक खतरनाक दायरा बन गया है, समाज का उच्च वर्ग वन्य कर्मियों का इस्तेमाल कर रहा है।

jk'kuh vkj v/kjk % ouk d l nHk e v/kh nkM

जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है कि आदिवासी लोग खुद ही युद्ध के रास्ते पर हैं। इसके अतिरिक्त इस लम्बी दौड़ में वनों में कमी और विनाश, बाढ़, सामानों में कमी, आमतौर पर जो जंगल से दूर रखी जाती थी, के माध्यम से वन लोगों को प्रभावित कर रहे हैं। अब वन के ठेकेदारों और वन विभाग के अन्य अधिकारियों के भ्रष्ट कामों के प्रति आंखें मूंदना तो संभव नहीं है। भारतीय राज्यों का प्रारम्भिक कार्य इन ड्रकोनियन मानकों के खिलाफ प्रतिक्रिया करना था। 1976 में वनों को संविधान में 42वें संशोधन के द्वारा केन्द्र और राज्य के समवर्ती क्षेत्राधिकारी में शामिल कर लिया गया। 1980 के संसद वन संरक्षण अधिनियम पारित किया गया, जिसमें केन्द्र सरकार की अनुमति के बिना वनों के रख रखाव के अलावा अन्य किसी कार्य के लिए पेड़ों को उखाड़ने पर प्रतिबंध लगा दिया गया। इससे वनवासियों को अपनी बुनियादी जरूरतों को पूरा करने के लिए अनंत परेशानियाँ झेलनी पड़ीं। कुछ स्थानों पर घरों की मरम्मत, पेयजल के लिये कुओं की खुदाई और जीने के अधिकार से जुड़े आवश्यक काम किये गए। विभिन्न स्थानों से विराधों और प्रतिरोधों के बाद अधिनियम में थोड़ा बहुत परिवर्तन किये गए।

ड्रेकोनियन मानक अपनाए जाने से पहले ही सरकार ने 'सोशल फोरेस्ट्री प्रोग्राम' लागू किया। इसमें रिक्रिएशनल फोरेस्ट्री, फार्म फोरेस्ट्री, सड़कों या नहरों के किनारे स्ट्रिप फोरेस्ट्री भी शामिल है यह सब खत्म होते हुए वनों में वृक्षारोपण और अधिकार के लिए ग्रामीण समुदाय की भागीदारी से हुआ। शुरू में तो इस कार्यक्रम को बहुत अच्छी सकारात्मक प्रतिक्रिया मिली। लेकिन बाद में, देखा गया कि अमीर किसान, अच्छी कृषि भूमि पर भी वाणिज्यिक रूप से महत्वपूर्ण फसलें लगाकर इस कार्यक्रम का लाभ लेने लगे। इससे कई किसान भूमिहीन खेतिहार मजदूर बनकर रह गए और कुछ शहरों की ओर पलायन कर गए और वहाँ झुग्गियों में रहने लगे। सड़कों और नहरों के किनारे पेड़ लगाना भी अपने आप में बड़ी समस्या हो गई। बहुत से राज्यों में, सरकार ने 'ट्री–पुत्र स्कीम' अपनाई लेकिन यह योजना कारगर साबित नहीं हुई।

इन सबके बाद सामाजिक आंदोलनकारियों ने वन क्षेत्र के लिये भागीदारी दृष्टिकोण अपनाने की बात कही। 1988 में, केन्द्र सरकार ने एक राष्ट्रीय वन नीति प्रस्ताव रखा, जिसे संसद ने उसी साल पारित कर दिया। प्रस्ताव में कहा गया है मुख्य उद्देश्य पर्यावरणीय स्थायित्व और पर्यावरणीय व वातावरण का संतुलन बनाए रखना होना चाहिए न कि आर्थिक लाभ कमाना। देश के कुल क्षेत्र का 1/3 भाग वनों से आच्छादित होना चाहिए। लघु वन्य उत्पादों की सुरक्षा की जानी चाहिए और इस तरह से सुधार किया जाना चाहिए जिससे आदिवासी जनता का भी भरण–पोषण हो सके।

1988 की वन नीति के आधार पर, विश्व बैंक द्वारा वित्तीय सहायता प्राप्त, एक संयुक्त वन प्रबंधन कार्यक्रम चलाया गया। फिर से एक अंधी दौड़ शुरू हो गई।

l;Dr ou icU/ku ¼t,Q,e½

1 जून 1990, को पर्यावरण और वन मंत्रालय ने एक पर्चा जारी किया जो खत्म होते हुए वनों की सुरक्षा, प्रबंधन और पुनरूद्धार के लिये ग्रामीण समुदायों और गैर सरकारी संगठनों की भागीदारी के लिये था।

जेएफएम योजना वाले इलाकों में राज्य वार प्रक्रिया में कुछ भिन्नता की गई थी जैसे– काम करने वाले समुदायों की इकाई, पारम्परिक आदिवासी नेताओं की भूमिका, पंचायतों और गैर सरकारी संगठनों की भूमिका, वन के अलावा अन्य विभाग, सरकारी विभागों की भागीदारी, वन सुरक्षा समितियों का स्तर आदि। विभिन्न राज्यों में क्रियान्वित जेएफएम योजना को देखने पर स्पष्ट होता है कि वन अधिकारी ही पूरी डोर संभाले हुए थे। कुछ राज्यों में योजना राजस्व भूमि पर लागू की गई और कुछ राज्यों में वन सुरक्षा समितियाँ, चयनित पंचायतों का पारम्परिक नेतृत्व ढांचे को बाईपास कर रही थी। इस तरह ग्रामीण समुदायों को विभाजित करते हुए शक्ति के दो केन्द्र बन रहे थे। अगर जेएफएम सही मायने में वनों की सुरक्षा के लिये था तो फिर वन अधिकारियों के काम, स्व–शासन के स्थानीय संगठनों की प्रतिक्रिया के लिये प्रस्तुत किये जाने चाहिए थे।

lokPp U;k;ky; dk Qlyk vkj t,Q,e d rgr] fo'k"kr% joU; yM yxk, x, o{k

1997 में एक जनहित याचिका (C 202, 1995) में सर्वोच्च न्यायालय ने न्यायिक घोषणा में कहा कि किसी कानूनी स्तर या सामुदायिक वनों सहित मालिकाना हक को ध्यान में रखे बिना सभी वन, 1980 के वन संरक्षण अधिनियम के तहत आते हैं और संघीय सरकार की अनुमति के बिना वन कार्य योजना के अलावा किसी भी कार्य के लिये पेड़ काटने पर प्रतिबंध है। इसका मतलब रेवेन्यु या तथाकथित बेकार, जमीन पर का उचित उपयोग करना था, उसे चरागाह या फिर कन्दमूल, फल, खाने वाली पौध और चिकित्सीय पौध लगाई जा सकती है जो ग्रामीण गरीबों की आजीविका का स्त्रोत है, जिसे जेएफएम में पहले ही कवर किया जा चुका है, यह जमीन राज्य और केन्द्रीय स्तर पर टेक्नो–ब्यूरोक्रेट्स के नियंत्रण में रहेगी। ग्रामीण और आदिवासियों के जीने का अधिकार अब जितना असुरक्षित है, उतना कभी नहीं था।

to&fofo/krk dUo'ku vkj to&"kM;=

1992 में रियो के पृथ्वी सम्मेलन में बायो–डायवरसिटी कन्वेंशन स्वीकार की गई और भारत ने कहा कि जैव–विविधता के प्रयोग और संरक्षण के बारे में देशज लोगों के ज्ञान और कुशलता का सम्मान किया जाना चाहिये और उसे लिखा जाना चाहिए, लेकिन इसमें ऐसी ज्ञान व्यवस्था पर बौद्धिक सम्पदा अधिकार इसलिये नहीं होना चाहिये क्योंकि यह आम जनता से जुड़ा है और इसमें कुछ भी नया नहीं है।

यहां तक कि कन्वेंशन से पहले ही सरकारी संस्थानों सहित अनेक संस्थानों ने राज्य सरकारों, विश्वविद्यालयों और शोध संस्थानों ने आदिवासी लोगों के प्राकृतिक चीजों के इस्तेमाल और ज्ञान को लिखित दस्तावेजों में प्रकाशित करना शुरू कर दिया था। मल्टीनेशनल और राष्ट्रीय मोनोपोली ने इस दस्तावेजों का फायदा उठाया। 1982 से भारत सरकार एक एथनो–बायोलॉजिकल सर्वे प्रोजेक्ट लागू कर रही है, जिसमें निहित स्वार्थों के चलते विवादास्पद कार्य किये जा रहे हैं। यहां तक कि केरल के सरकारी विभाग ने भी इसे चुनौती दी है।

Hkkjrh; ykdr= dk [krjk

केवल आदिवासी लोगों के जीने के अधिकार को ही खतरा नहीं है बल्कि पूरे भारतीय लोकतंत्र को खतरा है।

इंडिया टुडे ने अगस्त, 10.19.98 के अपने अंक में केन्द्रीय वन और पर्यावरण राज्य मंत्री, श्री सुरेश प्रभु का एक इंटरव्यू प्रकाशित किया है। इंटरव्यू में वन मंत्री ने कहा, हालांकि जेएफएम द्वारा 3.5 मिलियन हेक्टेयर जमीन कवर की गई जिसकी देखभाल 2800 ग्रामीण वन सुरक्षा समितियां कर रही हैं, उन्होंने 2 लाख गांवों तक योजना ले जाने की योजना बनाई है। इन गांवों में, सभी विकास कार्यक्रम वन प्रशासन के माध्यम से हो रहे हैं। यानि दशकों पहले नौकरशाही ढांचे और लोकतांत्रिक पंचायती निकायों के बीच संतुलन के लिये किये गए प्रयोग को थोड़ा से बदला जाएगा। शायद वन मंत्री को अपनी बात के प्रभाव का खुद भी अंदाजा नहीं था। लेकिन एक जिम्मेदार मंत्री द्वारा ऐसी बात कहे जाने का मतलब है कि प्रत्येक व्यक्ति को भारतीय लोकतंत्र के भविष्य के प्रति सजग रहना चाहिये।

ekxk dk pkVj

1. एक उच्च स्तरीय आयोग का गठन किया जाना चाहिये, जो प्रत्येक राज्य में वन भूमि और राज्य वन क्षेत्र से संबंधित सभी मामलों पर विचार करे और साथ ही संबंधित समुदायों से पुनः समझौता करें।

2. समितियों द्वारा फोरेस्ट डिवीजन स्तर पर सभी वन कार्य योजनाओं पर पुनः विचार किया जाना चाहिये,जिसमें गैर अधिकार विशेषज्ञ, सामाजिक आंदोलनकारी और आदिवासियों के प्रतिनिधि शामिल हों।

3. जब तक लोगों के बौद्धिक सम्पदा अधिकार को कानून के तहत मान्यता नहीं दी जाती। तब तक जैव–षड़यंत्र रचने वाली सभी वैज्ञानिक गतिविधियों पर रोक लगानी चाहिए।

5. वन सुरक्षा अधिनियम 1980 केवल जेएफएम और सोशल फोरेस्ट्री वाले इलाकों में ही नहीं बल्कि सभी श्रेणी के जंगलों पर लागू होना चाहिए और उसकी निगरानी समुदायों द्वारा की जानी चाहिए जिसमें सभी स्तरों पर आदिवासी प्रतिनिधि,

सामाजिक आंदोलनकारी और पंचायती राज संस्थाओं द्वारा चिन्हित विशेषज्ञ या पारम्परिक आदिवासी संस्थाएँ जुड़ी होनी चाहिए।

6. वन सुरक्षा समितियों को पंचायती राज संस्थाओं या स्वशासन की पारम्परिक आदिवासी संस्थाओं द्वारा प्रत्यायोजित अधिकार के आधार पर काम करना चाहिए।

7. वन कर्मियों के स्व–प्रबंधन के वर्तमान ढांचे पर पुनर्विचार किया जाना चाहिए और संविधान की छठीं अनुसूची की मान्यताओं के अनुसार होना चाहिए, जिसमें राज्य तंत्र में ज्यादा सुधार और सशक्तीकरण की जरूरत है।

8. वन कर्मियों के जमीन, वन और जमीन से जुड़े संसाधनों के सामुदायिक अधिकारों पर पुनर्विचार किया जाना चाहिए और सामुदायिक अधिकारों से तालमेल करते हुए बैंकिंग, कानूनों, कॉपरेटिव और अन्य वित्तीय संस्थानों से संबंधित कानूनों में संशोधन किया जाना चाहिए।

9. राज्य वन कर्मियों का रिश्ता पार्टनर का होना चाहिए जैसा कि सातवीं अनुसूची में केन्द्र–राज्य सम्बंध के बारे में कहा गया है।

10. प्रोजेक्ट से प्रभावित वन कर्मियों के पुनर्वास की राष्ट्रीय नीति भी इस तरह लागू की जानी चाहिए, जिससे इन कर्मियों के पारिवारिक और सामुदायिक जीवन की गुणवत्ता में भी सुधार आ सके।

11. बायो स्फीयर रिजर्व, अभ्यारण्य और राष्ट्रीय उद्यान बनाते समय स्थानीय संस्कृति, डेमोग्राफी ढांचे, राजनीतिक अर्थव्यवस्था, सामाजिक संगठन और लोगों के पर्यावरण प्रबंधन व्यवस्था को ध्यान में रखा जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त पर्यावरण–सुरक्षा के प्रबंधन कार्यों में जन–संस्थानों की भागीदारी होनी चाहिए। वन्य जीवन सुरक्षा अधिनियम 1972 को एक आयामी टेक्नो–ब्यूरोक्रेटिक ऑपरेशन की तरह काम नहीं करना चाहिए। ■

tutkrh; Hkwfe folcU/ku ij ;kstuk vk;ksx dh mi&lfefr dh fjiksVZ ij çkQslj jk; ceZu dh fVIi.kh

folcU/ku (एलिएनेशन) की संकल्पना करना आवश्यक है। सारे हस्तांतरण विसंबंधन नहीं हैं। अगर जमीन और जंगल को स्थिर पूंजी माना जाता है, तो समुदाय या व्यक्ति द्वारा प्रभावसीमा बिंदु (थ्रेशोल्ड पाइंट) तक जमीन और जंगल के कुछ तरह के अंतरण को स्थिर पूंजी से नगद पूंजी में रूपांतरण माना जा सकता है।

प्रभावसीमा बिंदु उस राजनीतिक अर्थव्यवस्था की प्रकृति पर भी निर्भर करता है जिसमें अधिकार सन्निहित है और संबंधित लोगों के आर्थिक और सामाजिक इतिहास पर भी। संबंधित अधिकारियों और व्यक्तियों के सांस्कृतिक रूप से क्रमसूचित (कल्चरली ऑर्डिनेटेड) व्यवहार पैटर्न की भी कुछ प्रासंगिकता होती है। स्थिर पूंजी से नगद पूंजी में रूपांतरण हुआ है या नहीं, इसका निर्धारण इन बातों को ध्यान में रखते हुए मामला दर मामला किया जाना चाहिए : (1) प्राप्त कीमत का प्रतिस्थापन मूल्य (रिप्लेसमेंट वैल्यू) तथा (2) अनुकूल वातावरण से अलगाव के लिए कल्पित कीमत प्राप्त हुई है या नहीं। अगर मुझे ठीक से याद है, तो 1990 के आसपास, जब रियो सम्मेलन की तैयारी चल रही थी, तो डाक्टर किरीट पारिख ने विशिष्ट पारिस्थितिकीय से अलगाव के लिए कल्पित कीमत पर एक आलेख वितरित किया था : (3) क्षतिपूर्ति की प्रकृति जिसमें प्राप्त कीमत/क्षतिपूर्ति को रखा गया है।

वर्ष 1974 से मैं विचार व्यक्त करता रहा हूं कि परियोजनाजनित विस्थापन के मामले में विस्थापित व्यक्ति को दी गई क्षतिपूर्ति और पुनर्वास के बीच संकल्पनात्मक तौर पर भेद किया जाना चाहिए। पुनर्वास ग्रहण की गई संपत्ति से निरपेक्ष, सभी नागरिकों के लिए खास प्रकार के मानकों के दायरे में होना चाहिए। क्षतिपूर्ति प्रतिस्थापन मूल्य के मुताबिक ली जाने वाली संपत्ति से संबंधित होना चाहिए जिसका एक भाग परियोजना द्वारा सृजित उद्यम में इक्विटी शेयर के रूप में होना चाहिए।

यह विचारपद्धति एक राजनीतिक अर्थव्यवस्था से दूसरी राजनीतिक अर्थव्यवस्था की ओर, जिस दिशा में देश सचेतन अथवा अचेतन तौर पर बढ़ रहा है, जाने की रणनीति के विचार से अनुप्राणित है।

मुझे स्वीकार करना चाहिए कि इस लाइन पर तीन दशक से भी पहले कुछ विचार देने के बाद अपनी चिंतन धारा के व्यवहारिक निहितार्थ का तार्किक निष्कर्ष निकाल लिया। उसके बाद से मैंने इस पर और कोई विचार नहीं दिया है। संभवतः मेरी

मानवतावादी भावना ने मेरी रणनीतिक विश्लेषण की क्षमता को कुंद कर दिया।

यद्यपि इस समय भी मैं इस रिपोर्ट के समेकित ढांचे का विश्लेषण प्रस्तुत नहीं कर सकता, लेकिन मैं समष्टि नीतिगत निर्णयों (मैक्रो पॉलिटिकल डिसीजन्स) के मुख्य क्षेत्र को चिन्हित करने का प्रयास करूंगा। रिपोर्ट में अनेक आवश्यक सूक्ष्मनीतिगत निर्णयों (माइक्रो पॉलिटिकल डिसीजन्स) पर विशेष बल दिया गया है जिससे प्रशंसनीय मानवीय नैतिक सरोकार प्रतिबिंबित होता है। इस पर बिना कोई समझौता किए, इसे संक्रियात्मक रूप से प्रासंगिक (फंक्शनली रिलिवेंट) समष्टि–नीतिगत निर्णय के खांचों में रखना आवश्यक है।

रिपोर्ट में उल्लेख किया गया है, जिसके बारे में मैं कहता रहता हूं कि ऐसी तीन प्रक्रियाएं हैं जिनके जरिए जनजातीय भूमि विसंबंधन होता है। ये हैं – (1) औपनिवेशिक अतीत के नियमों से संबंधित, (2) अभिलेखन, सामाजिक दर्शन और कल्याणकारी राज्य से संबंधित तथा (3) विज्ञान और प्रौद्योगिकी की प्रगति के कारण। कुल मिलाकर ये 1980 के दशक की मेरी चिंतन धारा के सारांश को काफी हद तक प्रतिबिंबित करते हैं, हालांकि मैंने रिपोर्ट में वर्णित शब्दों का ही इस्तेमाल किया है या नहीं, इस पर मैं आश्वस्त नहीं हूं। ऐसी स्थिति में मैं महसूस करता हूं कि ऐसे अनेक मुद्दे हैं जिन्हें श्रेणीकरण के पूर्ववर्ती ढांचे में संभवतः शामिल किया जा सकता है, लेकिन यह नीति विषयक योजनाकारों का ध्यान आकर्षित कर पाने में सक्षम नहीं होगा।

मैं शुरुआत 'सामाजिक दर्शन और कल्याणकारी राज्य' के साथ करना चाहूंगा। मेरा निवेदन यह है कि सही हो या गलत, लेकिन भारत 1980 के दशक के उत्तरार्द्ध से वैश्विक पूंजीवादी आर्थिक ढांचा के साथ गंठजोड़ का लक्ष्य लेकर सामुदायिक सहभागिता वाले राज्य के सामाजिक दर्शन से दूर हट रहा है। राज्य के इस अभिविन्यास में सूक्ष्मनीतिक प्रस्तुतियों के मानवतावादी नैतिक मूलाधार को तो सहानुभूति के साथ सुना जाएगा लेकिन इसे राजनीतिक आदर नहीं मिलेगा।

वैश्विक गठबंधनकारी समुदायवादी राज्य के इस सूत्रीकरण में समुदायों के उत्तरोत्तर बढ़ते नेटवर्क को उस प्रक्रिया में साझीदार के बतौर भूमिका निभानी होगी जो राजकीय प्रक्रिया और सामुदायिक प्रक्रिया का एक संश्लेषण है। इस विचारपद्धति का तार्किक निहितार्थ यह है कि जब तक अधिकार के अभिलेखन में समुदाय (खास अंचलों के लिए खास तौर पर प्रासंगिक ऐतिहासिक–पारिस्थितिकीय सीमाओं के संबंध में परिभाषित) राज्य का साझीदार नहीं होता है, तब तक प्रशासनिक मूलाधार का तर्क अनेक अधिकारों का अभिलेखन न करने की दिशा में जाएगा। इस प्रकार अधिकारों पर अनेक स्वरूपों में विसंबंधन का खतरा मंडराता रहेगा।

इस समझ के साथ, एक दशक पूर्व मध्य प्रदेश भूमि संहिता पुनरीक्षण समिति के सदस्य के रूप में मैंने सुझाव दिया था कि राज्यकर्मियों के तकनीकी सहयोग से अधिकारों के अभिलेख निर्माण एवं अनुरक्षण हेतु तैयारी और ग्राम प्राधिकार होना चाहिए।

मैं स्वीकार करता हूं कि अनेक विचलन भी होंगे, लेकिन मैं चिन्हित करता हूं

कि इसके दो लाभ होंगे : (क) सामुदायिक स्तर पर मान्यताप्राप्त लेकिन प्रशासनिक मूलाधार के लिहाज से उपेक्षित अनेक अधिकारों को मान्यता मिलेगी और उनका अभिलेखन होगा और (ख) दूरस्थ प्रशासनिक अधिकारियों पर असहाय निर्भरता के बजाय, परिषोधन (रैक्टिफिकेशन) की प्रक्रिया स्थानीय स्तर पर राजनीतिक सक्रियता का चरित्र ग्रहण कर लेगी। तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री दिग्विजय सिंह सहमत थे कि मेरे सुझाव का सीमित परीक्षण किया जा सकेगा, लेकिन राज्य प्रशासनिक तंत्र ने उसके साथ ऐसा रवैया अपनाया कि वह सीमित स्तर पर भी लागू नहीं हो सका।

वैश्विक गठबंधनकारी समुदायवादी राज्य प्रणाली इसे अनिवार्य बना देती है कि सामुदायिक भूमि और भूमि आधारित संसाधन रखने के अधिकार को मान्यता प्रदान की जाय अन्यथा रेस नल्लियस की विधिगत ज्ञानमीमांसा (जूरस्टिक ऐपिस्टेमोलॉजी) केंद्रित चतुर्दिक संकल्पना की अव्यवस्था जारी रहेगी। जब भारतीय राज्यसत्ता ने कल्याणकारी राज्य की विचारधारा से स्पष्ट तौर पर हटना शुरू किया, उसके पहले भी मैंने श्रीमती इंदिरा गांधी से सामुदायिक भूमि अधिकारों के अभिलेखन और भूमि कानूनों में ही नहीं, बैंकिंग कानून और सहकारिता कानून में भी संबंधित संशोधन की समस्या पर चर्चा की थी। उनके अनुरोध पर डाक्टर मनमोहन सिंह, डाक्टर एम.एस. स्वामीनाथन और मेरी बैठक की भी व्यवस्था की गई थी। इसके बाद कुछ कार्रवाई भी हुई। लेकिन श्रीमती इंदिरा गांधी की हत्या के बाद इस कार्यवाही को ध्यान में रखने की राजनीतिक इच्छा का समय के साथ क्षरण होता गया।

वर्तमान में ऐतिहासिक तौर पर ढांचाबद्ध सामुदायिक अधिकार के अंतर्गत सन्निहित सामुदायिक स्वामित्व अधिकार के अभिलेखन के लिए विभिन्न राज्यों के भूमि सर्वेक्षण एवं बंदोबस्ती अधिनियमों में कोई उपयुक्त और पर्याप्त प्रावधान नहीं है। परिणामस्वरूप कुछ राज्यों में, जैसे कि उड़ीसा में अनेक क्षेत्रों में जनजातियों के कब्जे वाली मुश्किल से एक प्रतिशत जमीन का ही उनके पक्ष में अभिलेखन किया गया है। जनजातीय प्रधानता वाले राज्य मिजोरम में भी यही बेचैनी देखी गई है।

पश्चिम बंगाल में, जहां सामुदायिक भूमि अधिकार को सरकारी मान्यता प्राप्त थी और उसका टोपोपाड़ा नामक गांव में अभिलेखन भी किया गया था, पहले के सर्वेक्षण और बंदोबस्ती अभिलेखों में प्रासंगिक कॉलम में ज्यादातर प्रविष्टियां इस प्रकार की थीं – 'प्रधान, समुदाय की ओर से'। 1980 के आसपास 'आदिम जनजाति' घोषित टोटो लोगों को लाभ देने के लिए सामुंदायिक भूमि निजी कब्जाधारियों (ऑक्यूपैंट्स) को देने का निर्णय किया गया। फलतः, अत्यंत महत्वपूर्ण सामुदायिक अधिकार को कैसे दर्ज किया जाय, इसके बारे में अधिनियम के अंतर्गत कानून की मौजूदगी के अभाव में टोटो लोगों के कब्जे की 2,100 एकड़ जमीन में से मात्र 300 एकड़ के आसपास जमीन ही उनके पक्ष में दर्ज की गई। थोक भाव से विसंबंधन हुआ, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। जहां उड़ीसा में पुराकालीन सामंती मुस्तादारी प्रणाली (मुस्तादारी प्रणाली से भिन्न रूप में) के उन्मूलन के बहाने का उपयोग आम आदमी के सदियों पुराने पारंपरिक अधिकारों के उन्मूलन हेतु

किया गया, वहीं मणिपुर के कुछ हिस्सों और झारखंड में जनता के अधिकार के क्षरण हेतु सीमित सफलता के साथ (भूमि सुधार के आवरण में) नवसामंतीकरण की प्रक्रिया का उपयोग किया गया।

मैं जो बात बताना चाहता हूं, उसका सारांश यह है कि सदिच्छापूर्ण बुद्धिवादी प्रशासनिक विचारपद्धति मूल्यवान चीज है, लेकिन जब तक यह राजनीतिक समाजविज्ञान अथवा राजनीतिक नृविज्ञान की अंतर्दृष्टि से अनुप्राणित नहीं होगी, तब तक महत्वपूर्ण और प्रभावी नीतिगत निर्णय लेना मुश्किल है।

दिनांक : 2 जून, 2006

सेवार्थ,
श्रीमती मीना गुप्ता
सचिव,
जनजातीय कार्य मंत्रालय,
शास्त्री भवन,
नई दिल्ली – 110001

ज्ञापांक : एसएच/ सीआरईएसपी/ बीकेआरबी/52/एम. गुप्ता/ 2006

प्रिय श्रीमती गुप्ता,

योजना आयोग ने भूमि संबंध पर एक कार्यदल का गठन किया है जिसने अपनी ओर से जनजातीय भूमि विसंबंधन पर एक उप–समूह का गठन किया है।

उप–समूह का नेतृत्व भारतीय प्रशासनिक सेवा के उड़ीसा संवर्ग के अधिकारी श्री अरबिंद बेहरा करेंगे। उप–समूह के एक सदस्य के साथ श्री बेहरा मुझसे मिले। उन्होंने उप–समूह की प्रारूप रिपोर्ट की एक प्रति मुझे सौंपी और उस पर अपनी राय देने का अनुरोध किया।

प्रारूप रिपोर्ट को पढ़ने के बाद मैंने पाया कि भूमि विसंबंधन की विभिन्न प्रक्रियाओं के श्रेणीकरण के लिए उप–समूह ने 1980 के दशक के मेरे संकल्पनात्मक ढांचे को अपनाया है। 1980 के दशक के बाद से मेरे विचार में काफी परिवर्तन हुआ है, हालांकि इस पर मैंने व्यवस्थित ढंग से विस्तारपूर्वक कार्य नहीं किया है। तथापि, भूमि विसंबंधन के मुद्दे पर मेरी मूलभूत विचारपद्धति में कुछ निरंतरता है। मैं पाता हूं कि भूमि विसंबंधन के मुद्दे पर विभिन्न सरकारी प्रतिवेदन अनिवार्यतः विवरणात्मक हैं जिनमें नीतियों और विधानों के क्रियान्वयन में विफलता पर जोर दिया गया है। 1960 के दशक से मैंने एक स्थिति अपनाई है कि भूमि विसंबंधन के मुद्दे को राजनीतिक अर्थव्यवस्था के व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखा जाना चाहिए। भूमि विसंबंधन रोक पाने में राज्य की विफलता महज क्रियान्वयन की विफलता नहीं, उपयुक्त नीति अपनाने की भी विफलता है।

चूंकि योजना आयोग के उप–समूह के अध्यक्ष द्वारा मुझे उपलब्ध कराया गया दस्तावेज प्रारूप एक रिपोर्ट है इसलिए आप भी योजना आयोग से उसकी प्रति हासिल कर सकती हैं। इसके साथ उप–समिति के अध्यक्ष को मैं अपनी टिप्पणी का सारांश भेज रहा हूं जो मोटे तौर पर स्वतः स्पष्ट है।

अपनी प्रस्तावित चर्चा के दौरान भूमि विसंबंधन समेत जनजातीय भूमि संबंध का मुद्दा सामने आएगा। चूंकि भेजे जा रहे सारांश में कुछ ऐसे नीति विषयक मुद्दों को शामिल किया गया है जिस पर नजर नहीं गई है, इसलिए आप अपनी ओर से भी पड़ताल कर सकती हैं।

शुभकामनाओं के साथ

विश्वासभाजन
बी.के. राय बर्मन

संलग्न : उक्त

lfo/kku dh ikpoh vu|lph vk|j tutkrh; Lo'kklu

lfo/kku के अनुच्छेद 244(1) में कहा गया है कि ''पांचवीं सूची का प्रावधान असम, मेघालय, त्रिपुरा और मिजोरम को छोड़कर किसी भी राज्य के अनुसूचित क्षेत्रों एवं अनुसूचित जनजातियों के प्रशासन एवं नियंत्रण पर लागू होगा''। इसके विपरीत अनुच्छेद 244(2) में कहा गया है कि ''छठी अनुसूची के प्रावधान असम, मेघालय, त्रिपुरा और मिजोरम के जनजातीय क्षेत्रों के प्रशासन पर लागू होंगे''।

उल्लेखनीय है कि जहां छठी अनुसूची में 'जनजातीय क्षेत्रों के प्रशासन' की बात कही गई है, वहीं पांचवीं अनुसूची में 'अनुसूचित क्षेत्रों और अनुसूचित जातियों के प्रशासन एवं नियंत्रण' की बात कही गई है। दोनों अनुसूचियों की भाषा में महज अर्थ संबंधी अंतर नहीं है। इसके गहरे निहितार्थ हैं जिसे सातवीं पंचवर्षीय योजना (1985–90 पी12) के दौरान अनुसूचित जनजाति कार्यदल की रिपोर्ट में लाया गया है। इसे इस रूप में पढ़ा जा सकता है : ''पांचवीं अनुसूची का रुझान संरक्षी और यहां तक कि पितृसत्तात्मक भी दिखता है, वहीं छठी अनुसूची का रुझान स्वप्रबंधन की ओर झुका हुआ है''।

इस सामान्यीकृत परिप्रेक्ष्य को मस्तिष्क में पीछे धकेलते हुए, इस आलेख में पांचवीं अनुसूची के प्रावधानों का त्वरित मूल्यांकन किया जाएगा।

अनुच्छेद 6 के उप–अनुच्छेद (1) में कहा गया है, ''अभिव्यक्ति 'अनुसूचित क्षेत्र' का अर्थ ऐसा क्षेत्र है जिसे राष्ट्रपति अनुसूचित क्षेत्र घोषित करते हैं''। इसके अलावा अनुच्छेद 6 के उप–अनुच्छेद (2) में राष्ट्रपति में अनुसूचित क्षेत्र के निष्प्रभावीकरण, सीमाओं में फेर–बदल तथा सीमाओं के पुनर्निर्धारण के मामले में अनेक आनुशंगिक अधिकार निहित किए गए हैं।

पूर्ववर्ती अधिकारों के प्रयोग के क्रम में अनुसूचित क्षेत्र निम्नलिखित राज्यों में अधिसूचित किए गए हैं : आंध्र प्रदेश, बिहार (अभी सारे अनुसूचित क्षेत्र अविभाजित बिहार से कटकर बने झारखंड राज्य में अवस्थित हैं), गुजरात, हिमाचल प्रदेश, मध्य प्रदेश (अनुसूचित क्षेत्रों का बड़ा हिस्सा मध्य प्रदेश से कटकर बने राज्य छत्तीसगढ़ में चला गया है), महाराष्ट्र, उड़ीसा और राजस्थान।

इन 11 राज्यों में महज कुछ जिले, उप–जिले, तहसीलें (राजस्व प्रशासन विषयक इकाई), विकास प्रखंड और यहां तक कि कुछ राज्यों में गांव भी अनुसूचित क्षेत्र के रूप में अधिसूचित किए गए हैं।

वर्ष 2001 की स्थिति तालिकाबद्ध विवरण के रूप में नीचे प्रस्तुत है :

1	2	3	4	5	6	7	8	9
राज्य	जिलों की कुल संख्या	पूर्णतः अनुसूचित जिलों की संख्या	अंशतः अनुसूचित जिलों की संख्या	उपजिलों की कुल संख्या (तहसील /प्रखंड)	कॉलम 3 में शामिल जिलों समेत	कॉलम 3 में शामिल पर 4 से बाहर उपजिलों की संख्या	गांवों की कुल संख्या	कॉलम 3 और 6 से बाहर अनुसूचित गांवों की कुल संख्या अभ्युक्तियां
आंध्र प्रदेश	23	00	6	1125	3	28123	420	दो उपजिलों के गांवों की सूचियां अनुपलब्ध हैं
गुजरात	25	1	6	226	31	18536	00	बड़ोदरा जिले में एक महाल को उपजिला माना गया है
हिमाचल	12	2	1	109	2	20118	00	
मध्य प्रदेश	45	2	13	259	32	55393	600	गांवों की संख्या में 51 पटवारी कार्यक्षेत्र शामिल हैं, प्रत्येक में 10 गांव माने गए हैं
महाराष्ट्र	35	00	11	353	17	43711	2182	कॉलम 6 में 20 पूर्णतः अनुसूचित तहसीलें शामिल हैं, एक शहर नांदेड़ का अनुसूचित के बतौर अलग से उल्लेख है
उड़ीसा	30	7 (नए)	6	398	16	51349	00	
राजस्थान	32	2	3	241	8	41353	81	
झारखंड	15	5	2	210	8	32615	00	
छत्तीसगढ़	16	2	4	97	21	20308	00	बिलासपुर में एक राजस्व निरीक्षक के कार्यक्षेत्र को उपजिला माना गया है
	236	17	52	3021	145	311506	3283	

9 राज्यों के जिन 236 जिलों में संविधान की पांचवीं अनुसूची लागू है, उनमें से महज 17 जिले पांचवीं अनुसूची के तहत पूर्णतः और अन्य 52 जिले अंशतः शामिल हैं। उप–जिलों और तहसीलों का योग नहीं निकाला गया है क्योंकि कुछ राज्यों में उप–जिलों के आंकड़े तहसील स्तर पर उपलब्ध हैं, हालांकि तहसीलों के तहत विकास प्रखंड भी हैं; कुछ अन्य राज्यों में उप–जिलों के आंकड़े प्रखंड स्तर पर उपलब्ध हैं। फिर एक राज्य आंध्र प्रदेश में आंकड़े मंडल अथवा ग्राम संकुल स्तर के हैं। ग्राम स्तर पर योग करने से भी भ्रम पैदा होता क्योंकि जहां कुछ राज्यों में गांवों को पांचवीं अनुसूची के संक्रियात्मक अधिकारक्षेत्र (ऑपरेशनल जूरिस्डिक्शन) में अधिसूचित किया गया है, वहीं कुछ दूसरे राज्यों में शामिल किए गए गांवों के नाम नहीं, छोड़ दिए गांवों के नाम अधिसूचित किए गए हैं। तब भी पांचवीं अनुसूची के तहत स्थानों और जनसंख्या का आच्छादन संभव है क्योंकि भारत में 1961 की जनगणना से ही प्रत्येक गांव की सूचना उपलब्ध है। लेकिन चूंकि हजारों गांव शामिल हैं इसलिए किसी व्यक्ति के लिए जनगणना के प्रकाशनों से पांचवीं अनुसूची के संदर्भ में गांवों को खोज पाना अत्यंत कठिन है; जनजातीय कार्य मंत्रालय यह काम कर सकता था। लेकिन यह अवश्य सुनिश्चित किया गया है कि उनलोगों ने अनुसूचित क्षेत्रों के सामाजिक समूहों का राज्य एवं जिला स्तरों पर संबंधित योग के साथ भूक्षेत्र और जनसंख्या अनुपातों की गणना का कोई प्रयास संविधान लागू होने के 54 वर्ष बाद भी नहीं किया है।

इस आश्चर्यजनक चूक पर कोई टिप्पणी आवश्यक नहीं है।

तथापि, पांचवीं अनुसूची के तहत पूर्णतः अथवा अंशतः शामिल जिलों की सूची यहां दी गई है क्योंकि इसके महत्वपूर्ण नीतिविषयक निहितार्थ हैं।

1991 की जनगणना के अनुसार पांचवीं अनुसूची के तहत पूर्णतः या अंशतः शामिल जिलों की कुल जनसंख्या में जनजातीय जनसंख्या का प्रतिशत

jkT;	ftyk	ftys dh dqy vkcknh	ftys dh dqy vkcknh esa vttk vkcknh dk çfr'kr
आंध्र प्रदेश	विशाखापत्तनम	3385092	14.3
	पूर्वी गोदावरी	4541222	3.9
	पश्चिमी गोदावरी	3517568	2.4
	आदिलाबाद	2082479	17.0
	महबूबनगर	3077050	7.4
	वारंगल	2818832	13.7
गुजरात	• डांग	144091	94.0
	सूरत	3397900	36.1

	भंड़ौच	1546145	45.5
	वलसाड	2173672	54.9
	पंचमहाल	2956456	47.2
	वड़ोदरा	3089610	26.6
	साबरकांठा	226652	18.4
हिमाचल	• लाहौल एवं स्पीति	31294	77.0
	• किन्नौर	71270	55.6
	चंबा	362686	28.46
मध्य प्रदेश	• झाबुआ	1130325	85.7
	• मंडला	129103	60.8
	धार	1367412	53.7
	खरगौन (प. निमाड़)	2028145	46.2
	खंडवा (पू. निमाड़)	1431662	26.8
	रतलाम	971888	23.3
	बैतुल	1181501	37.5
	सिवनी	1000831	37.0
	बालाघाट	1365870	21.9
	होशंगाबाद	1267211	17.4
	राजगढ	942764	3.3
	सीधी	1373434	4.8
	शहडोल	1743869	46.3
	मुरैना	1710574	5.6
	छिंदवाड़ा	1568702	39.5
छत्तीसगढ	• बस्तर	2271314	67.4
	• सरगुजा	2082630	53.7
	रायगढ़	1723291	47.7
	बिलासपुर	3793566	23.0
	रायपुर	3908042	18.2
	राजनांदगांव	1439952	25.2

राजस्थान	• बांसवाड़ा	1155600	73.5
	• डुंगरपुर	874549	65.8
	उदयपुर	2889301	36.8
	सिरोही	654029	23.4
	चित्तौड़गढ़	1484190	20.3
उड़ीसा	• मयूरभंज	2802417	57.9
	• सुंदरगढ़	1573617	50.7
	• कोरापुट	3012546	54.3
	संभलपुर	2607153	27.4
	क्योंझर	1337026	44.5
	गंजाम	3158764	9.4
	कालाहांडी	1707753	31.0
	बालासोर	5522659	7.1
	कांधामल	647912	—
झारखंड	• रांची	2214048	43.6
	• लोहरदगा	288886	56.4
	• गुमला	1153976	70.8
	गोड्डा	861182	25.1
	पलामू	2451191	18.1
	• पश्चिम सिंहभूम	1787995	54.7
	• पूर्व सिंहभूम	1613088	28.9
महाराष्ट्र	थाने	1096592	18.1
	नासिक	3881352	24.2
	धुले	2535715	40.9
	जलगांव	3187634	9.8
	अहमदनगर	3372935	7.1
	पुणे	5532532	3.9
	नांदेड़	2330374	11.8
	अमरावती	2200057	14.0

	यवतमाल	2077144	21.5
	गढ़चिरौली	1771994	38.7
	चंद्रपुर	787010	19.7

• चिह्नांकित जिले पूर्णतः अनुसूचित हैं।

बिहार के सारे अनुसूचित जिले झारखंड में शामिल कर दिए गए हैं इसीलिए बिहार का उल्लेख यहां नहीं किया गया है। दूसरी ओर, अविभाजित मध्य प्रदेश के ज्यादातर पूर्णतः या अंशतः अनुसूचित जिले मातृ राज्य में ही अवस्थित हैं, हालांकि कुछ जिले मध्य प्रदेश से कटकर बने राज्य छत्तीसगढ़ में भी शामिल हैं। कुल अनुसूचित तथा अननुसूचित जिलों की गणना करते समय अविभाजित मध्य प्रदेश में स्थित संख्या पर ही विचार किया गया है क्योंकि छत्तीसगढ़ के बारे में संबंधित विवरण मेरे पास तत्काल उपलब्ध नहीं था।

यह उल्लेख करना जरूरी है कि यहां किए गए उल्लेख से वर्तमान स्थिति पूरी तरह अभिव्यक्त नहीं होती। कुछ जिलों को, खास कर उड़ीसा और झारखंड में, पुनर्गठित किया गया है और 1991 से 2001 के बीच कई नए जिलों का निर्माण किया गया है। कुछ मान्यताप्राप्त जिले अथवा नए जिले पुराने जिलों के अनुसूचित भाग को शामिल करते दिखते हैं। फलतः कुछ नवगठित जिले भी पांचवीं अनुसूची की शासन प्रणाली की जद में हो सकते हैं। बहरहाल, वर्तमान अपूर्ण सूचना के आधार पर जो पैटर्न उभरता है, वह इस प्रकार है :

15 पूर्णतः अनुसूचित जिले ऐसे हैं जहां अनुसूचित जनजाति की आबादी कुल आबादी में 50 प्रतिशत से अधिक है। उनमें अनुसूचित जनजातियों के सबसे कम प्रतिशत (50.7) वाला जिला उड़ीसा का सुंदरगढ़ है; अनुसूचित जनजातियों के सर्वाधिक प्रतिशत वाला जिला (94.0) गुजरात का डांग है। 50 प्रतिशत से कम अनुसूचित जनजातीय आबादी वाले पूर्णतः अनुसूचित जिलों की संख्या दो है। ये हैं पूर्वी सिंहभूम (28.9 प्रतिशत) तथा रांची (43.6 प्रतिशत); दोनों झारखंड में हैं।

अंशतः अनुसूचित जिलों में पांच ऐसे हैं जहां अनुसूचित जनजातीय आबादी 5 प्रतिशत या उससे भी कम है। इस श्रेणी में सबसे निचले पायदान पर आंध्र प्रदेश का पश्चिम गोदावरी जिला है जहां अनुसूचित जनजातीय आबादी 2.9 प्रतिशत है। छः जिले 6 से 10 प्रतिशत, चार जिले 11 से 15 प्रतिशत, 16 जिले 16 से 25 प्रतिशत, 11 जिले 26 से 40 प्रतिशत तथा 7 जिले 41 से 50 प्रतिशत अनुसूचित जनजातीय जनसंख्या वाले हैं। दिलचस्प बात यह है कि मध्य प्रदेश के धार जिले में अनुसूचित जनजातीय जनसंख्या 53.7 प्रतिशत है लेकिन वह पूर्णतः अनुसूचित नहीं है।

इस स्थिति में पांचवीं अनुसूची के अन्य अनुच्छेदों के विश्लेषण से विषयांतर करते हुए, यहां जनसांख्यिक रूपरेखा में अंतर्निहित परित्याग पैटर्न के नीतिगत आशय पर चर्चा की जाएगी। संविधान के अनुच्छेद 40 में उल्लिखित राज्य नीति के एक नीति निर्देशक सिद्धांत में कहा गया है कि ''राज्य ग्राम पंचायतों के गठन हेतु कदम उठाएगा और उन्हें

ऐसी शक्तियों एवं अधिकार से लैश करेगा जो उनके स्वशासन इकाई के रूप में काम करने हेतु सक्षम बनाने के लिए आवश्यक हो''। पूर्ववर्ती नीति निर्देशक सिद्धांत के अनुवर्ती के रूप में 1992 में संसद में 'संविधान (73वां संशोधन) अधिनियम' तथा 'संविधान (74वां संशोधन) अधिनियम' को स्वीकार किया गया था और अप्रैल 1993 में संविधान के भाग 9 और 9ए में शामिल किया गया था। संविधान के अनुच्छेद 243जी में 1993 में हुए संशोधन के अनुसार प्रावधान किया गया है कि ''किसी राज्य का विधानमंडल कानून बनाकर पंचायतों को ऐसी शक्तियों एवं अधिकारों से लैश करेगा जो स्वशासन की संस्था के रूप में काम करने हेतु उन्हें सक्षम बनाने के लिए आवश्यक होगा और ऐसे कानून में पंचायतों में विभिन्न स्तरों पर शक्तियों और उत्तरदायित्वों की सुपुर्दगी के लिए खास प्रावधान किए जाएंगे''। अनुच्छेद 243बी(1) का कहना है कि ''प्रत्येक राज्य में ग्राम स्तर, मध्यवर्ती स्तर तथा जिला स्तर पर पंचायतों का गठन किया जाएगा''। कुछ अपवादों का भी उल्लेख किया गया था। अनुच्छेद 243एम में अन्य चीजों के साथ–साथ खंड (1) में उल्लेख किया गया है कि इस भाग में किए गए उल्लेख की कोई भी चीज संविधान के अनुच्छेद 244 की धारा (1) में वर्णित अनुसूचित क्षेत्रों तथा धारा (2) में वर्णित जनजाजीय क्षेत्रों पर लागू नहीं होगी। हालांकि अनुच्छेद 243एम(4)(बी) में अन्य चीजों के अलावा उल्लेख किया गया है कि ''जब तक संविधान की किसी चीज द्वारा प्रतिषेधित न हो, संसद कानून बनाकर उस कानून में विनिर्दिष्ट अपवादों एवं संशोधनों के अनुरूप इस भाग के प्रावधानों का विस्तार खंड (1) में वर्णित अनुसूचित क्षेत्रों और जनजातीय क्षेत्रों तक कर सकता है और ऐसे किसी कानून को अनुच्छेद 386 के प्रयोजनों के लिए इस संविधान में संशोधन नहीं माना जाएगा''। ऐसे अधिकार प्रदान कर संसद ने 'पंचायती (अनुसूचित क्षेत्रों का विस्तार) अधिनियम 1996 का प्रावधान' लागू किया, जिसे संक्षेप में पेसा 1996 कहा जाता है। पेसा 1996 के खंड 4(जी) में निम्नलिखित उल्लेख किए गए हैं : (1) अनुसूचित क्षेत्र के प्रत्येक पंचायत में उस पंचायत में समुदायों की जनसंख्या के अनुपात में स्थानों का आरक्षण होगा जिसके लिए संविधान के भाग 9* के अंतर्गत आरक्षण देने का प्रयास किया जाएगा।

बशर्ते कि अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षण स्थानों की कुल संख्या के आधे से कम नहीं होगा।

बशर्ते यह भी कि सभी स्तरों पर पंचायतों के अध्यक्षों के सभी स्थान अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षित होंगे।

इस आलेख में उल्लिखित जनसांख्यिक रूपरेखा के अंतर्निहित पैटर्न के आधार पर जब पेसा अधिनियम 1996 के पूर्ववर्ती प्रावधानों की जांच की गई, तो निम्नलिखित कई समस्याएं स्पष्टतः दृष्टिगोचर हुईं।

पूर्व सिंहंभूम जैसे पूर्णतः अधिसूचित जिले में, जहां की आबादी में अनुसूचित जनजातियों की संख्या

महज 28.9 प्रतिशत है, यह मानने में कोई हर्ज नहीं है कि वहां ऐसे अनेक गांव होंगे जहां

(* भाग 9 में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षण का प्रावधान है)

अनुसूचित जनजातीय आबादी मौजूद नहीं होगी या उनकी नाम मात्र की उपस्थिति होगी। क्या उन गांवों में पंचायतों का प्रधान बनाने के लिए जनजातीय लोगों का आयात किया जाएगा?

सरगुजा (जहां की 53.7 प्रतिशत जनसंख्या जनजातीय है) जैसे पूर्णतः अनुसूचित जिलों में मध्यवर्ती स्तर के कुछ पंचायतों में भी संभवतः इसी प्रकार की समस्या उठ खड़ी होगी।

जिला स्तर पर, कानून के शब्द स्पष्ट नहीं हैं कि 2.9 प्रतिशत, 3.3 प्रतिशत, 4.8 प्रतिशत और इस तरह की जनजातीय आबादी वाले अंशतः अनुसूचित जिलों में भी यह प्रावधान लागू होगा या नहीं कि सभी स्तरों पर पंचायतों के अध्यक्षों के पद अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षित होंगे। अगर नहीं तो वे किस प्रतिशत पर लागू होंगे?

पहले भी इंगित किया जा चुका है कि नौ राज्यों के, जहां पांचवीं अनुसूची लागू है, 236 जिलों में से मात्र 16 जिले ऐसे हैं जहां अनुसूचित जनजाति बहुसंख्यक है (उसमें भी एक जिला महज अंशतः अनुसूचित है)। अन्य जिलों में उनकी आबादी 3 प्रतिशत से 48 प्रतिशत के बीच है। पेसा अधिनियम 1996 कोई संकेत नहीं देता है कि नीति निर्माताओं ने दूसरी श्रेणी के जिलों के संबंध में उठने वाली समस्याओं पर अपना दिमाग लगाया है या नहीं। वस्तुतः लगता तो यही है कि नीति निर्माताओं ने पांचवीं अनुसूची के अंतर्गत शामिल क्षेत्रों के जनसंख्या संयोजन के मामले में कभी ध्यान नहीं दिया और गलत मान्यताओं के आधार पर अपरिपक्व ढंग से नीति निर्माण की दिशा में बढ़ गए। अनुसूचित क्षेत्र के पंचायतों के लिए संविधान के भाग 9 के प्रावधानों के विस्तार हेतु विधेयक लाने के दौरान संबंधित मंत्री ने संसद को बताया कि अनुसूचित क्षेत्रों और जनजातीय क्षेत्रों में जनजातीय आबादी का अधिकांश हिस्सा रहता है, लेकिन यह तथ्य सटीक वक्तव्य नहीं है। 1991 की जनसंख्या के आधार पर आकलन है कि जिस समय मंत्री अपना वक्तव्य दे रहे थे, उस समय देश की मात्र 50 प्रतिशत के आसपास आबादी ही जनजातीय और अनुसूचित क्षेत्रों में रह रही थी। वस्तुतः कुछ राज्यों, जैसे कि आंध्र प्रदेश में अनुसूचित जनजातीय आबादी का 20 प्रतिशत भाग ही अनुसूचित क्षेत्रों में रहता था। ऐसा लगता है कि उनके सलाहकारों ने भी मान लिया था कि अनुसूचित क्षेत्रों की अधिसंख्यक आबादी अनुसूचित जनजातीय श्रेणी की होती है, जिसके बारे में पहले ही संकेत किया जा चुका है कि यह सही नहीं है। वस्तुतः पहले अनुसूचित क्षेत्र और अनुसूचित जनजाति आयोग (धेबर आयोग) ने 1960 में समर्पित अपनी रिपोर्ट में इस बात का संकेत किया भी है। तथापि, जब तक इस अत्यंत महत्वपूर्ण मुद्दे पर नीतिगत निर्णय नहीं लिया जाता है तब तक अधिकांश अनुसूचित क्षेत्रों में पेसा अधिनियम को लागू करना मुश्किल होगा।

स्वतःशोधी योजना के रूप में यह मानने पर कि छठी अनुसूची और पांचवीं अनुसूची

में जनजातीय स्वशासन की उपयुक्त व्यवस्था का प्रावधान किया गया है, जब यह पाया जाता है कि देश की जनजातीय आबादी का मात्र आधा हिस्सा ही दोनों अनुसूचियों द्वारा आच्छादित जनजातीय क्षेत्रों और अनुसूचित क्षेत्रों में रहता है, तो एक सवाल स्वाभाविक रूप से उठ खड़ा होता है : इन दो श्रेणियों के क्षेत्रों से बाहर रहने वाली अनुसूचित जनजातीय आबादी के स्वशासन को विशेष मदद पहुंचाने के लिए राजसत्ता की क्या नीति है?

लेकिन पांचवीं अनुसूची के प्रावधान क्या सचमुच जनजातीय स्वशासन को बढ़ावा देने वाले हैं? भारत सरकार की सातवीं योजना के अनुसूचित जनजाति विषयक कार्यसमूह की रिपोर्ट का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है जिसमें पांचवीं अनुसूची को अपने प्रयास में पितृकल्पीय (पैटर्नलिस्टिक) के रूप में वर्गीकृत किया गया है। इस श्रेणीकरण के मूलाध ाार पर सावधानीपूर्वक निगाह डालने की जरूरत है।

अनुसूची के भाग 1 में इस प्रकार कहा गया है ''इस अनुसूची में जब तक संदर्भ की अन्यथा व्याख्या की जरूरत न हो, 'राज्य' के अंतर्गत असम, मेघालय, त्रिपुरा और मिजोरम राज्य शामिल नहीं हैं''। ऐसा इसलिए है कि मेघालय (जिसके कुछ मौजे अथवा राजस्व गांवों के संकुल ऐसे हैं जो किसी अनुसूची में शामिल नहीं हैं) समेत चारो राज्यों के कुछ हिस्से छठी अनुसूची व्यवस्था के अंतर्गत आते हैं।

अनुच्छेद 2 में कहा गया है कि इस अनुसूची के प्रावधानों के आधार पर राज्य का कार्यकारी अधिकार अनुसूचित क्षेत्रों में समाहित किया गया है। इस पर ध्यान देना रोचक होगा कि देश के अनुसूचित जनजाति की प्रधानता वाले समस्त क्षेत्रों में पांचवीं अनुसूची के विस्तार हेतु अभियान चलाने वाले और साथ ही साथ पेसा अधिनियम 1996 के ऊपर मोहित (इसे क्रांतिकारी अधिनियम कहने की हद तक जाने वाले) कुछ प्रमुख लोगों की शिकायत है कि केंद्रीय विधान के मॉडल पर पूरी तरह राज्य विधान पारित करने के बाद भी एक राज्य ने राज्य के कार्यकारी अधिकार के समक्ष अनुसूचित क्षेत्रों के पंचायती राज संस्थाओं का आत्मसमर्पण करा दिया है। उनकी स्थिति में तार्किक अंतर्विरोध देखने का प्रलोभन थोड़ा आश्चर्यजनक लगता है।

वे ऐसा नही कर सकते कि पांचवीं अनुसूची के विस्तार हेतु अनुचित तरीके से अभियान चलाएं और अनुसूची के अनुच्छेद 2 द्वारा राज्य को सौंपे गए सर्वव्यापक शक्ति के प्रयोग पर आक्रोश भी व्यक्त करें।

अनुसूचित क्षेत्रों में भारतीय राजसत्ता का सर्वव्यापक अधिकार अनुसूची के प्रावधान संख्या 3 द्वारा और भी प्रबलित है। इसमें कहा गया है कि अनुसूचित क्षेत्रों वाले प्रत्येक राज्य के राज्यपाल वार्षिक आधार पर अथवा राष्ट्रपति की आवश्यकता के अनुरूप उस राज्य में अनुसूचित क्षेत्रों की प्रशासनिक दिशा के बारे में रिपोर्ट बनाएंगे और केंद्र के कार्यकारी अधिकार में उक्त क्षेत्रों में प्रशासन के संबंध में राज्य को दिशा देना शामिल किया जाएगा। पांचवीं अनुसूची के इस प्रावधान का गहरा निहितार्थ तब और भी अधिक स्पष्ट होता है जब इसका परीक्षण संविधान के 73वें और 74वें संशोधन के अंतर्गत 11वीं और

12वीं अनुसूचियों में दर्ज इस्तेमाल योग्य शक्तियों के साथ किया जाता है। पंचायत निकायों द्वारा प्रयोग किए जाने योग्य एक अधिकार कृषि है जिसमें कृषि विस्तार भी शामिल है। विश्व व्यापार संगठन के समझौते के अंतर्गत केंद्र सरकार किसी क्षेत्र में बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा विकसित समापक बीजों (टर्मिनेटर सीड्स) के उपयोग को स्वीकृति प्रदान करने वाली कृषि नीति अपना सकती है। अनुसूचित क्षेत्रों के बाहर की पंचायतें इस नीति के प्रतिरोध का प्रयास कर सकती हैं क्योंकि इससे उस अंचल की कृषि व्यवस्था अस्तव्यस्त हो जाएगी; लेकिन पांचवीं अनुसूची के अधिकार क्षेत्र वाले पंचायतों के पास आत्मसमर्पण करने के सिवा कोई चारा नहीं है। पांचवीं अनुसूची का तीसरा अनुच्छेद जनजातीय स्वशासन का निषेध है।

अनुसूची का भाग बी अनुसूचित क्षेत्रों और अनुसूचित जातियों के प्रशासन एवं नियंत्रण से संबंधित है। इसमें दो अनुच्छेद – अनुच्छेद 4 और अनुच्छेद 5 शामिल हैं।

अनुच्छेद 4 में अनुसूचित क्षेत्रों वाले प्रत्येक राज्य में तथा भारत के राष्ट्रपति का निर्देश होने पर अनुसूचित क्षेत्र विहीन किंतु अनुसूचित जनजाति की आबादी वाले राज्य में जनजातीय सलाह परिषद की स्थापना का प्रावधान किया गया है जिसके तीन–चौथाई के यथासमीप अनुसूचित जनजातियों का प्रतिनिधित्व राज्य के विधानमंडल में होगा। हालांकि राज्य में जनजातीय विधानसभा सदस्यों की संख्या अगर जनजातीय सलाहकार परिषद के सदस्यों की संख्या से कम हो, तो शेष स्थानों को परिषद के सदस्यों द्वारा भरा जाएगा। तथापि, यदि किसी राज्य में जनजातीय विधानसभा सदस्यों की संख्या अगर 20 से अधिक हो, तो अनुसूची में इस बात का कोई संकेत नहीं है कि उनमें से 20 सदस्यों को कैसे चुना जाएगा। हालांकि अनुच्छेद 4 के उप–अनुच्छेद (3) में कहा गया है कि इन मामलों में आदेश देने या नियमन के लिए राज्यपाल कानून बना सकते हैं – (क) परिषद के सदस्यों की संख्या, उनकी नियुक्ति का तरीका तथा परिषद, उसके अधिकारियों और सेवकों की नियुक्ति, (ख) इसकी बैठकों का संचालन और उसकी सामान्य विधियां तथा (ग) सभी आकस्मिक मामले। इस प्रकार राज्य के संवैधानिक प्रमुख के रूप में डोर राज्यपाल के हाथों में है।

हालांकि सबसे महत्वपूर्ण अनुच्छेद 4 का उप–अनुच्छेद (2) है जिसमें कहा गया है कि जनजातीय सलाहकार परिषद का 'कर्तव्य' उसके पास भेजे जाने वाले राज्य में अनुसूचित जनजातियों के 'कल्याण और अग्रगति' से संबंधित मामलों पर 'सलाह' देना है। ध्यान दिया जाना चाहिए कि परिषद ऐसे मामलों में, जो उसके पास राज्यपाल द्वारा भेजे जाते हैं, सिर्फ 'सलाह' दे सकता है। परिषद खुद से अपनी बैठक नहीं आयोजित कर सकता है, न स्वयं तय कर सकता है कि 'कल्याण' अथवा 'अग्रगति' हेतु प्रासंगिक मामले कौन से हैं और इन शब्दों का अर्थ क्या है जिन पर उसे सलाह देनी चाहिए। इस उप–अनुच्छेद के साथ कुछ अन्य मामले भी जुड़े हैं। उदाहरण स्वरूप, एक मुद्दा इस उप–अनुच्छेद में 'सलाह देने का कर्तव्य' पद के उपयोग से उत्पन्न उलझन का है। अगर परिषद उसके पास भेजे गए मामले पर सलाह देने से इनकार करता है और इस प्रकार 'कर्तव्य' निभाने में असफल होता है तो क्या होगा? इस बात का भी कोई संकेत नहीं है कि

अगर राज्यपाल उसकी सलाह को स्वीकार नहीं करता है तो परिषद कोई उपचारी उपाय (रेमेडियल मेजर्स) कर सकता है या नहीं।

अनुच्छेद 5 में अनुसूचित क्षेत्रों में लागू होने वाले कानूनों पर चर्चा है। तथापि जिस पर चर्चा है वे कानून अथवा स्पष्ट और सुसंगत सामान्य सिद्धांत न होकर विशिष्ट विधिक उपकरणों के अभिप्राय में विशेष कानून हैं। उप–अनुच्छेद (1) में कहा गया है कि इस संविधान में अन्यथा उल्लेख न हो, तो राज्यपाल सार्वजनिक अधिसूचना द्वारा यह निर्देश दे सकता है कि संसद या राज्य विधानमंडल का कोई खास अधिनियम अनुसूचित क्षेत्र अथवा राज्य के किसी भाग में लागू नहीं होगा, सिवा उन अपवादों अथवा संशोधनों (मॉडिफिकेशंस) के जिसका वह अधिसूचना में उल्लेख करे और इस उप–अनुच्छेद के तहत दिया गया कोई निर्देश भूतलक्षी प्रभाव वाला हो।

अनुच्छेद 5 के उप–अनुच्छेद (2) में कहा गया है कि राज्यपाल राज्य के किसी हिस्से के लिए विधान बना सकते हैं जो अस्थायी तौर पर अनुसूचित क्षेत्र हो।

''विशेष कर और पूर्ववर्ती शक्ति की सामान्यता के प्रति पूर्वाग्रह के बिना, ऐसे विनियम (रेगुलेशंस) (क) उस क्षेत्र में अनुसूचित जनजाति के लोगों द्वारा या उनके सदस्यों के बीच भूमि का हस्तांतरण वर्जित कर सकते हैं अथवा उस पर रोक लगा सकते हैं, (ख) उस क्षेत्र में अनुसूचित जनजातीय लोगों को भूमि के आबंटन का विनयमन कर सकते हैं, (ग) उस क्षेत्र में उनलोगों के सूदखोरी के कारोबार का विनियमन कर सकते हैं जो अनुसूचित जनजातियों के सदस्यों को रकम उधार देते हैं''।

अनुच्छेद 5 का उप–अनुच्छेद (3) राज्यपाल को संसद अथवा राज्य विधानमंडल के किसी अधिनियम या संबंधित क्षेत्र में तात्कालिक तौर पर लागू किए जा रहे किसी कानून को निरस्त अथवा संशोधित करने का अधिकार देता है। तथापि अनुच्छेद के उप–अनुच्छेद (1) के विपरीत अनुच्छेद के उप–अनुच्छेद (4) की शर्त है कि अनुच्छेद 5 के तहत बनाए गए विनियम संसद की सहमति के बिना प्रभावी नहीं होंगे। इसके अलावा, अनुच्छेद के उप–अनुच्छेद (5) की शर्त है कि अनुच्छेद 5 के तहत तब तक कोई विनियम नहीं बनाया जाएगा, जब तक उस राज्य में जनजातीय सलाहकार परिषद के मौजूद होने पर विनियम बनाने वाली सरकार ऐसे परिषद से परामर्श न कर ले।

संपूर्ण अनुच्छेद 5 के साथ अनेक संदिग्ध स्थल और परेशान करने वाले सवाल जुड़े हैं। ये निम्नलिखित हैं :

1. उप–अनुच्छेद (1) में संविधान के मामले में अर्हक (क्वालिफाइंग) शब्द 'यह' थोड़ा उलझाने वाला है।

2. जहां राज्यपाल शब्द का प्रयोग पूरी अनुसूची में समरूप ढंग से हुआ है, वहीं इस अनुच्छेद के उप–अनुच्छेद (5) में सरकार शब्द का उपयोग ऐसे संदर्भ में हुआ है जो उलझाने वाला भी दिखता है। पहले भी कहा जा चुका है कि अनुच्छेद 5 के

उप–अनुच्छेद (5) में यह जतलाया गया है कि अगर राज्य में जनजातीय सलाहकार परिषद मौजूद हो, तो सरकार उससे परामर्श किए बिना कोई विनियम प्रख्यापित (प्रोमल्गेट) नहीं करे। इसका आशय यह लगता है कि (1) ऐसे राज्य भी हो सकते हैं जिनमें अनुसूचित क्षेत्र तो हों, लेकिन जनजातीय सलाहकार परिषद न हो, (2) राज्य में जनजातीय सलाहकार परिषद की अनुपस्थिति में अनुसूचित क्षेत्रों के मामले में सरकार खुद से कोई विनियम प्रख्यापित कर सकती है। लेकिन अनुच्छेद 4 अनुसूचित क्षेत्रों की उपस्थिति वाले राज्यों के लिए जनजातीय सलाहकार परिषद का गठन अनिवार्य बनाता है। इसके अलावा, अनुसूची में सरकार को जनजातीय सलाहकार परिषद के निलंबन का अधिकार देने वाला कोई प्रत्यक्ष प्रावधान नहीं है। किसी को भी आश्चर्य होगा कि अनुच्छेद 4(3)सी में एक गुप्त प्रावधान है जिसमें राज्यपाल को 'अन्य सभी आकस्मिक मामलों' में कानून बनाने हेतु अधिकृत किया गया है। उस परिस्थिति में अनुच्छेद 5(5) में 'सरकार शब्द का प्रयोग या तो एक खास अरुचिकर और संभावित अलोकतांत्रिक परिस्थिति के लिए किया गया है या फिर यह दुहराने के लिए कि संविधान के बुनियादी ढांचे के अनुरूप अनुसूची में राज्यपाल शब्द का जब भी प्रयोग किया जाएगा तो उसका अर्थ राज्य के संवैधानिक प्रमुख से अधिक कुछ भी नहीं होगा। या इसका अर्थ यह भी होगा कि जहां सरकार शब्द का प्रयोग हुआ है, वहां छोडकर शेष जगहों पर राज्यपाल का अर्थ अपने विवेक का इस्तेमाल करने का राज्यपाल का अधिकार होगा?

ऐसा लगता है कि यहां उठाए गए मुद्दों पर कानूनी राय लेना अनिवार्य है – (3) अनुच्छेद 5(1) में सामान्य सार्वजनिक अधिसूचना के जरिए प्रकाशित राज्यपाल की दूरगामी शक्तियों का उल्लेख है और दूसरी ओर अनुच्छेद, 5(2), 5(3) और 5(4) में राज्यपाल की सीमित विनियमकारी शक्ति का। प्रथमदृष्ट्या 'सामान्य सार्वजनिक अधिसूचना' द्वारा शक्ति का इस्तेमाल 'विनियम के प्रख्यापन' द्वारा शक्ति के इस्तेमाल के बहुत भिन्न है। अगर न्यायविद सुनिश्चित करते हैं कि ये दो श्रेणियों की शक्तियां हैं, तो अनुच्छेद 5(1) में उल्लिखित राज्यपाल की शक्ति पूरी तरह अलोकतांत्रिक है और संविधान के बुनियादी ढांचे के लिए विनाशकारी हो सकती है, खास कर जब इस पर ध्यान दिया जाता है कि इस उप–अनुच्छेद के अंतर्गत शक्ति के इस्तेमाल में राज्यपाल को जनजातीय सलाहकार परिषद की सलाह अथवा राष्ट्रपति की सहमति लेने की जरूरत नहीं है। यह संविधान में छुपा विस्फोटक हो सकता है और इसे यथाशीघ्र निष्क्रिय कर देना चाहिए। पुनः, इस पर भी ध्यान देना चाहिए कि यह अनुच्छेद 5(1) नहीं, अनुच्छेद 5(2) है जो आकस्मिक हो सकता है। (4) अनेक अनुसूचित क्षेत्र काफी संसाधन–संपन्न हैं और अनेक गैर–जनजातीय लोगों तथा निगमों ने कानूनी अथवा गैरकानूनी तरीके से विशाल भूक्षेत्र पर कब्जा जमा रखा है। अनुच्छेद 5(2)(ए और बी) में जनजातीय लोगों की जमीन की लेन–देन के बारे में तो विशेष रूप से उल्लेख किया गया है लेकिन गैर–जनजातीय लोगों द्वारा जमीन पर नियंत्रण या लेन–देन के बारे में नहीं। यह तर्क दिया जा सकता है कि राज्यपाल अपनी

विधिनिर्माता शक्ति की सामान्यता के इस्तेमाल के जरिए ऐसी लेनदेन का नियंत्रण एवं विनियमन कर सकते हैं। वैश्वीकरण के वर्चस्व वाले दौर में, जब अनुसूचित क्षेत्रों के संसाधनों पर लालच भरी नजरें टिकी हैं, उस समय यह जानना आवश्यक है कि सामने आने वाले भय से निपटने के लिए राज्यपालों ने वास्तव में अपनी शक्ति का इस्तेमाल किया है भी है क्या?

पांचवीं अनुसूची के भाग सी में अनुसूचित क्षेत्रों के विशेषीकरण हेतु प्रक्रियाओं पर विचार किया गया है। इस पर पहले भी चर्चा की जा चुकी है और संबंधित अधिकारियों के दोषयुक्त कामकाज पर जोर देकर जिक्र किया गया है।

भाग डी में अनुसूची में संशोधनों के बारे में प्रक्रियागत विवरणों का उल्लेख है। इसमें उल्लेख है कि इस मामले में किसी भी कानून को अनुच्छेद 368 के प्रयोजनों के लिए संविधान का संशोधन नहीं समझा जाएगा। इस पर कोई टिप्पणी की जरूरत नहीं है। ■

fo'o 0;oLFkk dk ifjn`'; esa n'kt vkSj tutkrh; leqnk;

fo'o 0;oLFkk vkSj n'kt rFkk tutkrh; leqnk;ks ij inkk

18oha शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही राष्ट्र धीरे–धीरे विश्व मंच पर सबसे प्रमुख और प्रत्यक्ष किरदार के रूप में उभरते गए। दूसरे विश्व युद्ध के बाद संस्था के तौर पर राष्ट्र का विकास भी हुआ है और क्षरण भी। युद्ध की आवश्यकताओं ने संघर्षरत उपनिवेशवादी देशों को औपनिवेशिक जनता की कई आकांक्षाओं को पूरा करने और अपनी पकड़ कुछ ढीली करने पर विवश कर दिया। युद्ध के बाद की अवधि में 25 वर्ष के भीतर ही यह जनता उपनिवेशवादी स्वामियों का तख्ता पलट कर सकती थी और पश्चिमी राष्ट्रों के मॉडल के भीतर ही स्वयं की राष्ट्र व्यवस्था निर्मित कर सकती थी और संयुक्त राष्ट्र में सदस्य राष्ट्र के तौर पर शामिल हो सकती थी। उन्होंने यह उम्मीद लगाई कि उस समय तक दुनिया में जो तकनीकी प्रगति हुई थी, वह उन्हें भी मुहैया हो जाएगी और उपनिवेशवादी शोषण के कारण ध्वस्त हो चुके उनके जीवन स्तर में भी अच्छा खासा सुधार होगा। उसके बजाय धनी देशों और निर्धन देशों के बीच खाई भी और चौड़ी होती गई। इस स्थिति से निपटने के लिए इन देशों (जिन्हें विकासशील देश भी कहा जाता है) ने 1964 में 77 सदस्यों वाला एक समूह बनाया और दो अंतरराष्ट्रीय संगठनों अंकटाड और यूनिडो की स्थापना के लिए प्रयास शुरू कर दिए। पेट्रोलियम का निर्यात करने वाले देशों के संगठन (ओपेक) ने भी पश्चिमी देशों के गुट की शक्तियां कम करने के प्रयास किए। 1974 में हाशिये पर मौजूद इन देशों को नए अंतरराष्ट्रीय समुदाय पर एक घोषणापत्र प्राप्त हो गया। विकसित और विकासशील देशों के बीच अंतर बढ़ना जारी रहा। घोषणापत्र में 20 बिंदु थे।

1979 तक राजनीतिक और आर्थिक रूप से अधिक अधिकार प्राप्त देशों (तथाकथित विकसित देशों) ने इस घोषणापत्र को किनारे करने में सफलता हासिल कर ली और उसके स्थान पर 'वैश्वीकरण, सशक्तिकरण और निजीकरण' के संबंध में बिल्कुल अलग नजरिये वाली कार्यसूची यानी एजेंडा लेकर वे आ गए। इसकी वजह से कमोबेश पूरी दुनिया को आर्थिक संकट का शिकार होना पड़ा है और 'इसकी वजह से 20वीं शताब्दी के अंतिम 25 वर्षों के दौरान ज्वलंत आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और सैन्य संघर्ष तक सामने आए।' (पटेल, 2000)

सबसे धनी और सबसे निर्धन देशों के बीच सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) का अनुपात 1820 में 3:1, 1931 में 11:1, 1950 में 35:1, 1973 में 44:1 और 1992 में 72:1 था। (मेयर, 2000)

असमान ढांचे वाली विश्व अर्थव्यवस्था में वैश्वीकरण पूंजीवाद की साम्राज्यवादी

मानसिकता को दर्शाती है, जिसमें विशाल देशों या संगठनों की सेवा के लिए श्रमिकों के साथ सामाजिक जोर जबरदस्ती तथा राज्य व्यवस्था का पुनर्गठन शामिल है। (रॉय चौधरी, 1999)

संयुक्त राष्ट्र महासभा के 54वें सत्र में अध्यक्ष बेन गुइरो ने अपने उद्घाटन भाषण में कहा कि वैश्वीकरण और बहुराष्ट्रीय संगठनों की निरंकुश शक्तियां विभन्न सरकारों खास तौर पर विकासशील देशों की सरकारों को दबा रही हैं। (गुइराब, 1999)

अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष (आईएमएफ) के प्रमुख कामडेसस (2000) पद छोड़ने से पहले अपने अंतिम भाषण में यह स्वीकार किया कि वैश्वीकरण के जरिये दुनिया भर में मानवीय परिस्थितियों में सुधार की उम्मीद थी, लेकिन 'उसने कमोबेश स्वायत्तशासी वित्तीय और तकनीकी ताकतों के इशारे पर ही काम किया है।' समीर अमीन का तो मानना है कि विश्व व्यापार संगठन वैश्वीकरण के नाम पर विश्व युद्ध के बाद के युग में ब्रेटन वुड्स संस्थानों (आईएमएफ और विश्व बैंक) को दरअसल अमेरिकी प्रभुत्व के हथियारों के तौर पर संचालित करता है। (ऐनिवेड, 1999)

रीगन 1981 में जब अमेरिकी में सत्ता में आए, तो इन संस्थानों को 'स्ट्रक्चरल एडजस्टमेंट प्रोग्राम' (सैप) की परियोजना का हिस्सा बना लिया गया। जी–7 देशों के पंचाट ने 1993 में अपने टोक्यो संकल्प में सैप के निम्नलिखित परिणाम बताए, बेरोजगारी में तेजी के साथ इजाफा, काम के बदले मेहनताने में कमी, खाद्य निर्भरता में बढ़ोतरी, पर्यावरण, स्वास्थ्य सेवा व्यवस्था, लोकतांत्रिक व्यवस्था में जबरदस्त विकृति और विदेशी ऋण में इजाफा। (समीर अमीन, 1997 12–13) इसके अलावा वैश्वीकरण की वजह से स्वकेंद्रित राष्ट्र का भी क्षरण हुआ है। इसकी व्याख्या इदेमी ने बताई है। (1999) नाइजीरिया के ओगानी क्षेत्र में जहां बहुराष्ट्रीय कंपनी शेल (रॉयल डच/शेल समूह) की वजह से पर्यावरण में हो रहे क्षरण के खिलाफ लोगों ने जबरदस्त आंदोलन छेड़ दिया तो सरकारी सेना ने आतंक फैलाना शुरू कर दिया। आरोप लगाया जाता है कि वहां इस बात के दस्तावेजी सबूत हैं कि शेल ने नाइजीरियाई सेना को ओगोनी में प्रवेश करने का निर्देश दिया। शेल ने भी यह बात स्वीकार की है कि उसने नाइजीरियाई सेना को हथियार दिलाए।

आजकल संयुक्त राष्ट्र को भी बड़े कारोबार का ही साझेदार माना जाता है। फरवरी 2000 में संयुक्त राष्ट्र महासचिव कोफी अन्नान और अंतरराष्ट्रीय वाणिज्य संघों ने एक संयुक्त बयान जारी किया, जिसमें उन्होंने घोषणा की, "संयुक्त राष्ट्र और व्यापारिक समुदाय को खास तौर पर ऐसे देशों में आर्थिक अवसर बढ़ाने के लिए मिल जुलकर काम करना चाहिए, जिनके सामने हाशिये पर डाले जाने का खतरा हो सकता है।" इस बयान में संयुक्त राष्ट्र और संगठनों से इसी कार्यसूची को आगे बढ़ाने के लिए 'साझेदारी' विकसित करने की अपील भी की गई। (बोली, अनडेटेड)

इन सभी घटनाक्रमों से पैराडाइम यानी नजरिये में बदलाव के संकेत मिलते हैं, जिनमें राज्य केंद्रित नजरिये के बजाय एक वैकल्पिक नजरिये पर जोर दिया जा रहा है।

(वास्की, 1998 पेज 21) कियोहोम और नाइल तथा मॉर्गेन्थाउ के आधार पर उन्होंने एक यथार्थवादी नजरिये तथा एक व्यावहारिक क्रांतिकारी नजरिये की बात की। यथार्थवादी नजरिया दरअसल अधिकारों या सत्ता पर केंद्रित नजरिया होता है और उसके उलट व्यावहारिक क्रांतिकारी नजरिये में ज्यादा खुले नजरिये के लिए पूरी जगह होती है। देशज और जनजातीय समुदाय के मामले में इसकी प्रासंगिकता काफी ज्यादा है। वैकल्पिक नजरिये की तरफ मुड़ने से पहले समीर अमीन के बयान का जिक्र करना होगा।

"आर्थिक वैश्वीकरण में तार्किक रूप से ही एक ऐसी विश्व राजनीतिक व्यवस्था के निर्माण की जरूरत होती है, जो एक ऐसी सत्ता व्यवस्था की चुनौतियों का जवाब दे सकता है, जो विश्व स्तर पर उसी तरह से सामाजिक हितों में समझौते कर सकती है, जिस तरह राष्ट्र सरकारें अपने स्तर पर करती हैं। लेकिन पूंजीवाद लगातार वैश्वीकरण की ओर बढ़ते संसार में अपने आर्थिक प्रबंधन और राष्ट्र के भीतर टुकड़ों में बंटे राजनीतिक तथा सामाजिक प्रबंधन के बीच बढ़ते विरोधाभास पर काबू पाने में असमर्थ है।" मैं यहां एक और बात जोड़ना चाहूंगा। मैं वैकल्पिक सत्ता व्यवस्था पर समीर अमीन की परियोजना को वहीं तक स्वीकार करता हूं, जहां तक उसे सत्ता व्यवस्था के परे जाने में भी आसानी से इस्तेमाल किया जा सकता है। मुझे लगता है कि इस मामले में स्थानीय और जनजातीय समुदायों पर इतिहास का पर्दा पड़ा है। (रॉय बर्मन, 1994:25) वे अपनी जिम्मेदारियों को किस तरह पूरा करेंगे, यह इस बात पर निर्भर करता है कि वे खुद को और अपने कामों को किस तरह परिभाषित करेंगे।

n'kt & vFk vkj fofo/k vFk

'देशज' समुदाय या जनता शब्द को कई अर्थों में प्रयोग किया जाता है। यहां इस बात का भी ध्यान रखना होगा कि अलग से जुड़े हुए समुदायों या जनता की पसंद में मूलभूत पारंपरिक और राजनीतिक सामाजिक विभिन्नता होती है। जनता शब्द के इस्तेमाल में मौलिक स्तर पर एक और अंतर है। सबसे पहले मैं किसी अन्य बात का जिक्र किए बिना देशज शब्द पर ध्यान केंद्रित करूंगा।

देशज शब्द का इस्तेमाल जिन तीन बड़े अर्थों में किया जाता है, वे हैं – (1) कालावधि के अनुसार (2) संबंध के आधार पर और (3) मानक के आधार पर।

कालावधि के अनुसार जब इस्तेमाल होता है, तो देशज का अर्थ सबसे पुराने निवासी का होता है। अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन (आई.एल.ओ) ने 1953 में अपने प्रकाशन "देशज जनताः स्वतंत्र देशों में आदिम जनता के जीवन और कार्य परिस्थिति" में यह स्वीकार किया कि प्रत्येक देश ने अपनी परंपरा, इतिहास, सामाजिक ढांचे और राजनीति आदि के आधार पर ही परिभाषा की समस्या का हल किया है। आईएलओ ने निर्णय किया कि इसके लिए सबसे जरूरी और महत्वपूर्ण स्वयं ही परिभाषा गढ़ना है। उसी के साथ आईएलओ ने कहा कि "देशज व्यक्ति प्राचीन समुदाय से आया वह व्यक्ति है, जो किसी जनजातीय अथवा आदिम समुदाय के सदस्य होने का दावा करता है। चालीस साल बीतने के बाद आज भी

आईएलओ को यही सबसे व्यावहारिक परिभाषा लगती है।" (आईएलओ, 1994, पेज 18) यहां यह स्पष्ट नहीं है कि 'यही' शब्द का प्रयोग किसके लिए किया गया है? यह स्वतः पहचान करने की बात है या प्राचीन समुदाय से आने की बात है? इसी प्रकाशन में एक अन्य स्थान पर देशज का अर्थ 'जनजाति' से लगाया हुआ प्रतीत होता है। लेकिन एशिया और अफ्रीका में जनजाति को देशज नहीं माना जाता क्योंकि इन स्थानों पर कुछ क्षेत्रों खुद को जनजातीय कहने वाले "आवश्यक रूप से अन्य लोगों से प्राचीन उद्भव वाले" नहीं होते। हालांकि मोटे तौर पर कहा जाए, तो यह स्पष्ट है कि आईएलओ ने देशज शब्द का इस्तेमाल कालावधि के अनुसार किया है, लेकिन उसने सामाजिक निकायों के लिए इसी या मिलती जुलती श्रेणी में इस शब्द का हरेक स्थान पर इस्तेमाल नहीं किया है। (यहां मैंने सामाजिक निकाय शब्द का इस्तेमाल जानबूझकर किया है क्योंकि आईएलओ ने उसी वाक्य में समूह और जनता शब्द का इस्तेमाल भी किया है और मुझे निश्चित रूप से नहीं पता कि यह इस्तेमाल जानबूझकर किया गया है या यों ही इनका प्रयोग हो गया है)

तार्किक आधार पर देशज शब्द का इस्तेमाल ज्यादा देखने को मिलता है। आईएलओ की व्याख्या के अनुसार "उत्तर और दक्षिण में किसी अपवाद के बगैर देशज और जनजातीय लोग आम तौर पर किसी भी राष्ट्र के समाज में गरीब होते हैं और हाशिये पर पड़े रहते हैं। कुछ देशज और जनजातीय समुदाय हैं, जो कुछ समय पहले तक अलग–थलग रहते थे और जिनकी पारंपरिक जीवन पद्धति धीरे–धीरे खत्म हो रही है। विश्व के एक अन्य भाग में उनके संसाधन आधार का बुरी तरह से शोषण किया जा रहा है और उन्हें उसके बदले कोई भी विकल्प मुहैया नहीं कराया गया है। अन्य स्थानों पर उनकी स्थिति बेहतर हो सकती है, लेकिन वह समाज के सबसे निचले तबके से ही आते हैं।" अन्य भी इसी तरह कहते हैं और उनके अलग–थलग रहने, तकनीकी और आर्थिक पिछड़ेपन, देश में आम तौर पर प्रचलित संस्कृति से भिन्नता पर ही उनका ध्यान केंद्रित है। अमेरिका में द्वीपों पर रहने वालों अथवा 18वीं शताब्दी में पुर्तगाली समुद्री लुटेरों के वंशजों, जो अब भारत में पश्चिम बंगाल में बस चुके हैं, में यही विशेषताएं दिखती हैं। लेकिन वे खुद को देशज अथवा जनजातीय नहीं कहते हैं और न ही उनके पड़ोसी इस रूप में उन्हें स्वीकार करते हैं।

मानक के आधार पर "देशज" की बात करें, तो उसमें ज्यादातर लोग भ्रम में पड़े रहते हैं और बेहद अस्पष्ट तौर पर उसका इस्तेमाल किया गया है। इंस्टीट्यूट ऑफ ऐडवांस्ड स्टडीज में 1993 में इकट्ठा हुए 20 समाज विज्ञानियों ने एक बयान में देशज की मानकगत विशेषताओं के बारे में बताने की कोशिश की गई। इसमें कहा गया है, "हमें लगता है कि देशज शब्द का इस्तेमाल कालावधि के अनुसार नहीं होना चाहिए, बल्कि मानकों के आधार पर होना चाहिए, ताकि उसमें ऐसे लोगों को भी शामिल किया जा सके, जो अपने परिवेश में ही अपनी जड़ें महसूस करते हैं, अपने क्षेत्र और संसाधनों की सुरक्षा करते हैं, नैतिक बंधनों के जरिये एक दूसरे से मुख्य रूप से बंधे हुए हैं और उनमें नीति के आधार पर ही परस्पर सहयोग की भावना है। हम मानते हैं कि जनजाति को एक सामाजिक श्रेणी के रूप में देशज माना जा सकता है क्योंकि दुनिया भर में अन्य समुदायों के बारे में

भी विचार बदल रहा है।"

इस बयान में एक अन्य तत्व भी छिपा हुआ है। इसमें देशज का मॉडल और देशज के लिए मॉडल का समावेश है। इस परिप्रेक्ष्य में देशज मानव जाति का कोई ऐसा खोया हुआ हिस्सा नहीं है, जिसे दोबारा हासिल किए जाने की आवश्यकता है। दरअसल यह एक सामाजिक दायरा है मानव जाति की मौलिक विशेषताओं में से एक समाज हमारे सामने आती है। (डैरहेनडॉर्फ, 1968) सिद्धांत के स्तर पर और कार्य परियोजना के स्तर पर इसका व्यावहारिक प्रयोग मानव जातियों को दोबारा हासिल करने की कार्यसूची का हिस्सा है, मानवता के देशजकरण के दूसरे शब्दों में देशज को अलग करने वाले किसी सिद्धांत के तौर पर नहीं बल्कि समावेशी परियोजना के तौर पर माना जाना चाहिए।

fl)krokn d rhu ie[k jkLrk d lkekftd vFk

देशज को सिद्धांत में बांधने के तीन प्रमुख रास्तों से अलग विचारवाद या सिद्धांत के कुछ छोटे तरीके भी हैं। उनकी व्याख्या करने से पहले मैं देशज के सिद्धांत का अर्थ जानने के तीन अलग रास्तों के सामाजिक मायनों के बारे में बात करूंगा।

मुझे तो लगता है कि देशज शब्द का प्रयोग जब कालावधि के अनुसार किया जाता है, तो उसके साथ सत्ता के अधिकार का आयाम भी जुड़ जाता है, जब इसे संबंध के अनुसार प्रयोग करते हैं, तो आवश्यकता या न्याय के अधिकार का आयाम जुड़ जाता है। देशज शब्द का इस्तेमाल जब मानक के आधार पर करते हैं, तो उसमें करुणा की भावना आ जाती है। (रॉय बर्मन, 2000)

इन सभी रास्तों का दायरा बड़ा नहीं है और उस पर बाद में बात की जाएगी। फिलहाल देशज शब्द के बारे में बताने वाले अन्य तरीकों पर बात करनी होगी। यहां मैं स्पष्ट कर दूं कि इस समय मैं उन परिभाषाओं या सिद्धांतों की बात नहीं कर रहा हूं, जिन्हें आईएलओ के कन्वेंशन 107 और 169 में दिया गया है अथवा देशज जनता के बारे में संयुक्त राष्ट्र कार्य दल के घोषणापत्र के मसौदे में जिनका जिक्र किया गया है। उन पर प्रसंग आने पर बाद में विचार किया जाएगा।

n'kt dh vU; ifjHkk"kk,

एक परिभाषा बेहद नपी तुली है, जिसमें इसका अर्थ 'स्थानीय' है, जैसा देशज या स्वदेशी तकनीक के लिए इस्तेमाल होता है। एक घोषणापत्र तैयार करते समय देशज जनता पर संयुक्त राष्ट्र कार्य दल (यूएनडब्ल्यूजीआईपी) के साथ जुड़े एक विशेषज्ञ डगलस सांडर्स की परिभाषा को एक अलग ही श्रेणी में रखा जा सकता है। सांडर्स के अनुसार स्कैंडीनेवियाई देशों में पूरी आबादी ही देशज है और जब उन्होंने अपने–अपने देशों में ही कुछ समुदायों (सामियों) को देशज कहा, तो यह अनूठा उदाहरण था, जिसमें देशज लोगों ने अपने भीतर से ही कुछ लोगों को देशज कहा। इस बयान में तथ्यों और तार्किक खामियों को परे रख दिया जाए (स्वीडन ने सामियों को देशज की कानूनी मान्यता नहीं दी है), तो

भी यह बेहद दिलचस्प मामला बन जाता है। यूरोप में ऐसे किसी देश की पूरी जनसंख्या को ही, जिसे कभी औपनिवेशिक प्रभुत्व का दास नहीं बनना पड़ा, यूएनडब्ल्यूजीआईपी के विशेषज्ञों के अनुसार देशज माना जा सकता है। लेकिन एशिया और अफ्रीका, यहां तक कि मैलनेशिया में भी किसी स्वतंत्र देश की पूरी आबादी को देशज नहीं माना जा सकता।

तीसरी परिभाषा वह है, जिसे संयुक्त राष्ट्र और आईएलओ के साथ जुड़े विशेषज्ञों ने बेहद महत्वपूर्ण कहा है। लेकिन मेरे लिए यह 'मुर्गी पहले आई या अंडा' जैसी पहेली से बढ़कर कुछ नहीं है। 12 नवंबर 1992 को यूएनडब्ल्यूजीआईपी के तत्कालीन महासचिव जूलियन बर्गर ने मुझे लिखा, "संयुक्त राष्ट्र देशज समुदायों को परिभाषित नहीं करता। कार्य दल एक सार्वजनिक मंच है, जिसमें वे सभी लोग शामिल हो सकते हैं, जो स्वयं को देशज समुदायों का सदस्य मानते हैं।" (रॉय बर्मन, 1999:44) संयुक्त राष्ट्र मंच ने कहा कि स्वयं को पहचाने जाने की प्रक्रिया में ऐसे लोगों को भी स्वीकार करनी चाहिए, जिन्हें देशज समुदायों के अधिकारों की कार्यसूची तैयार करने वाला माना जाता है। दूसरे शब्दों में इसके जरिये वीटो का अधिकार दे दिया गया। इसे अच्छा रुख तो नहीं माना जा सकता।

सौगस्टाड (1999) ने कहा कि देशज शब्द का इस्तेमाल अफ्रीका में रणनीतिक तौर पर तरजीही आधार पर किया जा सकता है। सबसे पहले उन्होंने स्वीकार किया कि श्वेत उपनिवेशवादी ताकतों के प्रभुत्व की वजह से समूचे अश्वेत अफ्रीका को दास बनना पड़ा, जो अन्य स्थानों पर देशज समुदायों की स्थिति के ही समान है। इसके आगे उन्होंने कहा, "उपनिवेशवादी ताकतों के संदर्भ में स्थानीय अफ्रीकी पहले आने वाले थे, प्रभुत्वहीन थे और श्वेत आक्रांताओं से सांस्कृतिक रूप से अलग थे। इतना ही नहीं, स्थानीय लोग प्राकृतिक और पारंपरिक जीवन पद्धति से जुड़े हुए थे, जो श्वेत आक्रांताओं के साथ आए तकनीक के नियंत्रण, विनिर्माण और विकास से बिल्कुल उलट सामान्य देशज विशेषताएं थीं। इस प्रकार अफ्रीका में प्रभुत्व वाले श्वेत–अश्वेतों को देखकर पता चलता है कि सभी स्थानीय अफ्रीकी देशज थे।" इतना सब कहने के बाद भी, वह अफ्रीकी जनता के कुछ समुदायों को रणनीतिक तौर पर अंतरराष्ट्रीय मंच में देशज की मान्यता दिलाना चाहती हैं। कोई पूछ सकता है कि किसकी रणनीति? क्या अन्यायपूर्ण विश्व व्यवस्था के खिलाफ अपने संघर्ष में यह स्वयं अफ्रीकियों की रणनीति है? निश्चित रूप से देशज अफ्रीकियों के बीच कुछ ऐसी श्रेणियां हैं, जिनका ज्यादा शोषण हुआ है। लेकिन अफ्रीका के देशज समुदाय के बड़े हिस्से को अंतरराष्ट्रीय कानून के दायरे में प्रस्तावित अधिकार और संरक्षण से वंचित करने के बजाय इन्हें अधिक खतरे में पड़े देशज क्यों न कहा जाए?

सौगस्टाड कहते हैं कि वैश्विक चित्र में "अफ्रीका और एशिया के ज्यादातर हिस्से को सिद्धांतगत विशेष चुनौतियों से रूबरू होना होता है।" जब हम इस बात को ध्यान में रखते हैं कि संयुक्त राष्ट्र मंच से जुड़े विशेषज्ञों द्वारा देशज माने गए लोगों में से 80 प्रतिशत से अधिक मुख्य रूप से एशिया में रहते हैं, (बर्गर, 1987) तो सौगस्टाड का बयान उत्सुकता पैदा करता है। यदि अन्य स्थानों पर रहने वाली अल्पसंख्यक देशज जनता के संदर्भों को लेकर बात की जाए, तो एशिया और अफ्रीका में विशेष सिद्धांतगत समस्याएं सामने आती

हैं। संदर्भों का ढांचा एशिया और अफ्रीका की जनता से लेना चाहिए। यूरोप, अमेरिका और प्रशांत महासागर के द्वीपों में रहने वाले लोगों के लिए विशेष सिद्धांतगत ढांचे बनाए जा सकते हैं। आईएलओ के कन्वेंशन 169 में काफी हद तक इसी लीक पर चला गया है।

संयुक्त राष्ट्र के रुख में विसंगति की बात अफ्रीका के देशज लोगों की समन्वय समिति ने 1998 की अपनी रिपोर्ट में की है। (पेज 8) "यूएनडब्ल्यूजीआईपी की प्रक्रिया के आरंभ में यदि अफ्रीकी संयुक्त राष्ट्र के पटल पर होते, तो वे इस बात पर जोर दे सकते थे कि दरअसल मसला आदिवासी होने का नहीं है, बल्कि प्राकृतिक संसाधनों को लूटने वालों और उनकी रक्षा करने वालों के बीच जारी खास तरह के संबंध का है। यह संबंध काफी पुराना है और उपनिवेशवाद से अछूता रहा है और इसने संस्कृति, भाषा और पहचानों को गढ़ा है। स्वतंत्रता के बाद अफ्रीकी देशों में इन समुदायों को पिछड़ा और गैर रचनात्मक कहकर उनकी अनदेखी की गई है।"

देशज और जनजातीय लोगों के भारतीय समुदाय के संगठन की अध्यक्षीय समिति में सदस्य डॉ. राम दयाल मुंडा ने यूएनडब्ल्यूजीआईए मंच 1993 में एजेंडा नंबर 4 पर चर्चा के समय हस्तक्षेप करते हुए कमोबेश इसी लीक पर बात की और कहा, "प्राचीन और नई दुनिया में देशज एक समान नहीं रहे हैं।" इसके अलावा उन्होंने कहा कि "जब संबंधित लोगों को परिभाषित करने की बात आती है, तो खास तौर पर एशियाई और भारतीय लोगों के संदर्भ में देशज और जनजातीय लोग एक ही वर्ग में आते हैं।" (रॉय बर्मन, 1994:83–84)

tutkfr dk fl)kr

जिस तरह डॉ. मुंडा ने जनजाति और देशज को बिना किसी संदेह के एक ही वर्ग में रखा, तो यह जरूरी हो गया कि जनजाति के सिद्धांत को भी समझा जाए। जनजाति के सिद्धांत में विभिन्न प्रकार के नजरिये अपनाए गए हैं, जिनमें न्यूनतम, विकासवाद, ढांचागत आर मानक संबंधी सिद्धांतों के बारे में यहां संक्षेप में बताया गया है।

न्यूनतम आधार के सिद्धांत का जिक्र विनिक के नृविज्ञान के शब्दकोष में मिलता है, जिसमें जनजातियों को 'सुनिश्चित क्षेत्र, बोली, सांस्कृतिक समांगता और एकीकृत सामाजिक संगठन वाले सामाजिक वर्ग के तौर पर परिभाषित किया गया है।' इस कसौटी की बात करें, तो दुनिया में शायद ही किसी समुदाय को जनजातीय माना जा सकेगा। खास तौर पर सांस्कृतिक समांगता के सिद्धांत को तो बारीकी से देखे जाने की जरूरत है। साहलिन्स (1968) के मुताबिक जनजाति नियोलिथिक काल से मिली जातीय विरासत है। उनके अनुसार जनजातीय लोग और संस्कृति शिकारियों की सांस्कृतिक परंपरा से भी परे विकसित हुई हैं। हालांकि जनजातियों के साथ क्षेत्रीय दायरे बंधे हुए हैं, लेकिन क्षेत्रीयता समाज में मिली हुई है, न कि वह समाज के संगठन के लिए आधार का काम करती है।

साहलिन्स के द्वारा किया गया यह अंतर विशिष्ट जनजातीय समाज में राज्य की उदासीनता की घटना को समझने के लिहाज से खासे महत्वपूर्ण है। बुनियादी तौर पर

विकासात्मक अनुकूलन के साथ गोडलियर (1977) लिखते हैं कि एक ध्रुवीय किनारे पर औद्योगिक पश्चिम अथवा औद्योगिक क्रांति के बाद के पश्चिम के साथ प्राचीन सामाजिक संगठन से सामाजिक संगठन की विकासात्मक योजना में सुस्ती आ गई। बेटीले (1986:316) एक समग्र ऐतिहासिक, ढांचागत और सामाजिक पारिस्थितिक सिद्धांत पेश करते हैं। उनके शब्दों में "जनजाति होने का अर्थ सरल से जटिल की ओर विकास यात्रा में एक निश्चित चरण पर पहुंचने से ज्यादा जरूरी राज्य और सभ्यता से बाहर रहना है, चाहे वह पसंद से हो या आवश्यकता की वजह से।"

एक अन्य संदर्भ में स्टेजबॉर्न (1998:329) का कहना है कि राज्य का सिद्धांत गैर देशज विचार से उत्पन्न हुआ है। मैं पहले ही गैर राज्य संबंधी विश्व के नजरिये और जनजातीय लोगों के सामाजिक संगठन की ओर ध्यान खींच चुका हूं। अन्य स्थानों पर मैंने दुनिया भर में जनजातीय लोगों को किसान बताने वाली तकनीकी भविष्यवाणी और भारत में उन्हें जाति बताने वाली प्रवृत्ति पर हमेशा सवाल खड़ा किया है। (1983) मैंने तर्क दिया है कि शुरुआत में सामाजिक निकायों ने शिकार करने और अर्थव्यवस्था खड़ी करने के बजाय जीवनयापन के अधिक स्थिर स्रोत के तौर पर खेती को तरजीह दिया, लेकिन आज गैर कृषक लोगों के लिए गैर प्रसंस्कृत तकनीकों के साथ अनेक विकल्प मौजूद हैं, जिनमें जनजाति–कृषक का संगम अनिवार्य प्रक्रिया नहीं है। मैंने यह तर्क भी दिया कि वैचारिक स्तर पर जाति व्यवस्था आज चारों ओर दिखाई देती है, लेकिन जाति निकाय अलग जातीय निकायों के तौर पर उभर रहे हैं। इस संदर्भ में जनजातीय लोग खुद को किसी जाति व्यवस्था की इकाई के मुकाबले विशिष्ट जातीय सदस्य के तौर पर परिभाषित करना चाहेंगे।

लेकिन मैं 1970 के दशक में भी एक अन्य विचारधारा के साथ चल रहा था। विश्लेषणात्मक और ऐतिहासिक रूप से यह सोचना संभव है कि मानवों और मानवों के बीच तथा मानवों और प्रकृति के बीच समुदाय तथा उसके विपरीत निकाय के नजरिये को सामाजिक संगठन के किसी भी अन्य रूप से अलग किया जा सकता है। (रॉय बर्मन, 1994ए:62–65) इस विश्लेषणात्मक विचार के साथ मैंने 1970 के दशक में आदिम के बाद का सिद्धांत तैयार कर लिया था। (रॉय बर्मन, 1979)

इस समय मैं आदिम शब्द से प्रसन्न नहीं हूं। चाहे इससे पहले उत्तर शब्द लगा दिया जाए, तो भी आदिम शब्द के साथ एक नकारात्मक संकेत जुड़ा होता है। शायद 'ट्रांस–प्राइमल' शब्द से बेहतर व्याख्या हो सकेगी। जनजाति को उत्तर आदिम मानने से महत्वपूर्ण व्यावहारिक व्याख्या होती है। व्यवसाय अथवा व्यवसाय आधारित संस्कृति के आधार पर किसी जनजाति को विकास की निम्न अथवा उच्च श्रेणी में रखने से इसकी प्रासंगिकता खत्म हो जाती है।

नृविज्ञानियों के बीच मानवीय समाजों को शिकारियों का समुदाय, यायावर, प्रवासी कृषक, स्थिर कृषक, किसान, औद्योगिक और अन्य श्रेणियों में बांटने की परंपरा है। इस

परंपरा में तकनीक में परिष्कार को महत्वपूर्ण सूचक के तौर पर मान्यता दी जाती है। एक निश्चित कालावधि में अनुभव एकत्र होने के कारण तकनीक ज्यादा प्रभावी रूप में उभरकर आती है, इसलिए विविध तकनीकों के साथ जुड़ा हुआ समाज भी विकासशील श्रेणी में आ जाता है। लेकिन यह श्रेणीगत संलग्नता के साथ संस्कृति को देखने का दृष्टिदोष है। इस परिप्रेक्ष्य में समुचितता की संस्कृति को कई लोग साझे की संस्कृति की तुलना में श्रेष्ठ मानते हैं। इसमें प्रकृति के साथ संबंध और पूर्ण सामाजिक–राजनीतिक व्यवस्था का खयाल नहीं किया जाता है, जिसमें विशिष्ट प्रभुत्व वाले तकनीक आधारित व्यवसाय होते हैं। इन आयामों को ध्यान में रखते हुए मैं सामाजिक प्रकारों को सर्वांगीण रूप में श्रेणीबद्ध करने और जनजातीय प्रकारों को संपूर्ण रूप में खोजने तथा श्रेणियों के इसी ढांचे में जनजातीय सामाजिक निकायों को स्थित करने का प्रयास कर रहा हूं।

lÙkk feeklk d vk/kkj ij tkrh; vkj rduhdh&jktuhfrd <kp e tutkrh; lektk dk xBu

शिकार करने और इकट्ठा होने वाले आदिम समूह मोटे तौर पर आजीविका के अस्थायी स्रोतों पर ही निर्भर थे। इसी प्रकार आरंभ की काटने और जलाने वाली कृषि आधारित सभ्यताओं में आजीविका के अधिक स्थायी स्रोत दिखाई पड़ते हैं। एक स्थान पर रहने वाले किसानों के पास आजीविका के लिए अंतसर्माज साधन थे, जिसमें किसी विशिष्ट वंश के पास विशेषाधिकार होते थे। शहर और बाजार से जुड़े हुए कृषक समाजों ने आजीविका के अधिक सुरक्षित साधनों की ओर रुख किया, जिसमें कुछ विशिष्ट परिवारों अथवा व्यक्ति को विशेषाधिकार प्राप्त थे। शहर और बाजार से संबंधित समाज आजीविका के परिष्कृत अथवा आदिम स्रांतों की ओर रुख कर सकते थे, जिनमें सामाजिक–राजनीतिक रूप से मान्यता प्राप्त समूहों अथवा व्यक्ति के पास विवेकाधिकार होते थे। औपनिवेशिक औद्योगिक समाजों ने आजीविका के लिए अलग स्रोत विकसित किए। आज जब इस ग्रह पर जीवन प्रकृति के निर्दयी बलात्कार के कारण और मानव शरीर तथा मानवीय संबंधों के वस्तु बन जाने के कारण अधिक दुष्कर हो गया है, तो बेहद औद्योगिक और औद्योगिक क्रांति के बाद के समाज आजीविका के लिए बहुस्तरीय व्यवस्था को बढ़ावा दे रहे हैं, जिसमें उनका इरादा समूची मानवता को अपने दायरे में लाने का है। (रॉय बर्मन, 1995:2–3) व्यवसाय की ओर ध्यान दिए बिना मैं सभी गैर शिकारी और गैर संचयी समाजों को जनजातीय लोगों की श्रेणी में रखूंगा, चाहे इसमें कुछ हद तक औचित्य की बात भी सामने क्यों न आए। जैसे कि देशज लोगों के मामले में मैं जनजाति को मानक के संदर्भ में परिभाषित करूंगा, तकनीकी–आर्थिक संदर्भ में नहीं।

vkbl,yvk dUo'ku e tutkfr dk fl)kr

आईएलओ ने देशज और जनजातियों के संदर्भ में दो कन्वेंशनः 1957 की कन्वेंशन 107 और 1983 की कन्वेंशन 169 स्वीकार कीं। कन्वेंशन 107 को एशिया में भारत, पाकिस्तान और बंगलादेश समेत 27 देशों ने मान्यता दे दी है। अंतरराष्ट्रीय कानून के

तहत इसमें कानून की ताकत है। कन्वेंशन 169 को केवल 14 देशों ने स्वीकार किया है। परिभाषाएं परिशिष्ट 1(ए) और (बी) में दी गई हैं। कन्वेंशन 107 में जनजाति और अर्द्ध जनजाति समुदायों का जिक्र है और उसके बाद देशज समुदायों को उनकी सामाजिक परिधि के भीतर विशेष श्रेणी में रखा गया है। इससे अपनी विशिष्ट पहचान छोड़ते जनजातीय अथवा अर्द्ध जनजातीय लोगों के बारे में तकनीकी दुनिया के नजरिये का पता चलता है। हालांकि देशज समुदाय में जनजातीय और अर्द्ध जनजातीय विशेषताएं होती हैं, लेकिन उसे बाहरी आक्रमण या युद्ध का शिकार बने अलग अंतरराष्ट्रीय निकाय के तौर पर मान्यता दी जाती है। स्पष्ट रूप से यह अमेरिका अथवा ओशनिया की ओर संकेत करता है।

जनजातीय और अर्द्ध जनजातीय लोगों के मामले में "मुख्यधारा के देशजों के मामले में एकीकरण पर प्रकाश डाला जाता है" मुख्य जोर नकारात्मक विशेषता पर है, जो पश्चिमी सामाजिक आर्थिक अथवा सांस्कृतिक संस्थानों की लीक पर है, जिसे दूसरे शब्दों में आत्मसात करना भी कहते हैं।

कन्वेंशन 107 में यह संरक्षणवादी जातिकेंद्रित पक्षपात जनजातीय या गैर जनजातीय विचारशील लोगों को निराश करता है। लेकिन 1989 के कन्वेंशन 169 में एक अलग तरह का रुख अपनाया गया। कन्वेंशन 169 के अनुच्छेद 1 में स्वतः पहचान को मूलभूत कसौटी बताया गया है, लेकिन विकास के चरणों के सिद्धांत की वकालत करता है और विशिष्टता पर ध्यान केंद्रित करता है। लेकिन यह विशिष्टता या विभेद की प्रकृति के बारे में कुछ भी नहीं बोलता। इसके अलावा कन्वेंशन 107 में देशज सामाजिक निकायों को ऐसे जनजातीय अथवा अर्द्ध जनजातीय निकायों की विशिष्ट श्रेणी बताया गया है, जिनका ज्ञात इतिहास है। कन्वेंशन 169 में ऐसी कोई शर्त नहीं है। चूंकि जनजातीय और देशज लोगों को एक साथ रखा जाता है, इसलिए उन्हें तार्किक रूप से एक दूसरे के समान ही माना जा सकता है। लेकिन गुणात्मक यथार्थ के तौर पर ऐसा हो सकता है और नहीं भी हो सकता है। (रॉय बर्मन, 1998:2)

कन्वेंशन 169 के बारे में असली मुद्दा यह है कि इसमें जनजातियों को सार्वभौमिक रूप से जनता बताया गया है, लेकिन देशजों को औपनिवेशिक सत्ता अथवा विजय अथवा घुसपैठ से पूर्व की जनसंख्या भर बताया गया है। यह इस तथ्य को जानने के बाद उत्सुक करने वाली बात है कि लैटिन अमेरिका में ऐजटेक, माया और इंका साम्राज्य जैसी विशाल राजनीतिक व्यवस्थाएं कोलंबस से पूर्व के युग में अथवा अमेरिका में औपनिवेशिक सत्ता स्थापित होने और उत्तर अमेरिका में विदेशी संप्रभु राष्ट्रों में अमेरिंडियन्स के साथ संघर्ष के दौरान फल फूल रही थीं। (कैनबी, 1988:10) इस कन्वेंशन में दो शब्दों जनता और जनसंख्या का चयन फोर्चुइटस प्रतीत नहीं होता। यदि देशज केवल जनसंख्या थे, जनता नहीं, तो कई तरह के औपनिवेशिक दावे सच हो जाएंगे। उपनिवेशवादियों ने अमेरिंडियंस (जिन्हें उदाहरण के लिए अब कनाडा सरकार कहा जाता है) के साथ जो संधियां की थीं, उनकी व्याख्या कि "यह संप्रभु सरकार और उसकी प्रजा के बीच करार से अधिक कुछ भी

नहीं है" कन्वेंशन 169 के लिहाज से वैध करार दी जाएगी। यह सभी और वह प्रक्रिया, जो आईएलओ ने कन्वेंशन को स्वीकार करते समय अपनाई थी, गंभीर प्रश्न उठाती है। (रॉय बर्मन, 10:11) लेकिन यहां उन पर विचार नहीं किया जाएगा।

n'kt ykxk d ckj e ;,uMCY;thvkbih dk ?kk"k.kki=

कुछ पश्चिम यूरोपीय देशों की पहल पर 1982 में (सांडर्स, 1989:415) अल्पसंख्यकों का भेदभाव रोकने और उनका संरक्षण करने वाले मानवाधिकार आयोग के उप आयोग ने देशज की व्याख्या किए बगैर "देशज जनसंख्या पर एक कार्य दल" का गठन कर दिया। उसमें उस कामचलाऊ परिभाषा का इस्तेमाल किया गया, जिसका विकास विशेष रैपर्टियर मार्टिनेज कोबो ने 1972 में किया था। यह परिभाषा परिशिष्ट 2(ए) में दी गई है। सांडर्स का आरोप है कि कोबो मसौदा तैयार करने में शामिल नहीं था और पूरा काम संयुक्त राष्ट्र के एक अधिकारी विलियमसन डियाज ने किया था। संयुक्त राष्ट्र की यह परिभाषा मुख्य तौर पर आक्रमण से पूर्व के अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड की बात कहती है। (आईसीआईएचआई, 1987 पेज 6) अलग–थलग और हाशिये पर पड़े लोगों को भी इसमें शामिल करने के लिए 1983 में कोबो के नाम पर एक नया अनुच्छेद जोड़ दिया गया। (परिशिष्ट 2(बी)) एक तरह से कहा जाए, तो 1972 के रुख में यह साफ परिवर्तन दिखाती थी। पहले का रुख परिभाषा आधारित था, लेकिन बाद में यह व्याख्या आधारित हो गया। लेकिन मामले को एक और नजर से भी देखा जा सकता है। कुंज के आधार पर रहमान (1998:74) ने बताया कि "औपनिवेशीकरण की गंभीरता कम नहीं हो जाती, यदि इसे विदेशों में विस्तार के बजाय क्षेत्रीय समीपता के आधार पर किया गया हो।" यह वह नजरिया है, जिससे पता चलता है कि यूरोप में 120 देशज समुदायों की पहचान कर ली गई है, जिनमें स्वीडन में स्कैनियंस, वेल्स में कोर्निष, ब्रिटेन में शेटलैंडर्स, फ्रांस और स्पेन में बास्क तथा इटली और उसके आगे कई देशज समुदाय शामिल हैं। (ग्रिग्स, 1993)

कोबो के ही नाम पर 1986 में परिभाषा को एक बार फिर नए सिरे से लिखा गया और कहा गया कि "देशज समुदाय, जनता और राष्ट्र वे हैं, जिनका ऐतिहासिक समुदाय है, जिसमें आक्रमण से पूर्व या औपनिवेशीकरण से पूर्व के समाज थे, जो उनके क्षेत्र में विकसित हुए, समाज के अन्य वर्गों से स्वयं को अलग मानते हैं और अब उन्हीं क्षेत्रों में निवास करते हैं। अब वे समाज के गैर प्रभुत्वशाली तबके का हिस्सा हैं और अपने पूर्वजों के क्षेत्र तथा अपनी जातीय पहचान को अपने सांस्कृतिक तौर–तरीके, सामाजिक संस्थानों, विधि व्यवस्था के अनुसार अपने अस्तित्व का आधार मानकर संरक्षित करने, विकसित करने और भावी पीढ़ियों को देने का संकल्प करते हैं।"

आक्रमण और औपनिवेशीकरण को क्षेत्रीय समीपता के तथ्य के साथ जोड़ देने से बदली परिभाषा के तहत देशज जनता को ऐसे देशजों की श्रेणी से निकाल दिया गया, जो विदेशी नहीं बल्कि क्षेत्रीय समीपता के जरिये जीते गए थे। इससे वाशिंगटन की उस संस्था द्वारा छांटी गई 120 देशज समुदायों की सूची इसमें से निकल गई।

रहमान बताते हैं कि देशज लोगों की पहचान और परिभाषा विवादग्रस्त और राजनीतिक रूप से संवेदनशील साबित हुई है। विश्व देशज समुदाय परिषद (जो शायद उन प्रमुख देशज संगठनों में से एक है, जो यूएनडब्ल्यूजीआईपी के पीछे की ताकत का काम करते हैं) के अनुसार "देशज लोग स्थानीय व्यक्ति होते हैं, जो आम तौर पर किसी देश की पूर्ववर्ती जनसंख्या के वंशज होते हैं, अलग–अलग जातीय समुदायों से मिलकर बने होते है, लेकिन सरकार पर जिनका कोई नियंत्रण नहीं होता।" इस बात पर ताज्जुब हो सकता है कि दलितों (भारत में पारंपरिक अछूत जातियां) , जिनमें से कई लोग जनजातीय लोगों से भी पहले देश के विभिन्न हिस्सों में अलग–अलग पेशे अपनाने का दावा करते हैं, को प्रमुख देशज लोगों द्वारा अपने में से एक माना जाएगा। (रॉय बर्मन, 1998:4) आईएलओ के साथ जुड़े एक शीर्ष विशेषज्ञ स्वेप्टसन (1990:695) ने कहा कि "देशज एक गंभीर शब्द है, जिसमें ऐतिहासिक वास्तविकता की बात शामिल है।" इसके आगे वह कन्वेंशन 107 में संशोधन के लिए विशेषज्ञों की बैठक (जिनेवा, 1986) के दस्तावेजों से उद्धरण पेश करते हैं, जिसमें कहा गया है कि "तमाम देश, जिनमें ऐसे जनजातीय समुदाय रहते हैं, जिन्हें देशज नहीं माना गया है, कन्वेंशन 107 को स्वीकृति दे चुके हैं, राष्ट्र की जनता के विभिन्न हिस्सों की ऐतिहासिक प्राचीनता को विश्लेषण करने के प्रयास खतरे में पड़े ऐसे समूहों की रक्षा करने की जरूरत के कारण शुरू हुए हैं, जिनमें कई प्रकार की साझी विशेषताएं होती हैं।" यदि यह विभिन्न ऐतिहासिक संदर्भ वाले लोगों के एक वर्ग के लिए महज एक शब्द देशज का इस्तेमाल करने का यूएनडब्ल्यूजीआईपी का काम नहीं होता, बल्कि उन्हें असमान, शोषक विश्व व्यवस्था से बचाने के लिए प्रयास होता, तो इससे संयुक्त राष्ट्र के रुख से खुद को दूर रखने के आईएलओ के निर्णय की ओर साफ संकेत मिलता। इसी संदर्भ में बर्गर ने पहले ही कहा था कि "स्वतः पहचान पर संयुक्त राष्ट्र का जोर समझने योग्य है।"

vYi l[;d & fo'o 0;oLFkk e , d lcf/kr lkekftd ox

नागरिक और राजनीतिक अधिकारों पर अंतरराष्ट्रीय समझौते के लिए संयुक्त राष्ट्र के विशेष रैपर्टियर कैपोटोर्टी ने अल्पसंख्यक को "एक ऐसा समूह बताया है, जो संख्या के लिहाज से राज्य के अन्य वर्गों से कमजोर होता है, गैर प्रभुत्वशाली होता है, जिसके सदस्य राष्ट्र के निवासी होने के बाद भी अन्य जनसंख्या से अलग जातीय, धार्मिक अथवा भाषायी विशेषताएं रखते हैं और अपनी संस्कृति, परंपरा, धर्म अथवा भाषा को बचाए रखने के लिए दृढ़ निश्चय प्रदर्शित करते हैं।" रहमान बताते हैं कि आम भाषा में और कई अन्य तरीकों से देशज लोग अल्पसंख्यकों की विशेषताएं रखते हैं। लेकिन "हालांकि देशज लोग और अन्य अल्पसंख्यकों की चिंताएं एकसमान होती हैं, लेकिन एक विचार सभी ओर प्रचलित है कि देशज लोग एक अलग वर्ग से आते हैं।" रहमान थॉर्नबेरी के मुताबिक "कई प्रकार से देशज लोगों द्वारा रखी गई मांगें अल्पसंख्यकों के मुकाबले अधिक जोरदार और अधिक व्यापक होती हैं।" इसके बाद कहा गया कि "एक परेशानी यह रही है कि देशज लोगों के दावों को यदि मोटे तौर पर अल्पसंख्यकों के लिए भी लागू कर

दिया जाए, तो उससे वैश्वीकृत विश्व व्यवस्था को खतरा उत्पन्न हो सकता है।" इसीके आधार पर दो सवाल पूछे जा सकते हैं। पहला तो यह कि ताकतवर गुटों के मुताबिक क्या देशज ऐसे अल्पसंख्यक हैं, जिन्हें विश्व व्यवस्था को छेड़े बिना उनके अधिकार दिए जा सकते हैं? दूसरा सवाल यह कि विश्व व्यवस्था को मजबूत करने के लिए क्या ऐसे अधिकार दिए जा सकते हैं?

पहले सवाल की बात करें, तो संदेह उठाए गए हैं क्योकि यूनान के यायावरों, यूरोप के जिप्सियों और बास्क अथवा पश्चिम और दक्षिण एशिया में तेल का निर्यात करने वाले देशों में कुर्द और बेडोइन के लिए देशज अधिकारों की वकालत करने वाले भी इस बारे में चुप रहते हैं। दूसरे सवाल पर आएं, तो आगाह करना जरूरी हो जाता है। प्रख्यात अर्थशास्त्री पॉल बैरन (1987) द्वारा दिए गए इस सैद्धांतिक तर्क को ध्यान में रखा जाए कि अविकसित देशों में आर्थिक विकास मुख्य तौर पर विकसित देशों के हितों के लिए खतरनाक है। इस संभावना को खत्म करने के लिए वह पूंजीवादी रुख वाले घरेलू विशिष्ट वर्गों के साथ तालमेल करते हैं और घरेलू संसाधनों तक पहुंच जाते हैं और इस तरह से अधिक से अधिक दोहन के पारंपरिक तरीकों को बरकरार रखते हैं।

इन सवालों को उठाने का यह मतलब नहीं है कि यह गलत है। इसके बजाय देशज और अल्पसंख्यक शब्दों को तोड़मरोड़कर तमाम सामाजिक निकायों को उनके अधिकारों से वंचित करना गलत है। (रॉय बर्मन, पेज 6)

n'kt vkj tutkrh; ox

सौगस्टाड एक अनूठी विडंबना की ओर ध्यान खींचती हैं। जब वह कहती हैं कि "वर्ग संघर्ष पर ध्यान देना कई सरकारों को कम विवादित लग सकता है क्योंकि इससे उस नजरिये को आराम से स्वीकृति मिल जाती है कि गरीबी देशज लोगों की समस्या है।" वे राजनीतिक चर्चा का आयाम बदलना चाहती हैं और उसे आर्थिक कल्याण से संस्कृति आधारित और जातीय तथा पर्यावरणीय चिंताओं की ओर लाना चाहती हैं। यह मोटे तौर पर उसी लीक पर चलना है, जिसे मैं समाजों की पूर्ण विवेचना में पहले ही प्रस्तुत कर चुका हूं।

of'od 0;oLFkk e tkrh;rk

अल्पसंख्यकों और वर्ग को देशज और जनजातीय लोगों की ही तरह सामाजिक श्रेणी मानने से पता चलता है कि जातीयता सभी के लिए आधार मुहैया कराती है। हालांकि जातीयता की विस्तृत व्याख्या करने की जरूरत नहीं है क्योंकि मैं विश्व व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में देशज और जनजातीय मुद्दों की पड़ताल कर रहा हूं। मैं जातीयता की घटना पर चर्चा को भी उसी ढांचे में बांधूंगा, जो मोटे तौर पर समीर अमीन पर आधारित होगा।

वर्तमान विश्व व्यवस्था में पूंजी के बहुराष्ट्रीयकरण और इस विचार के बीच लगातार विरोधाभास बढ़ रहा है कि राज्य सरकार ऐसी एकमात्र राजनीतिक व्यवस्था है, जिसके पास

अस्तित्व का वैध कारण है। इसी संदर्भ में पूंजी और प्रभुत्वशाली वर्गों के प्रमुख कारकों की रणनीतियों और विभिन्न वर्गों तथा लोकप्रिय वर्गों की रणनीतियों के बीच विरोधाभास उत्पन्न होते हैं। औद्योगिक दुनिया में सक्रिय श्रमशक्ति और श्रम भंडार के बीच संबंध पर भी यही लागू होता है। हालांकि इस परिधि के केंद्र में ज्यादातर श्रमिक कार्यशक्ति का हिस्सा बनते हैं, लेकिन वे पूंजी को कम आय वाले श्रमिकों की ओर जाता देखकर और परिधि से केंद्र की ओर आते श्रमिकों के कारण पैदा हुई प्रतियोगिता के कारण बहुत सुरक्षित नहीं महसूस कर पाते। औद्योगीकरण की राह पर चलती तीसरी दुनिया में लगातार बढ़ते कार्यबल और श्रमिकों के भंडार के कारण सामाजिक संघर्ष पैदा होते हैं। पारंपरिक वर्ग की मजबूती इसमें मुश्किल से ही कोई फर्क डालती है क्योंकि यदि मामूली संघर्ष हो रहा हो, तो वैश्वीकरण में पूंजी पर शायद ही कोई प्रभाव पड़ता है। पूंजी आराम से एक स्थान से दूसरे स्थान तक जा सकती है। नई तकनीक के अलावा उत्पादन और संचार कई मामलों में कारखानों के पुराने तंत्र से आगे निकल सकते हैं, जिसके तहत विनिर्माण यानी उत्पादन विकेंद्रित तरीके से होता है, उसे अंतिम चरण में एक ही स्थान पर इकट्ठा किया जाता है। पुराने तरीके के कारखानों में बड़ी तादाद में मजदूरों का जमावड़ा भी अब धीरे–धीरे बीते जमाने की बात बन रहा है। इस संदर्भ में भाषा, धर्म, साझे इतिहास और जीवन के तरीकों पर आधारित जातीय समूह विस्थापन में ज्यादा स्पष्ट तौर पर दिखाई दे रहे हैं। देशज और जनजातीय लोगों से संबंधित चर्चा में बढ़ती दिलचस्पी का एक कारण यह भी है।

देशज और जनजातीय लोगों के अधिकार पर महत्वपूर्ण बातचीत को अब विश्व राजनीतिक आर्थिक व्यवस्था और विभिन्न प्रकार की जातीयता के साथ देखा जाएगा और उसमें सामाजिक विस्थापन के बुनियादी ढांचे की बात भी दिमाग में रहेगी।

tutkrh; vkj n'kt ykxk d lc/k e egRoi.k iko/kku

1957 dh vkbl,yvk dUo'ku 107& vkykpukRed eY;kdu

यह कन्वेंशन जनजातीय, अर्द्ध जनजातीय और देशज समुदायों पर लागू होती है। इसलिए मूल रूप से यह व्यक्ति आधारित नजर आती है, लेकिन जब यह ऐसी जनसंख्या के संबद्ध राष्ट्रीय समुदायों में बदलने की बात करती है, तो सामूहिक अनुकूलन इसके द्वितीयक सह उत्पादों में नजर आता है। इसका मुख्य जोर ऐसे सभी क्षेत्रों में एक साथ प्रयास कर इस जनता की कार्य परिस्थितियों में तथा जीवन यापन की परिस्थितियों में सुधार करना है, जिन क्षेत्रों में इसे उस राष्ट्रीय समुदाय की प्रगति को साझा करने से रोका जाता था, जिस समुदाय का यह हिस्सा है। आम अंतरराष्ट्रीय मानकों को लागू करने की इसकी कार्य पद्धति भी कन्वेंशन के द्वारा तय की जानी है और उसे काम करते हुए देखना सरकार की जिम्मेदारी है।हालांकि इसमें जनसंख्या या समुदाय को राष्ट्रीय समुदाय में मिलाने के कार्य को बढ़ावा देने के लिहाज से बल के प्रयोग को छूट मिल गई, लेकिन कन्वेंशन में यह व्यवस्था भी की गई कि सुरक्षा के विशेष उपायों के जरिये किसी को लंबे समय तक अलग–थलग नहीं रखा जा सकता। इसी के साथ उनकी मूल्य

व्यवस्थाओं, उनके रिवाजों के संरक्षण, शैक्षिक और आर्थिक विकास, स्व नियामक संस्थाओं और नागरिक अधिकारों के सम्मान और सबसे महत्वपूर्ण रूप से भूमि और रोजगार के सम्मान पर खासा ध्यान दिया गया। अनुच्छेद दो कहता है कि ये समुदाय पारंपरिक तौर पर जिस भूमि के मालिक हैं, उसका अधिकार उन्हें दे दिया जाए। राष्ट्रीय सुरक्षा अथवा आर्थिक विकास अथवा स्वास्थ्य सुरक्षा के कारणों के बिना उन्हें जोर जबरदस्ती के साथ विस्थापित करने की प्रवृत्ति को हतोत्साहित किया जाए और जहां ऐसा विस्थापन अपरिहार्य हो जाए, वहां उन्हें पुनर्वास की संपूर्ण सुविधाएं मुहैया कराई जाएं। सदस्य देशों को रोजगार में गैर भेदभाव की नीति अपनानी होगी और रोजगार के अवसरों का विस्तार करने के लिए व्यावसायिक प्रशिक्षण, हस्तशिल्प और ग्रामीण उद्योगों को बढ़ावा देना होगा।

1989 dh vkbl,yvk dUoa'ku 169 % vkykpukRed eY;kdu

कन्वेंशन 169 उन अंतरराष्ट्रीय मानकों को दोहराती है, जिन्हें कन्वेंशन 107 में कहा गया है और उन्हें लागू भी करती है। राष्ट्रीय समुदाय में मिलन के अलावा यह उन राज्यों के संदर्भ में जनजातीय और देशज समुदायों की विशिष्ट भूमिकाओं पर ध्यान केंद्रित करती है, जिनके वे निवासी हैं। इस प्रकार कन्वेंशन 107 में राष्ट्र के निर्माण की प्रक्रिया के साथ सांस्कृतिक विविधता और पर्यावरण संरक्षण के साथ राज्य के कार्यकारी नियमों पर जोर दिया गया है।

कन्वेंशन 107 की ही तरह इस कन्वेंशन के प्रावधानों को लागू करने का जिम्मा भी राज्य सरकार का है।

वैश्वीकरण के संदर्भ में निम्नलिखित प्रावधान विशेष महत्व वाले हैं (1) इन विशिष्ट उपायों को लागू करना चाहिए क्योंकि ये व्यक्तियों, संस्थाओं, संपत्ति, श्रम, संस्कृति और माहौल का बचाए रखने के लिये उपयुक्त हैं। (अनुच्छेद 4) (2) इस कन्वेंशन के प्रावधानों को लागू करते समय सरकार को (क) समुचित तरीके से संबंधित लोगों से प्रतिनिधि संस्थाओं से उस मामले में सलाह मशविरा करना चाहिए, जहां विधायी अथवा प्रशासनिक उपायों से उन पर सीधा प्रभाव पड़ सकता हो। (अनुच्छेद 5) (3) संबंधित लोगों के पास विकास का अवसर होना चाहिए क्योंकि इसका असर उनके जीवन, विश्वास, संस्थाओं और आध्यात्मिक कल्याण तथा उस जमीन पर पड़ता है, जिस पर वे रहते हैं अथवा जिसका इस्तेमाल करते हैं। (अनुच्छेद 7) (4) उस जमीन के स्वामित्व के लोगों के अधिकार को मान्यता मिलनी चाहिए, जिस पर वे पारंपरिक रूप से काम करते हैं। इसके अलावा ऐसी जमीन का इस्तेमाल करने के लोगों के अधिकार की रक्षा करने के भी समुचित उपाय किए जाने चाहिए, जिसके वे मालिक तो नहीं हैं, लेकिन पारंपरिक तौर पर जिसका इस्तेमाल करते रहे हैं। खानाबदोश लोगों और प्रवासी किसानों का इस सिलसिले में खास ध्यान रखा जाना चाहिए। (अनुच्छेद 14) (5) लोगों की भूमि में आने वाले प्राकृतिक संसाधनों पर उनके अधिकार की विशेष तौर पर रक्षा की जानी चाहिए। इसमें इन संसाधनों का इस्तेमाल करने, उनका प्रबंधन और संरक्षण करने के इन लोगों के अधिकार

शामिल हैं। (अनुच्छेद 15) (6) जहां अपवादस्वरूप इन लोगों का विस्थापन जरूरी हो जाए, तो ऐसे विस्थापन उनकी स्वतंत्र सहमति और पूर्व सूचना के बाद ही होना चाहिए। जहां उनकी सहमति न मिल सके, वहां विस्थापन राष्ट्रीय कानून और नियमों में बताए गए सही तरीकों, जिसमें सार्वजनिक पूछताछ भी शामिल है के साथ ही होना चाहिए। सार्वजनिक पूछताछ से लोगों के प्रभावी प्रतिनिधित्व का मौका मिल जाता है। इसके अलावा विस्थापन का आधार जैसे ही खत्म हो जाए, वैसे ही लोगों को उनकी पारंपरिक जमीनें लौटा दी जाएं। (अनुच्छेद 16) (7) (क) इन समुदायों के सदस्यों के बीच जमीन संबंधी अधिकारों की जानकारी देने वाले लोगों के बनाए गए तरीकों को सम्मान दिया जाएगा। (ख) जब भी कुछ लोगों की जमीन के बारे में विचार हो रहा हो, तो संबंधित लोगों से सलाह मशविरा किया जाना चाहिए अन्यथा जमीन का अधिकार उन्हीं के समुदाय में किसी को दे दिया जाना चाहिए। (ग) इन समुदायों से संबंध नहीं रखने वाले लोगों को उनके रीति रिवाजों अथवा जमीन के स्वामित्व से संबंधित कानूनों की जानकारी नहीं होने का फायदा उठाने से रोका जाना चाहिए। (अनुच्छेद 17) (8) सरकार को संबंधित समुदायों से संबंधित श्रमिकों और अन्य श्रमिकों के बीच किसी प्रकार का भेदभाव रोकने के लिए सभी संभव कदम उठाने चाहिए। (अनुच्छेद 20)

;-,u-MCY;-th-vkb-ih dk ?kk"k.kki=%

vkykpukRed eY;kdu

देशज लोगों के बारे में यू.एन.डब्ल्यू.जी.आई.पी (**UNWGIP**) के घोषणापत्र के मसौदे पर अब खुला हुआ कार्यदल काम कर रहा है।

जैसा कि मैंने अपनी प्रस्तुति की शुरुआत में ही कहा था, बहुराष्ट्रीय कंपनियां, परा राष्ट्रीय कंपनियां और अंतरराष्ट्रीय एजेंसियां आधुनिक विश्व के तकनीकी आर्थिक और राजनीतिक क्रम में बड़ी खिलाड़ी बनकर उभरी हैं और बड़ी देशज तथा जनजातीय जनसंख्या वाले कई देशों के सामने उन्होंने स्वतंत्र निर्णय लेने की गुंजाइश भी नहीं छोड़ी है। घोषणापत्र के मसौदे में ऐसे निकायों के अनैतिक कार्यों से देशज और जनजातीय लोगों के अधिकारों की रक्षा करने के बारे में कुछ भी नहीं कहा गया है। इसका जिम्मा असहाय सरकारों पर डाल दिया गया है, जिनके सामने सांप–छछूंदर की हालत पैदा हो गई है।

घोषणापत्र के मसौदे की प्रस्तावना में पर्यावरण पर रियो घोषणापत्र, मानवाधिकार पर वियना घोषणापत्र, सामाजिक विकास पर विश्व शिखर बैठक के घोषणापत्र का कोई जिक्र ही नहीं किया गया है। इसमें विश्व व्यापार संगठन के कामकाज के लिए नियम बनाए जाने की जरूरत पर भी कुछ नहीं कहा गया है। इसमें मानव और जनता के अधिकारों पर अफ्रीकी अधिकार पत्र, मानवाधिकार पर अमेरिकी कन्वेंशन, मानवाधिकार पर यूरोपीय कन्वेंशन और मानवाधिकार पर एशियाई कन्वेंशन के लिए किए जा रहे प्रयासों का भी कोई जिक्र नहीं है। इसके उलट इसमें व्यापारिक ताकतों के हस्तक्षेप के लिए पूरी गुंजाइश है। पुराने मसौदे में अनुच्छेद 4 में कहा गया है, "इस घोषणापत्र में किसी भी

बिंदु को किसी राज्य, समूह, व्यक्ति को ऐसा कोई अधिकार देने के लिए बाध्य करने वाला नहीं समझा जाए, जो संयुक्त राष्ट्र के अधिकार पत्र और मित्र देशों के कानून के विपरीत किसी गतिविधि में लिप्त हैं।" संशोधित मसौदे में मित्र देशों और देशों के बीच सहयोग से संबंधित अनुच्छेद हटा दिया गया। पनामा, ग्रेनाडा, हैती, यूगोस्लाविया, इराक और दूसरी जगहों पर जो हो रहा है, उसे देखते हुए ये संकेत अच्छे नहीं कहे जा सकते।

लेकिन अभी और भी कुछ है। अनुच्छेद 4, 19 और 20 बताते हैं कि देशज लोगों के पास पूरा अधिकार है कि अपनी इच्छा होने पर वे (क) देश के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में (ख) देश की निर्णय करने की प्रक्रिया में (ग) देश के विधायी अथवा प्रशासनिक उपाय तैयार करने में हिस्सा ले सकते हैं। लेकिन यह सवाल मन में उठ सकता है कि यदि अपने देश में इन सभी गतिविधियों में हिस्सा लेने की उनकी इच्छा न हो तो क्या होगा। लैटिन अमेरिका के कई देशों या कनाडा या ऑस्ट्रेलिया में प्रति किलोमीटर जनसंख्या का घनत्व बमुश्किल 10 है, देशज लोग अलग–थलग रहने की नीति अपना सकते हैं और इसका उन पर या उनके देश पर खास प्रभाव भी नहीं पड़ेगा, लेकिन बंग्लादेश जैसे देश में, जहां प्रत्येक वर्ग किलोमीटर में जनसंख्या घनत्व लगभग 1000 है, निर्णय लेने की प्रक्रिया में हिस्सा नहीं लेने का क्या नतीजा होगा?

इन सभी बातों को ध्यान में रखते हुए, ऐसा प्रतीत होता है कि गैर विश्वसनीय उद्‌देश्य के लिए एक विश्वसनीय हित को बंधक बना लिया गया है। निश्चित रूप से देशज और जनजातीय लोगों का बुरी तरह से शोषण किया जाता है, उन्हें बिल्कुल हाशिये पर डाल दिया जाता है और दुनिया भर में उनके जीवन को सहारा देने वाले संसाधनों से भी उन्हें दूर किया जाता है। विकास और आधुनिकीकरण के नाम पर प्रभुत्वशाली राजनीतिक और सामाजिक संभ्रांतों की मदद से चलाए जा रहे जातीय हत्या के चक्र से उन्हें खतरा उत्पन्न हो गया है। इस संदर्भ में घोषणापत्र के मसौदे के कई अनुच्छेदों में सकारात्मक संकेत हैं। निश्चित रूप से देशज लोगों को देश के विशिष्ट राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन को बरकरार रखने और मजबूत करने का पूरा अधिकार है। लेकिन उदाहरण के तौर पर अनुच्छेद 4 के अनुसार देश के राजनीतिक जीवन में हिस्सेदारी नहीं करना अधिकार है या अधिकार का हनन?

लेकिन चर्चा के बिंदुओं पर आगे बढ़ें, तो पहले हिस्से में दिए गए व्यक्ति से संबंधित अधिकार, सामूहिक अधिकार और आत्मनिर्णय के अधिकार मानवीय नीतियों की तर्ज पर ही हैं। इसी प्रकार जीवन, आजीविका और पहचान बरकरार रखने के अधिकार, सांस्कृतिक अधिकार, बच्चों के शैक्षिक अधिकार से संबंधित सभी अनुच्छेदों से सहमत होने में भी कोई परेशानी नहीं है। लेकिन इन लोगों के हितों से जुड़े मामलों से संबंधित निर्णय लेने की प्रक्रिया में हिस्सेदारी नहीं करने के अधिकार का मसला पहले ही उठाया जा चुका है। हालांकि भूमि और भूमि आधारित संसाधनों के क्षेत्रीय अधिकारों से संबंधित भाग 4 के अनुच्छेदों से कई समाज विज्ञानी और सामाजिक कार्यकर्ता सहमत हैं, लेकिन उन पर भी बारीकी से निगाह डालने की जरूरत है। तकरीबन चार दशक पहले मैंने कहा था कि

जनजातीय लोगों का भूमि के साथ रिश्ता आर्थिक रिश्ते से बढ़कर होता है। वे निश्चित भूमि पर अपना अधिकार मानते हैं। बाद में मैं ने इस रिश्ते को प्रारंभिक राजनीतिक बताया था। 1960 में पूर्वोत्तर भारत के राज्य मणिपुर में न्यायिक आयुक्त ने एक अदालती मामले में विशिष्ट क्षेत्र पर समुदाय के अधिकार को मान्यता दी। (रॉय बर्मन, 1961) हालांकि उसने निवासियों के बारे में कानूनी सिद्धांत का जिक्र नहीं किया, लेकिन उसके न्यायिक फैसले में अलग ही सोच थी। भारत के पूर्व मुख्य न्यायाधीश न्यायमूर्ति हिदायतुल्ला भी रेस नलियस के सिद्धांत की वैधता पर सवाल उठा चुके हैं। भूमि स्वामित्व व्यवस्था पर भारत सरकार की समिति ने भी रेस नलियस के सिद्धांत को चुनौती दी है। इस मसले पर 1980 के दशक में 12वीं अंतरर्राष्ट्रीय नृविज्ञान एवं जातीय विज्ञान संघ की कांग्रेस में व्यापक चर्चा की गई। मिसाल के तौर पर डेनहेज (1983) ने कहा, "उपनिवेशवादी ताकतों ने कथित स्थानीय निवासियों पर अपनी सत्ता कायम करने के लिए तमाम तरह के प्रमाणों का इस्तेमाल किया। हालांकि उपनिवेशवादी ताकतें चली गईं, लेकिन स्वतंत्र हुए देश, जिन्हें उन्होंने छोड़ा, अब भी उन्हीं तर्कों पर गुजारा करते हैं। ऐसा लगता है, मानो वे अपनी पूर्ववर्ती उपनिवेशवादी ताकतों के वंशज के तौर पर काम करती हैं।"

कुछ न्यायविद इन तर्कों को सही साबित करने के लिए अनेक सिद्धांत बताते हैं। लेकिन इंग्लैंड में निसान बनाम अटॉर्नी जनरल मामले में ये सिद्धांत उलट गए। दूसरी ओर देशज अधिकारों को किसी तरह अंतरराष्ट्रीय कन्वेंशन में भी मान्यता मिल जाती है। इसका एक ज्वलंत उदाहरण ध्रुवीय भालुओं के संरक्षण के लिए की गई संधि है, जिस पर आर्कटिक देशों, कनाडा, अमेरिका, तत्कालीन सोवियत संघ, नॉर्वे और डेनमार्क (ग्रीनलैंड) ने 1976 में हस्ताक्षर किया था। इस संधि के अनुच्छेद 3(1) में निम्न प्रकार से लिखा गया है, "इस संधि में शामिल होने वाला किसी भी पक्ष को ध्रुवीय भालू ले जाने की अनुमति दी जा सकती है बशर्ते यह काम पारंपरिक अधिकारों के तहत अथवा उससे जुड़े हुए कानूनों के हिस्से के रूप में पारंपरिक प्रणालियों का इस्तेमाल कर किया जाए।" इस प्रकार विडंबना के तौर पर ही सही अमेरिका और पूर्ववर्ती सोवियत संघ जैसे देशों को शामिल कर की गई अंतरराष्ट्रीय संधि देशज लोगों को उनके रीतिगत अधिकार दोबारा प्रदान किए जाने में अच्छा खासा योगदान कर गई है। (रॉय बर्मन, 1985:10–11) हाल के वर्षों में टेरा नलियस के सिद्धांत को सबसे बड़ी चुनौतियां माबो विलेज क्वींसलैंड 1992 के मामले में न्यायिक फैसले से मिली हैं। ऑस्ट्रेलिया के हाई कोर्ट ने माबो फैसले में कहा कि इस क्षेत्र में यूरोप के आक्रमण से पहले इस जमीन पर पारंपरिक रूप से स्वामित्व या कब्जा था और आदिम भूमि प्रणाली को कानूनी रूप से उन क्षेत्रों में लागू किया जा सकता है, जहां नए संपत्ति अधिकार लागू नहीं किए गए हैं।

पिछले चार दशकों के दौरान दुनिया भर के अनेक देशों में जारी घटनाक्रमों से भी संपत्ति संबंधों के क्षेत्र में अंतरराष्ट्रीय कानूनों में नए नियम बनाने की दिशा में प्रगति हुई है।

घोषणापत्र के मसौदे में शामिल अनुच्छेद काफी रूढ़िवादी हैं और परंपराओं के मामले में यथास्थिति बहाल करने वाला रवैया रखते हैं। परंपरा कोई लोहे का पिंजरा नहीं

है, जिसमें लोग रहते हैं। उदाहरण के लिए कई मामलों में प्रमुखों के पारंपरिक अधिकार उपनिवेशवाद की ही देन हैं। यदि उपनिवेशवादी स्वामियों के जाने के बाद भी लोग प्रमुख के अधिकारों को स्वीकार करते हैं, तो यह केवल इसीलिए है क्योंकि उनके विकल्पों ने अपने सभी अधिकार राज्य में शासक वर्ग के हवाले कर दिए हैं। घोषणापत्र को इस तरह की आपदाओं से सुरक्षा करनी चाहिए और पारंपरिक अधिकारों के विभिन्न मानदंडों के संबंधित समुदायों द्वारा आंतरिक पहलुओं को ध्यान में रखते हुए स्वतः आकलन के लिए उसे प्रणाली भी मुहैया करानी चाहिए। भाग 6 में दिए गए अनुच्छेदों में इस प्रकार के प्रावधान नहीं होने से सामाजिक जड़ता पैदा होती है, जो लंबे समय में विस्फोट कर सकती है।

एक अन्य पहलू पर भी ध्यान देना होगा। विशेषाधिकार प्राप्त औद्योगिक देशों ने ज्यादातर लाभहीन तथाकथित तीसरी दुनिया के देशों को विश्व व्यापार संगठन के बहुआयामी समझौते पर सहमत होने के लिए विवश कर दिया है, जिसके कारण उन्हें अपनी अर्थव्यवस्थाएं विदेशी निवेश के लिए खोलनी पड़ रही हैं। एक बार जब विदेशी निवेशक देश में निवेश कर देते हैं, तो उन्हें भी स्थानीय निवेशकों के समान अधिकार प्राप्त हो जाते हैं। इसका विरोध करते हुए 56 गैर सरकारी संगठनों ने कहा है, "इसके परिणाम के रूप में नकारात्क प्रभावों की संख्या और तीव्रता में जबरदस्त इजाफा होने की संभावना है, कई स्थानीय कंपनियां और खेत घाटे में जाएंगे और बंद हो जाएंगे, मुनाफे का बड़ा हिस्सा विदेश जाएगा, जिससे भुगतान संतुलन बिगड़ेगा, घरेलू क्षेत्र को अपनी क्षमता के विकास में परेशानी होगी, विदेशी जमीन और खेत खरीद लेंगे। प्रतिकूल पर्यावरणीय और सांस्कृतिक प्रभाव भी देखने को मिलेंगे क्योंकि ज्यादा से ज्यादा विदेशी कंपनियां नए उद्योग, औद्योगिक उत्पाद और सांस्कृतिक सेवाओं को अंधाधुंध तरीके और रफ्तार से लाएंगे।" (रिसर्जेंस, 1995)

उत्तर के दबाव में आकर विकासशील देशों की सरकारें जनजातीय और देशज लोगों समेत अपनी जनसंख्या के किसी भी वर्ग के संसाधनों पर अधिकार को बचााने में नाकाम रही हैं। घोषणापत्र का अनुच्छेद 28 इन लोगों के संसाधनों और पर्यावरणीय अधिकारों की रक्षा का जिम्मा देश की सरकार पर डालता है। स्पष्ट रूप से विकासशील देशों की सरकारें अपनी जिम्मेदारी पूरी करने में नाकाम होंगी और बदले में औद्योगिक ताकतें मानवीय आधार पर वहां हस्तक्षेप करने का मौका हासिल कर लेंगी। घोषणापत्र में ऐसी आशंका को खत्म करने के लिए भी एक अनुच्छेद होना चाहिए।

आम तौर पर भाग 7 में स्व–शासन के ढांचों के बारे में पारंपरिक अधिकारों से संबंधित अनुच्छेद हाल में स्वतंत्र देशों में व्याप्त चलन के समान ही हैं। लेकिन अनुच्छेद 33 में तथाकथित अंतरराष्ट्रीय मान्यता मानवाधिकार मानकों के संदर्भ की समुचित व्याख्या किए जाने की जरूरत है। फिलहाल तथाकथित अंतरराष्ट्रीय मानवाधिकार मानदंडों की जड़ें आरंभिक तौर पर यूरोपीय इतिहास में छिपी हैं। आने वाले कुछ समय में अधिकार देश के विभिन्न श्रेणियों के इतिहास, सामाजिक पारिस्थितिकीय और राजनीतिक अर्थव्यवस्था से

संबंधित हो जाएंगे। जैसा कि पहले ही बता दिया गया है, यूरोपीय मानवाधिकार, अमेरिकी मानवाधिकार पर अलग–अलग कन्वेंशन हैं, उसी तरह अफ्रीकी मानवाधिकार पर भी अलग से अधिकार पत्र है। एशियाई मानवाधिकार पत्र पर भी बातचीत चल रही है। इनसे ही संकेत मिलता है कि मानवाधिकार पर सार्वभौमिक घोषणापत्र में दुनिया के सभी हिस्सों के मानवाधिकार संबंधी मसलों का समावेश नहीं किया गया है। (रॉय बर्मन, 1999)

अनुच्छेद 36 में कहा गया है कि देशज लोगों और राज्य सरकारों अथवा उनके उत्तराधिकारियों के बीच हुई संधियों, समझौतों और अन्य रचनात्मक समझौतों का सम्मान किया जाना चाहिए। और जिन विवादों और संघर्षों का समाधान किसी अन्य तरीके से नहीं हो सकता है, उन्हें सभी पक्षों के सहमत होने पर किसी सक्षम अंतरराष्ट्रीय संस्था के सामने ले जाना चाहिए। इस समय कई अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं की विश्वसनीयता या साख बहुत अच्छी नहीं है। इसी समय उस आदेश के विवादों और संघर्षों की सामूहिक समीक्षा संबंधित राज्य और जनता के प्रवक्ता को मुहैया कराई जानी चाहिए। अंतरराष्ट्रीय संबंधों में सत्ता के आयाम के बजाय नैतिक आयाम का सहारा लिया जा सकता है।

वित्तीय और तकनीकी सहायता तथा अंतरराष्ट्रीय सहयोग से संबंधित भाग 8 के अनुच्छेद 38 को अस्पष्ट तरीके से तैयार किया गया है। हालांकि इसे अधिकार की भाषा में लिखा गया है, लेकिन असल में इसमें कई खामियां हैं। लैटिन अमेरिका और दक्षिण पूर्व एशिया में देशज लोगों को अंतरराष्ट्रीय सहायता दिए जाने के ऐसे कई मामले हैं, जिनमें संबंधित लोगों के लिए परिणाम महाविपत्तिकारी रहे हैं। इस विशेष अनुच्छेद के बारे में लोगों को काफी सतर्कता बरतनी चाहिए।

संयुक्त राष्ट्र अधिकार पत्र आदि की पुष्टि करने वाले भाग 9 पर फिलहाल कोई प्रश्न नहीं उठाया जा सकता। लेकिन खुद अधिकार पत्र में भी अच्छे खासे संशोधन की गुंजाइश है, ताकि विकासशील देशों और देश के अंदर वंचित तबकों के संघर्ष की एकरूपता को ज्यादा स्पष्ट तौर पर देखा जा सके। इसके लिए संयुक्त राष्ट्र को लोगों के संघ में बदलना पड़ेगा और जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, इसमें देशज और जनजातीय समुदायों को सबसे अहम भूमिका अदा करनी होगी।

vkbZ,yvks dUosa'ku vkSj la;qDr jk"Vª ;w-,u-MCY;w-th-vkbZ-ih ¼UNWGIP½ ?kks"k.kki= dk elkSnk dh rqyuk

यह पहले ही बताया जा चुका है कि आईएलओ की कन्वेंशन 107 पारंपरिक उदारवाद के मूल्यों के मामले में राष्ट्र निर्माण प्रक्रिया से ज्यादा ताल्लुक रखती है। वास्तव में इसका अर्थ मानवीय चेहरे के साथ राष्ट्र की मुख्य जनता की पकड़ मजबूत करना है। कन्वेंशन 169 में राज्य की संस्थाओं के सत्ता केंद्रित रुख को कुछ नरम करने के लिए सहयोगी मूल्यों के साथ राज्य के संचालन के वास्ते नियम बनाने की ओर ज्यादा ध्यान है। जैसा कि पहले ही विश्लेषण किया जा चुका है, अपने यूरोप केंद्रित पक्षपात से परे रहने की वजह से यह कन्वेंशन कन्वेंशन 107 के मुकाबले बेहतर था। यूएनडब्ल्यूजीआईपी के

घोषणापत्र के मसौदे को देखकर लगता है कि वह राज्य की संस्थाओं पर एक खास प्रकार की कार्यसूची थोपने की कोशिश कर रहा है। संयुक्त राष्ट्र के ढांचे में इसे मौजूदा स्वरूप में ही स्वीकार किए जाने की संभावना तो बेहद कम है। लेकिन इसकी वजह से दुनिया भर में राजनीतिक आंदोलन की अच्छी खासी प्रक्रिया शुरू हो जाएगी और यदि सामाजिक आंदोलन की समझ के साथ उसे आगे बढ़ाया गया, तो मानवीय नीतियों को केंद्र में रखते हुए दुनिया की शक्ल बदल सकती है, वरना राज्य संस्थाओं के मलबे पर वैश्विक औद्योगिक ताकतों को अपना नियंत्रण स्थापित करने के लिए रास्ता मिल जाएगा।

Hkkjrh; bfrgkl e tutkfr

सभी लोगों के ब्रह्मांड से उत्पन्न होने की कहानियों के अलावा ईसा से पहली सहस्राब्दी पूर्व के प्राचीन लेखों (वेद, ब्राह्मण और पुराण) में भी जनजातियों अथवा राष्ट्रों अथवा विभिन्न कालों के नाम का उल्लेख मिलता है। विद्वानों के बीच इस मामले पर सहमति है कि संस्कृत भाषा में किरात शब्द पहाड़ों में रहने वाली जंगली गैर आर्य जनजाति की ओर संकेत करता है। ये हिमालय और पूर्वोत्तर भारत में रहते थे और इनका उद्‌भव मंगोलों से हुआ था। कुछ विद्वान यह भी मानते हैं कि यह नाम पहाड़ों में रहने वाले किसी भी व्यक्ति के लिए इस्तेमाल हो सकता है। ऋग्वेद में जातीय भेदभाव के बारे में बेहद स्पष्ट रूप से कहा गया है। कम से कम आरंभिक समय में लोगों के तीन विभिन्न समुदायों को तो वर्गीकृत कर ही दिया गया था, जिनके नाम आर्य, दास और असुर थे। शुरुआती वर्गीकरण में रंग यानी वर्ण को विशिष्ट महत्व दिया हुआ प्रतीत होता है। लेकिन जैसे–जैसे बड़े पैमाने पर संगम शुरू हुआ, दूसरे कारक भी प्रमुख होते गए। वैदिक साहित्य में अक्सर इस्तेमाल होने वाले शब्द जन और विस आधुनिक विद्वानों के मुताबिक जनजाति और जनता के लिए इस्तेमाल किए गए हैं। ऋग्वेद में प्राचीन श्लोकों और ऋचाओं की दोबारा व्याख्या करते हुए शेंडगे (1977:7–8) को उपमहाद्वीप में आक्रमणकारी आर्यों और आर्यों से पूर्व रहने वाली जनता के बीच संघर्ष के संकेत मिलते हैं। शेंडगे के मुताबिक मुख्य विपक्षी असुर हड़प्पा संस्कृति से आए होंगे। लेकिन इस मामले में आमराय अभी नहीं बनी है। प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक प्रमाणों में राक्षस और पिशाचों को निम्न श्रेणी का मानव माना गया है। उनमें गंधर्व और किन्नर जैसे शब्द भी हैं, जो अर्द्ध दैवीय जातियों की ओर संकेत करते हैं। ये ऐतिहासिक प्रमाण नहीं हैं, लेकिन इनसे आक्रमणकारी आर्यों और इस भूमि पर रहने वाले अनार्य लोगों के बीच सामाजिक संबंधों तथा उनके अलग–अलग आचरण के संकेत मिल जाते हैं। पूर्वी तटीय राज्य उड़ीसा में धौला में अपने शिलालेख में भारत के महानतम सम्राटों में से एक अशोक ने वन्य मानवों के साथ सहानुभूति तथा करुणा बरतने के आदेश दिए।

इतिहास ने मध्य युग में मध्य और दक्षिण भारत के घने जंगलों में कभी–कभी प्रवेश करने वाले राजाओं, राजकुमारों, व्यापारियों, हिंदू धर्म प्रचारकों आदि के प्रमाण छोड़ दिए हैं। रॉय बर्मन जनजातियों को विशिष्ट सामाजिक समुदाय बताने के लिए प्रकृति के साथ उनके संबंधों अथवा सामाजिक संबंधों की नीतियों को ही आधार नहीं बनाते, बल्कि राजनीतिक रूप से संगठित साम्राज्यों में उनकी बदलती भूमिकाओं के आधार पर भी बात करते हैं।

मुगल शासन के दौरान जनजातीय लोगों को छेड़ा नहीं गया और उनके प्राकृतिक निवास में रहने दिया गया। 16वीं शताब्दी में मुगल बादशाह अकबर ने अपने एक शाही फरमान में सेनापतियों और सूबेदारों को जनजातीय लोगों को परेशान नहीं करने का आदेश दिया। ब्रिटिश शासकों के आने के बाद प्रशासनिक नीति में जबरदस्त बदलाव हुआ।

परिष्कृत हथियारों और संचार के विकसित साधनों की मदद से ब्रिटिश शासकों के लिए लकड़ी और खनिज संसाधनों का दोहन करने घने जंगलों में जाना काफी आसान हो गया। जटिल सामरिक कारणों से पूर्वोत्तर भारत के पहाड़ी हिस्से को 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक छोड़ दिया गया था। लेकिन जनजातीय भूमि पर अतिक्रमण करना आसान काम नहीं रहा। राघवैया (1977) ने 19वीं शताब्दी में भारत भर में औपनिवेशिक आक्रमण के खिलाफ जनजातीय लोगों के सशस्त्र संघर्ष के तकरीबन 100 मामले दर्ज किए हैं। लेकिन इन संघर्षों में मैदानी लोगों ने जंगल में रहने वालों के हित के लिए शायद ही लड़ाई की। 1874 में अंग्रेजों ने अनुसूचित जिला अधिनियम लागू किया, जिसके तहत कार्यपालिका को सामान्य आदेश के जरिये ही कानून की ताकत दे दी गई। लगभग उसी समय संघर्षरत तत्वों पर निगरानी रखने के लिए आपराधिक जनजाति कानून भी लागू किया गया। जनजातीय लोगों के लिए जो क्षुब्ध करने वाला नहीं था, वह था रेस नलियस के नियम को लागू करना। (इसके अनुसार संप्रभु शासन ने जमीन और जमीन पर आधारित संसाधनों के लिए जो अधिकार नहीं दिए हैं, वे अधिकार संप्रभु शासन के ही पास रहेंगे।)

इतिहासकारों ने बताया है कि भारत में पारंपरिक विधि व्यवस्था ऐसी थी, जिसमें भूमि के साथ स्थानीय लोगों के संबंध ही कानून बनाते थे। लेकिन वहां ऐसे आखेट स्थल अथवा अन्य निश्चित स्थान होते थे, जिनके आर्थिक अधिकार राजा के ही पास होते थे। कुछ राजाओं ने अपने सुपरिभाषित दायरे से परे जाकर राजनीतिक न्यायिक अधिकारों को आर्थिक स्वामित्व अधिकार में बदलने का भी प्रयास किया। लेकिन उन्हें या उनके वंश को इसकी कीमत चुकानी पड़ी, देर सबेर उन्हें सत्ता से बेदखल कर दिया गया। औपनिवेशिक स्वामी सेना के मामले में इतने शक्तिशाली थे कि उनसे सत्ता नहीं छीनी जा सकती थी। 20वीं शताब्दी के दूसरे दशक में जनजातीय लोगों को एक तरह से दास ही बना लिया गया और दूसरी ओर भारत को विदेशी शासन से मुक्त कराने के लिए आंदोलन भी जोर पकड़ रहा था, उसी समय भारत सरकार अधिनियम 1919 के तहत अपने प्रशासन के लिए विशिष्ट कार्यसूची वाली जनजातियों को मान्यता प्रदान कर दी गई। भारत सरकार के अधिनियम 1935 के तहत बहिष्कृत क्षेत्रों और आंशिक रूप से बहिष्कृत क्षेत्रों की घोषणा गवर्नर जनरल इन काउंसिल ने की। संघीय अथवा प्रांतीय विधायिका का कोई भी कानून गवर्नर के निर्देश के अलावा किसी भी हालत में बहिष्कृत क्षेत्र में लागू नहीं होगा, इसमें उस क्षेत्र में शांति और अच्छा प्रशासन सुनिश्चित करने के लिए गवर्नर को नियम बनाने के अधिकार भी दिए गए। आंशिक रूप से बहिष्कृत क्षेत्रों में रहने वाले जनजातीय लोगों को किसी तरह विधायिका में प्रतिनिधित्व मिल ही गया, मंत्री भी गवर्नर के अधिकारों के अनुसार इन क्षेत्रों में अपने प्रशासनिक अधिकारों का इस्तेमाल कर सकते थे। स्वाधीन भारत

में जनजातीय बाहुल्य वाले क्षेत्रों में प्रशासन की योजना में खासा परिवर्तन किया गया। लेकिन रेस नलियस और टेरा नलियस की औपनिवेशिक कानूनी व्यवस्था केवल जारी ही नहीं रही, बल्कि उसे और भी तेजी के साथ लागू किया गया। भूमि कानूनों के बारे में बुनियादी सिद्धांतों की रचना ब्रिटिश काल में की गई थी, लेकिन ज्यादातर जनजातीय बहुल इलाकों में संचार बुनियादी ढांचे और प्रशासनिक बुनियादी ढांचे की कमी होने के कारण इन्हें लागू नहीं किया जा सका। इसी वजह से ज्यादातर जनजातीय लोग इनसे पूरी तरह अछूते रह गए। लेकिन स्वतंत्रता के बाद के काल में जब कागजों पर मौजूद ये कानून लागू किए गए, तो ज्यादातर जनजातीय लोगों ने खुद को ठगा सा महसूस किया और उनमें से ज्यादातर के मन में अलगाव की एक भावना फैल गई। स्वतंत्रता के बाद के भारत में निश्चित तौर पर जनजातीय लोगों के कल्याण के लिए कई उपाय किए गए हैं, लेकिन जब जीवन को सहारा देने वाली व्यवस्था पर से ही उनका अधिकार छीन लिया गया, तो कल्याणकारी योजनाएं शायद ही उनके लिए फायदेमंद हो सकती हैं।

Hkkjr d lfo/kku e tutkrh; ykx

भारत के संविधान में देश को संप्रभु समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष लोकतांत्रिक गणराज्य बनाने तथा सभी नागरिकों के लिए न्याय, स्वतंत्रता, समानता और भाईचारा सुनिश्चित करने की राजनीतिक भावना निहित है। इन सभी उद्‌देश्यों को प्राप्त करने के लिाए संविधान में अनुसूचित जनजातियों (एसटी) के हितों की रक्षा करने और उन्हें बढ़ावा देने के प्रावधान हैं। इनमें संविधान के तहत एसटी के तौर पर अधिसूचित किए गए समुदायों के सामाजिक और आर्थिक हितों को बढ़ावा देने के लिए ठोस कार्यवाही करना शामिल है, जिसमें कानूनी तौर पर आरक्षण देने, शैक्षिक संस्थानों और सेवाओं में आरक्षण के लिए उपबंध तैयार करने, भाषाओं और संस्कृति को बढ़ावा देने आदि के प्रावधान हैं। जनजातीय बाहुल्य वाले इलाकों में प्रशासन के लिए ये दो महत्वपूर्ण उपकरण हैं। उन पर चर्चा करने से पहले संविधान के बुनियादी ढांचे के कुछ अभिप्रायों का संक्षिप्त वर्णन किया जा रहा है। दीर्घ अवधि में सामाजिक न्याय, स्वतंत्रता, समानता और भाईचारा आपस में संबंधित लग सकते हैं, लेकिन कम अवधि में ऐसा नहीं भी हो सकता है। इसके अतिरिक्त समुदाय के अंदर व्यक्तियों के अधिकार और संपूर्ण सामाजिक राजनीतिक माहौल में समुदायों के सामूहिक अधिकारों का हमेशा एक समान होना तय नहीं है। ऐसे मुद्‌दों पर सैद्धांतिक स्तर पर गंभीरता के साथ विचार नहीं किया गया। (महाजन, 1998:4) एक ओर जहां उदारवाद में दोनों धारणाएं शामिल हो जाती हैं, वहीं प्रत्येक का सामूहिक और व्यक्तिगत स्तर पर सामाजिक ढांचे और समूहों और व्यक्तियों के सांस्कृतिक पारिस्थितिकीय तंत्र तथा व्यक्तियों के पारिवारिक इतिहास के आधार पर अलग–अलग प्रभाव होता है। भारत में जनजातियां समांगी निकाय का निर्माण नहीं करती हैं, इसलिए स्पष्ट रूप से एकसमान धारणा या रवैया संभव भी नहीं है। लेकिन जीवन परिस्थितियों की विविधता के बावजूद एकता की उभरती हुई भावना भी है, जिसकी जड़ें अपनी जीवन पद्धति से अलग किए जाने और उसी के कारण सामूहिक रूप से हाशिये पर डाले जाने की भावना में निहित हैं। (रॉय बर्मन, 1966:2)

lfo/kku dh ikpoh vkj NBh vu|lph

संविधान की पांचवी अनुसूची दरअसल संरक्षणवादी और पैतृक व्यवस्था पर आधारित है। यह इस अनुसूची के तहत आने वाले क्षेत्रों के प्रशासन के बारे में केंद्र सरकार द्वारा निरीक्षण किए जाने की बात करती है। इसके अतिरिक्त यह गवर्नर या राज्यपाल को राज्य विधानसभा द्वारा लागू किए गए कानून को खारिज करने अथवा उनमें परिवर्तन करने का अधिकार भी देती है। राज्यपाल को इसके अलावा अनुसूचित क्षेत्रों की शांति और स्वच्छ प्रशासन के लिए नियम तैयार करने का अधिकार भी दिया गया है। संविधान में जनजाति सलाहकार परिषद के लिए भी प्रावधान है, जिसमें राज्य विधानसभा में निर्वाचित जनजातीय प्रतिनिधि शामिल होते हैं।

छठी अनुसूची केवल पूर्वोत्तर भारत के कुछ जनजातीय बाहुल्य वाले क्षेत्रों में ही काम करती है। इसमें स्वतः प्रबंधन की बात सामने आती है। छठी अनुसूची के दायरे में आने वाले प्रत्येक जनजातीय क्षेत्र में एक स्वायत्तशासी परिषद होती है, जिसमें 30 से ज्यादा सदस्य नहीं होते हैं और चार से अधिक नामांकित सदस्य नहीं होते हैं। परिषद के पास विधायी, कार्यपालिका और न्यायपालिका के अधिकार होते हैं, लेकिन वास्तव में इन अधिकारों के साथ कई प्रतिबंधात्मक शर्तें भी होती हैं। परिणामस्वरूप ऐसी परिषद राज्य और राष्ट्रीय स्तर के राजनीतिक आकाओं की राजनीतिक खिलौना भर बनकर रह जाती हैं।

1992 में देश भर में स्थानीय सरकार के अंगों को मजबूत करने के इरादे से संविधान में संशोधन किया गया। इसके बाद 1996 में एक कानून बनाया गया, जिसका उद्देश्य अनुसूचित इलाकों में जनजातीय स्वशासन के संस्थानों को अधिकार प्रदान करना था। लेकिन इस बात पर बहस की जा सकती है कि इन प्रावधानों से वास्तव में उन उद्देश्यों की पूर्ति हुई अथवा नहीं। छठी अनुसूची में संशोधन पर भी सार्वजनिक बहसें शुरू हो चुकी हैं। विचारकों के एक वर्ग का मानना है कि संशोधन की मदद से जनजातीय समूहों के लिए स्वतः निर्णय का मार्ग प्रशस्त होना चाहिए, वहीं विचारकों का दूसरा वर्ग मानता है कि संशोधन के जरिये जनजातीय इलाकों में रहने वाले नागरिकों की सहभागितापूर्ण भूमिका को बढ़ावा मिलना चाहिए।

नागरिकता के मसले को तो इन तथ्यों के संदर्भ में देखा जाना चाहिए कि भारत में चार जनजाति बहुल राज्य हैं और दो जनजाति बहुत केंद्रशासित प्रदेश हैं। इसके साथ ही इस बात का भी ध्यान रखना होगा कि एक राज्य में भारत की आजादी के समय जनजातियों का बाहुल्य था, लेकिन अब वे अल्पसंख्यक बनकर रह गए हैं और जनजातीय लोगों की संख्या राज्य की कुल जनसंख्या की महज 30 प्रतिशत है। यह केवल जनजातियों को ही नहीं बल्कि कुछ भाषायी अल्पसंख्यकों को भी सदमे में डालने वाला तथ्य है। भारत में किसी भी स्थान पर जन्म लेने वाले और पलने–बढ़ने वाले सभी व्यक्तियों को यहां की नागरिकता प्रदान की जाती है, इसलिए नागरिकता के मसले को जनजातीय लोगों के लिए बनाई गई संस्थाओं के साथ नहीं जोड़ा जाना चाहिए।

Hkkjr e vulfpr tutkfr;k dh orleku fLFkfr

संविधान में दिए गए तरीकों के अनुसार अनुसूचित जनजातियों को एक ही साथ सूचीबद्ध किया गया है। ऐसे कई समुदाय हैं, जो स्वयं को जनजाति मानते हैं और जिन्हें उनके पड़ोसी जनजाति की ही संज्ञा देते हैं, लेकिन उन्हें अनुसूचित जनजातियों की सूची में जगह नहीं मिली है। दूसरी ओर ऐसे भी कुछ समुदाय हैं, जिन्हें उनके पड़ोसी जनजातीय समुदायों में नहीं गिनते हैं, लेकिन जिन्हें सूची में शामिल कर लिया गया है। मिसाल के तौर पर स्वांगला हिमाचल प्रदेश में ब्राह्मण होते हैं, लेकिन कानून में उन्हें अनुसूचित जनजाति का दर्जा मिला हुआ है। इसी संदर्भ में जब विश्व बैंक भारत में सभी अनुसूचित जनजातियों को देशज का दर्जा दे देता है, तो यह और कुछ नहीं बल्कि बिना जाने–बूझे दखल करने का मामला है।

1991 की जनगणना में 6 करोड़ 78 लाख लोगों को एसटी के तौर पर गिना गया था, लगभग 600 समुदायों के नामों को सूची में शामिल किया गया था, लेकिन उनमें से कई उप जनजातियां या उनसे मिलते जुलते नाम थे। 1991 की जनगणना में जनजातीय लोगों की सही संख्या अभी तक उपलब्ध नहीं है। 1971 में सबसे बड़ी जनजाति भील की आबादी 50 लाख से भी ज्यादा थी और सबसे छोटी जनजाति ओंगे की आबादी केवल 112 थी। (100 से कम आबादी वाली जनजातियों पर यहां विचार ही नहीं किया जा रहा है।) 1991 में देश की कुल आबादी में एसटी की हिस्सेदारी 8.5 प्रतिशत थी। जनजातियों के पारंपरिक आश्रय के रूप में वनों से ढके हुए ऊंचाई वाले हिस्सों का नाम आता है। जनजातियों के लिए यह खास तौर पर महत्व की बात है कि उपग्रह से मिले आंकड़ों के मुताबिक भारत में हर साल तकरीबन 13 लाख हेक्टेयर जंगली क्षेत्र खत्म होता जा रहा है। हालांकि इसके लिए जनजातीय समुदायों को ही दोषी ठहराया जाता है और एक सरकारी समिति की रिपोर्ट में भी अवैज्ञानिक और असंगत वन्य गतिविधियों को भी इसके लिए आंशिक रूप से जिम्मेदार ठहराया गया है। पर्यावरणीय क्षय के कारण होने वाले विस्थापन के अलावा जनजातीय समुदाय वनों के आरक्षण, औद्योगिक और जलविद्युत परियोजनाओं के कारण होने वाले विस्थापन और भूमि के व्यावहारिक इस्तेमाल की योजना के बिना शहरीकरण के कारण भी प्रभावित हो रहे हैं। एक अनुमान के मुताबिक भारत में 1 करोड़ से भी ज्यादा जनजातीय लोग विस्थापित हो चुके हैं, लेकिन देश के विभिन्न हिस्सों में राष्ट्रीय पुनर्वास के उपाय बेहद भेदभावपूर्ण हैं। इसके अलावा जनजातीय समुदायों की सामाजिक पारिस्थितिकीय भी संसाधनों के व्यावसायिक उत्खनन और उससे जुड़ी गतिविधियों के लिए जनजातीय क्षेत्रों को खोले जाने के परिणाम के तौर पर गैर जनजातीय लोगों के बड़े पैमाने पर प्रवास के कारण प्रभावित हुई है। भौतिक और सामाजिक पारिस्थितिकीय में बदलाव का भी जनजातियों के पोषण संबंधी दर्जे पर असर पड़ा है।

1986 में किए गए एक अध्ययन में पता चला कि जनजातीय जनसंख्या का 40 प्रतिशत हिस्सा तो अच्छी तरह से पोषण प्राप्त करने वाला था, लेकिन 60 प्रतिशत हिस्से में पोषण की जबरदस्त कमी थी। 1990 के शुरुआती दौर में लगभग 53 प्रतिशत जनजातीय

आबादी गरीबी की रेखा से नीचे जीवन यापन कर रही थी, जबकि गरीबी की रेखा से नीचे जीवन यापन करने वालों का राष्ट्रीय औसत केवल 32 प्रतिशत था। 1991 में अनुसूचित जनजाति का 7.38 प्रतिशत हिस्सा शहरी क्षेत्रों में रहता था, जबकि इस मामले में राष्ट्रीय औसत लगभग 25.73 प्रतिशत था। एसटी का 42 प्रतिशत हिस्सा कार्य बल का हिस्सा था, जबकि इसका राष्ट्रीय औसत 37.6 प्रतिशत ही था। कार्य बल में ज्यादा सहभागिता का अर्थ अक्सर यह होता है कि बेहतर पारिश्रमिक और बेहतर प्रतिष्ठा वाले पेशों में काम करने के लिए आश्रितों को उच्च कौशल प्राप्त करने के वास्ते भेजने में अक्षमता है। 1991 की जनगणना में एसटी कामगारों में से 54.50 प्रतिशत किसान थे, 32.69 प्रतिशत खेतिहर मजदूर थे और शेष अन्य प्रकार के कामगार थे। एसटी और आम जनता के बारे में 1961 से लेकर पिछले जनगणना के आंकड़ों की तुलना की गई, तो पता चला कि आम जनता के बीच काफी हद तक व्यवसाय का विविधीकरण हो रहा था और 1980 के दशक में एसटी को इस मामले में धक्का लगा था। 1961 में भारत की जनसंख्या (0 से 4 वर्ष के आयुवर्ग समेत) 24 थी, जबकि एसटी की आबादी 8.5 ही थी। उसके बाद की जनगणनाओं में यही आंकड़े क्रमशः 29.5 और 11.5 (1971), 36.2 और 16.4 (1981) और 42.8 तथा 22 (1991) थे। यह रोचक बात थी कि साक्षरता की दर आम जनता के मुकाबले एसटी में ज्यादा रफ्तार के साथ बढ़ रही थी।

भारत की जनजातीय भाषाएं सभी प्रमुख भाषायी परिवारों से संबंध रखती हैं। ऑस्ट्रीक, द्रविड़, तिब्बती–चीनी परिवारों की भाषाएं ज्यादा बोली जाती हैं। 1961 की जनगणना में तकरीबन 50 प्रतिशत जनजातीय आबादी को उनके पूर्वजों की भाषा को ही मातृभाषा के रूप में बोलते हुए पाया गया। तकरीबन 15 प्रतिशत जनजातीय भाषा को दूसरी भाषा के तौर पर बोलते हुए मिले। 1991 की जनगणना में कुछ प्रमुख जनजातियों की लगभग समूची आबादी को अपने पूर्वजों की भाषा मातृभाषा के रूप में बोलते हुए पाया गया। पूर्वी भारत में संथाल और हो के लिए और पूर्वोत्तर भारत में ज्यादातर जनजातियों के मामले में यह सही पाया गया। कुरुख, मुंडा और खरिया भाषाओं का प्रचलन इतना अधिक नहीं है। पश्चिम भारत और दक्षिण भारत में जनजातियों के पूर्वजों की भाषा के इस्तेमाल की दर काफी कम है।

जनजातीय भाषाओं के तीव्र इस्तेमाल के साथ दो अन्य घटनाएं भी जुड़ी हुई हैं। सबसे पहली बात तो उस क्षेत्र की लिपि से इतर अलग लिपि के इस्तेमाल की इच्छा है। संथाल ऐसी तीन लिपियों का इस्तेमाल करते हैं। ज्यादा दिलचस्प घटना हाल के दशकों में विभिन्न जनजातीय भाषाओं में खास तौर पर पूर्वी और पूर्वोत्तर भारत में रचनात्मक साहित्य का फलना फूलना है। 1950 के दशक में बोडो भाषा में बमुश्किल दर्जन भर प्रकाशित पुस्तकें थीं, लेकिन आज वे तकरीबन 4000 पुस्तकें होने का दावा करते हैं। भोपाल के मानव संग्रहालय में 50 जनजातीय भाषाओं की लगभग 4000 पुस्तकों का संग्रह है। मेरे अनुमान के मुताबिक तो भारत में विभिन्न जनजातीय भाषाओं में 20000 से ज्यादा प्रकाशित पुस्तकें हैं।

पहचान की घोषणा का एक अनूठा उदाहरण धार्मिक जुड़ाव के दावों में मिलता है। उड़ीसा के संथालों का खास तौर पर जिक्र करना होगा। ईसाई संथालों की आबादी में जनगणनाओं के दौरान मामूली इजाफा देखा गया, 1961 में 0.01 प्रतिशत, 1971 में 0.07 प्रतिशत और 1981 में 0.35 प्रतिशत। लेकिन हिंदू और ईसाई धर्मों के अलावा अन्य धर्मों को मानने वालों की जनसंख्या में जबरदस्त इजाफा हुआ। 1961 में यह इजाफा केवल 0.34 प्रतिशत था, जो 1971 में 13.14 प्रतिशत हुआ और 1981 में 46.23 प्रतिशत हो गया। कुछ राज्यों में तो हिंदू धर्म या ईसाई धर्म का पालन करने वालों के इजाफे की दर कम होती दिखी। लेकिन यह कहना मुश्किल है कि समूचे भारत के स्तर पर एक स्थिर प्रचलन प्राप्त हो गया है।

पहचान कायम करने की छटपटाहट बढ़ते राजनीतिक उग्रवाद में सबसे ज्यादा दिखती है। पहले यह प्रचलन केवल पूर्वोत्तर भारत तक ही सीमित था। अब मध्य भारत की जनजातीय पट्टी में भी इसके संकेत मिल जाते हैं और वहां भी राजनीतिक संकट खड़ा हो रहा है। पूर्वोत्तर भारत में तो उग्रवाद मोटे तौर पर राष्ट्रवादी प्रवृत्ति का है, जिसमें कुछ मामलों में खुद के स्वतंत्र राज्य की मांग हो रही है। लेकिन मध्य भारत की जनजातीय पट्टी में उग्रवाद विचारधारा से ज्यादा प्रभावित है, जिसमें मुख्य जोर वनों और भूमि पर जीवन के आधार तक पहुंच और उन पर नियंत्रण तथा उनके प्रबंधन के अधिकार पर दिया जा रहा है, जिनका हनन कानूनी पेचीदगियों और पारिस्थितिकीय प्रबंधन के संभ्रांतों जैसे रास्ते के कारण हो रहा है। इन मसलों को बारीक नजर और समझ के साथ सुलझाने के बजाय भारत में राज्य व्यवस्था एक ओर आतंक का साम्राज्य फैलाकर और दूसरी ओर कल्याणकारी योजनाएं चलाकर चुनौतियों से निपटने में लगी हुई है। त्रासदी यह है कि हालात धुंधले दिख रहे हैं, लेकिन यह मानने का प्रत्येक कारण मौजूद है कि वैश्विक स्थिति और भारत तथा पड़ोसी देशों के भीतर ऐतिहासिक प्रक्रिया के आधार पर अधिक विश्वसनीय लोकतांत्रिक रवैये के साथ एक दूसरे को समझने की पूरी संभावना मौजूद है। लेकिन सही पहल होना अभी बाकी है।

iM+kslh ns'kksa esa tutkfr;ksa dh fLFkfr ij ljljh utj

चूंकि खास तौर पर पूर्वोत्तर भारत के जनजातीय लोगों के बीच राजनीतिक आंदोलन का समाधान काफी हद तक दक्षिण पूर्व एशिया के देशों के साथ भारत के संबंधों पर निर्भर करता है, इसलिए उन देशों पर सरसरी निगाह दौड़ाना जरूरी है। पूर्वोत्तर भारत में कई जनजातियां मसलन सिंघपो, नगाओं के कुछ वर्ग, मिजो आदि के साथी म्यांमार में हैं। अरुणाचल प्रदेश के सिंघपो, लिशू या येओबिन के साथी चीन में तिब्बत के स्वायत्तशासी प्रदेश में रहते हैं। उपनिवेशों से पहले के काल में दक्षिण पूर्व एशिया के साम्राज्य को कठोरता के साथ तय सीमाओं के जरिये नहीं बांटा गया था, बल्कि इन्हें सीमांत क्षेत्रों के जरिये बांटा जाता था। उपनिवेश काल में खास तौर पर अंग्रेजों और फ्रांसीसियों की प्रतिद्वंद्विता के कारण निवासियों के सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और ऐतिहासिक संबंधों की अनदेखी करते हुए कठोरता के साथ सीमाएं तय कर दी गईं। दूसरे विश्व युद्ध

के दौरान जब जापान ने दक्षिण पूर्व एशिया के ज्यादातर हिस्से पर कब्जा कर लिया था, तो इन सीमाओं को तार्किक बनाने के प्रयास किए गए, लेकिन युद्ध के बाद मामला फिर पहले जैसा हो गया। (लैंब, 1968) इस समय दो संभावनाएं हैं। सबसे पहली संभावना पूर्वोत्तर भारत और दक्षिण पूर्व एशिया में राज्यों की सीमाओं का दोबारा निर्धारण करना है। लेकिन इससे एक के बाद एक बखेड़े खड़े हो जाएंगे। सभी देशों में सिलसिलेवार प्रतिक्रियाएं शुरू हो जाएंगी, जिनकी वजह से या तो देश बिखर जाएंगे या उनकी ताकत खत्म हो जाएगी, जिससे नवीन औपनिवेशिक ताकतों को सिर उठाने का मौका मिल जाएगा। जनजातीय और देशज समुदायों के हितों के लिहाज से भी यह नुकसानदेह होगा। दूसरी संभावना भी है। तथ्यों की बात करें, तो (क) संस्था के तौर पर राज्य अपने कई कामों से पीछे हट रहा है। (ख) जैसा कि स्टेजबॉर्न ने कहा है कि राज्य गैर देशज विचारधारा है और (ग) समीर अमीन समेत कइयों ने जिसकी वकालत की है, उस विचार के मुताबिक आगे चलकर राष्ट्र की जगह मानवीय मामलों के प्रबंधन की वैश्विक व्यवस्था ले लेगी। इस बीच वंचित देशों में सरकार को वैश्विक गुटों के खिलाफ काम करना चाहिए और ऐसे में राज्यों की सीमाएं बदले बिना सीमाओं के परे भी संस्थागत व्यवस्था के बारे में सोचा जा सकता है। जरूरत है तो लचीली प्रतिक्रिया की। एक सीमा तक इसका उदाहरण अमेरिका में घरेलू संदर्भ में मिल सकता है। इस बात का कोई कारण ही नहीं है कि अंतरराष्ट्रीय संदर्भ में भी यही रवैया क्यों नहीं अपनाया जा सकता हालांकि अमेरिका को खुद इस मामले में ऐतराज है। (गार्सिया–एलिक्स, 1999)

vefjdk e vefjfM;Ul d ekey e uhfr;k e cnyko

यह निरीक्षण कैनबी पर आधारित है। जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है कि अमेरिका का उपनिवेशीकरण करने के दौरान ब्रिटिश शासन को विदेशी राष्ट्र के रूप में इंडियन जनजातियों से निपटना पड़ा था और उसने उनमें से कई के साथ समझौते भी किए। बाद में जब यह देखा गया कि व्यक्तिगत उपनिवेशवादी इंडियनों की भूमि पर अतिक्रमण कर रहे हैं, तो इंडियन समुदाय के साथ लंबे और खर्चीले युद्ध से बचने के लिए ब्रिटिश सरकार ने धीरे–धीरे जनजातियों को उपनिवेशवादियों के आधिक्य से बचाने वाले की भूमिका स्वीकार कर ली। जब अमेरिका को आजादी मिल गई, तो सीनेट की सहमति के साथ इंडियन संधि समेत तमाम संधियां करने का अधिकार कांग्रेस को दे दिया गया।

अमेरिंडियन और लगातार बढ़ती प्रवासी जनसंख्या के बीच संघर्ष पहले की ही तरह जारी रहा क्योंकि प्रवासियों की अतिरिक्त जमीन की मांग और जोर पकड़ती गई। इसके समाधान के तौर पर अमेरिंडियनों को मिसीसिपी नदी के दूसरी ओर खत्म कर देने का प्रस्ताव ताकतवर राजनीतिक गुटों ने स्वीकर भी किया और लागू भी किया।

1775 में अमेरिका के उच्चतम न्यायालय ने एक न्यायिक घोषणा की, जिसके मुताबिक किसी भी तीसरे पक्ष के खिलाफ अपनी जमीन पर अमेरिंडियनों के अधिकार को

मान्यता दी गई, लेकिन इसके लिए संघीय सरकार की अनुमति जरूरी बता दी गई। 1832 में मुख्य न्यायाधीश मार्शल ने न्यायिक फैसला दिया कि "हालांकि इंडियन समुदाय का उस जमीन पर बिना किसी सवाल के पूरा अधिकार है, जिस पर वे तब तक हैं, जब तक हमारी सरकार को स्वेच्छा से जमीन सौंपकर वे उस अधिकार को त्याग न दें। फिर भी इस बात पर संदेह बरकरार रहेगा कि अमेरिका की सीमाओं के भीतर रहने वाली जनजातियां घरेलू राज्यों के बीच बांटी जा सकती हैं। वे एक क्षेत्र पर रहती हैं, जिसे उनकी इच्छा के बगैर हम उन्हें सुपुर्द करते हैं और उनके अधिकार के खत्म होने पर जो सरकार के अधिकार में आ जाएगी। इसका मतलब है कि चाहें वे किसी भी स्थान पर रहें, अमेरिकी सरकार के साथ उनके रिश्ते वैसे ही होंगे, जैसे किसी अभिभावक के साथ होते हैं।"

जैसे–जैसे गैर इंडियन पश्चिम की ओर बढ़ते गए, इंडियन समुदाय की भूमि पर दबाव बढ़ता गया और संघीय सरकार ने जनजातियों को विशिष्ट क्षेत्र में सीमित रखने की नीति बना दी। इस उद्देश्य को उन संधियों के जरिये पूरा कर लिया गया, जिन्हें बहकावे और जोर जबरदस्ती के साथ किया गया था। 1871 में कांग्रेस ने एक विधान पारित किया, जिसमें कहा गया कि किसी भी जनजाति को स्वतंत्र देश नहीं माना जाएगा, जिसके साथ अमेरिका संधि कर सकता है। लेकिन मौजूदा संधियों पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ने दिया गया। 1871 के बाद लगाए गए प्रतिबंध कानून के जरिये हुए।

1870 और 1880 के दशकों में आरक्षण की नीति को लेकर सरकारी हलकों में दो आधारों पर असंतोष बढ़ता जा रहा था, (क) इसकी वजह से व्यक्तिगत इंडियन प्रयासों में बाधा पड़ती थी और (ख) भूमि के बड़े–बड़े हिस्से श्वेत बस्तियों से बाहर रह गए। इन दो भावनाओं का खयाल रखते हुए 1887 का जनरल अलॉटमेंट एक्ट लागू किया गया, जिसे डॉज एक्ट भी कहा जाता है। इस कानून के तहत आंतरिक सचिव को गैर इंडियन बस्तियां बसाने के बाद अथवा अन्य उद्देश्यों के लिए जमीन का आवंटन करने के बाद बची हुई तमाम अतिरिक्त जमीन के निस्तारण के लिए जनजातियों से बातचीत करने का अधिकार दिया गया।

इस कानून में परोपकारी मुलम्मे के बावजूद इसे इंडियन जनजातियों की रजामंदी लिए बगैर ही थोप दिया गया। अलॉटमेंट एक्ट का जो पहला प्रभाव हुआ, वह यह था कि इंडियनों के पास मौजूद जमीन 13.8 करोड़ एकड़ से घटकर 4.8 करोड़ एकड़ ही रह गई, जिसमें तकरीबन 2 करोड़ एकड़ जमीन रेगिस्तानी या अर्द्ध रेगिस्तानी इलाकों में थी।

1928 में प्रख्यात मेरियम रिपोर्ट में अलॉटमेंट या आवंटन के दौर में संघीय इंडियन नीति की नाकामियों की बातें दर्ज की गईं। इसके बाद इंडियन रिकग्नाइजेशन एक्ट 1935 के लिए रास्ता साफ हुआ। अलॉटमेंट एक्ट के उलट रिकग्नाइजेशन एक्ट इस धारणा पर आधारित था कि जनजातीय समुदाय अनंत काल तक जीवित रहेंगे, बल्कि उन्हें रहना भी चाहिए। इस कानून में जनजातियों की जमीन को संरक्षित करने और उन्हें स्व शासन में

सहायता के लिए कानूनी ढांचों का गठन करने की अनुमति दी जानी चाहिए।

इस कानून के तहत आंतरिक सचिव को ऐसी कोई भी अतिरिक्त जमीन जनजातियों को लौटाने का अधिकार दिया गया, जो अलॉटमेंट एक्ट के तहत ली गई थी और जिस पर तीसरे पक्ष ने अधिकार नहीं लिए थे। इसके साथ ही इस कानून में आंतरिक सचिव को जनजातियों के लिए जमीन और अधिकार हासिल करने तथा नए आरक्षण बनाने का अधिकार भी दे दिया गया। इस कानून के अंतर्गत जनजातियों को यह अधिकार दे दिया गया कि वे अपने सदस्यों की ही मंजूरी और आंतरिक सचिव की मंजूरी के साथ संविधान तथा नियमों को बना सकते हैं और उन्हें अंगीकार भी कर सकते हैं।

यह कानून जनजातियों की जमीन का और क्षरण रोकने में तो काफी हद तक कामयाब रहा, लेकिन पश्चिमी मॉडल के आधार पर बनाए गए स्वशासन के विचार को ज्यादा सफलता नहीं मिली।

1940 के दशक तक जनजातीय आरक्षित इलाकों के तहत कई क्षेत्रों में तेल और खनिज संसाधनों के भंडार का पता चला और राजनीतिक आकाओं के इरादे बदल गए। 1953 में कांग्रेस ने औपचारिक रूप से अंत करने की नीति लागू कर दी। कई जनजातियों को कानूनी तौर पर खत्म मान लिया गया, संघीय सरकार के साथ उनके विशेष संबंध खत्म हो गए और उन्हें राज्य के कानूनों के दायरे में लाया गया। उनकी जमीनों को निजी स्वामित्व में लाया गया और उनमें से ज्यादातर को बेच दिया गया।

जिस समय कांग्रेस टर्मिनेशन यानी अंत करने के लक्ष्य की तरफ बढ़ रही थी, इंडियन मामलों का ब्यूरो (बीआईए) अपने विस्थापन कार्यक्रम के तहत इंडियनों को आरक्षित इलाके छोड़ने के लिए बढ़ावा देने का प्रयास कर रहा था। आरक्षित इलाकों में बेरोजगारी की ऊंची दर के जवाब में बीआईए ने ऐसे इंडियनों के लिए अनुदान की पेशकश की, जो बड़े शहरों में काम की तलाश करने के लिए ये इलाके छोड़कर जा रहे थे। जल्द ही इस कार्यक्रम का असर शहरों में दिखने लगा, बेरोजगार इंडियनों की पूरी भीड़ शहरों में इकट्ठा हो गई, जिसके सामने विस्थापन की पीड़ा के साथ–साथ शहरी निर्धनों की तमाम समस्याएं मौजूद थीं।

1953 में सार्वजनिक कानून 280 को लागू किया गया, जिसमें पांच विशिष्ट राज्यों में इंडियन जनजातियों को भी राज्य के नागरिक और आपराधिक न्यायिक अधिकार क्षेत्र में ले लिया गया। 1958 में यह कानून अलास्का में भी लागू कर दिया गया। यह कानून मार्शल के इंडियन राज्यों को ऐसे क्षेत्र के रूप में मानने के सिद्धांत के सीधे खिलाफ था, जिसके तहत इंडियन क्षेत्रों में राज्य के कानून को कोई अधिकार नहीं दिए गए थे।

1960 के दशक के अंत टर्मिनेशन की नीति को नाकाम माना जाने लगा। कुछ इसकी वजह से और कुछ दूसरी वजहों से कांग्रेस ने इंडियन सिविल राइट्स एक्ट 1968 में पारित किया, जिसने सार्वजनिक कानून 280 में परिवर्तन कर दिया, जिससे राज्य इंडियन जनजातियों के ऊपर सार्वजनिक और आपराधिक न्यायिक क्षेत्र को तब तक लागू नहीं

मान सकते थे, जब तक प्रभावित जनजातियां चुनाव की विशेष प्रणाली के जरिये इस पर अपनी सहमति नहीं दे देती हैं।

1970 में राष्ट्रपति निक्सन ने टर्मिनेशन को नाकामी करार दिया और कांग्रेस से इसे नीति के तौर पर अस्वीकार करने की अपील की। 1975 में कांग्रेस ने इंडियन सेल्फ डिटरमिनेशन ऐंड एजुकेशन असिस्टेंस एक्ट पारित किया, जिसके तहत आंतरिक, स्वास्थ्य, शिक्षा और कल्याण सचिव को ऐसे समझौते करने का अधिकार दे दिया गया था, जिनके तहत जनजातियां संघीय भारत कार्यक्रम के तहत प्रशासन की जिम्मेदारी स्वयं स्वीकार करें। कांग्रेस ने 1975 में अमेरिकन इंडिया नीति समीक्षा आयोग का भी गठन किया, जिसमें इंडियन समुदाय से भी प्रतिनिधि शामिल किए गए। 1977 में प्रस्तुत अपनी रिपोर्ट में इस आयोग ने सम्मिलन की नीतियों को सख्त तौर पर मनाही दे दी, जनजातियों के दर्जे को स्थायी बनाने की सिफारिश की, स्वशासन की संस्थाओं को भी स्थायी बनाने की बात कही और जनजातियों को वित्तीय सहायता जारी रखने की बात भी कही। इसके बाद बनाई गई कांग्रेसी और कार्यकारी नीतियों में जनजातीय स्वशासन को समर्थन देने की बात कही गई। 1982 के इंडियन ट्राइब्स गवर्नमेंट टैक्स स्टेटस एक्ट में जनजातियों को कर संबंधी ऐसे कई लाभ प्रदान कर दिए गए, जो राज्य के पास थे, जिनमें सरकारी परियोजनाओं को वित्तीय सहायता देने के लिए कर से छूट के बॉण्ड जारी करना भी शामिल था। 1983 में राष्ट्रपति रीगन ने संघीय सरकार पर जनजातियों की निर्भरता कम करने के अतिरिक्त लक्ष्य के साथ जनजातीय सरकारों को मजबूत करन की नीति पर दोबारा जोर दिया।

फिलहाल संघीय इंडियन नीति बहुलतावाद को बढ़ावा देने के मॉडल पर आधारित दिखती है, यह कहती है कि जनजातीय समुदाय यहां अनंतकाल तक निवास करेंगे और उन्हें मजबूत बनाया जाना चाहिए।

चूंकि यह नीति आत्म–निर्णय की अवधारणा से जुड़ी हुयी है इसलिये इसके बारे में संक्षेप में विचार किया जायेगा।

n'kt vkj tutkrh; ykx ,o vkRe&fu.k;

संयुक्त राष्ट्र चार्टर में आत्म निर्णय के अधिकार को मूलभूत राजनीतिक सिद्धांत के तौर पर शामिल किया गया और इसे 1966 में मानवाधिकारों पर सम्पन्न हुये दो समझौतों (आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकार तथा नागरिक एवं राजनीतिक अधिकार) के जरिये आवश्यक कानूनी अधिकार बनाया गया। दोनों समझौतों के पहले अनुच्छेद की प्रस्तावना एक समान शब्दों के साथ शुरू की गयी है ''सभी लोगों को आत्मनिर्णय का अधिकार है। इस अधिकार की बदौलत वे स्वतंत्र होकर अपनी राजनीतिक स्थिति का निर्धारण कर सकते हैं और अपने आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास का रास्ता चुन सकते हैं।'' फाल्क (1988, पृश्ठ 26) यह प्रमाणित करते हैं कि इसे 1960 में स्वीकार किये गये संयुक्त राष्ट्र प्रस्ताव 1514 के संदर्भ में व्याख्यायित किया जाना चाहिये। पैराग्राफ 6 के

अनुसार, ''किसी देश की राष्ट्रीय एकता एवं भौगोलिक अखंडता में सम्पूर्ण या आंशिक रूप से क्षति पहुंचाने का कोई भी प्रयास संयुक्त राष्ट्र चार्टर के सिद्धांतों एवं उद्देश्यों के संदर्भ में परस्पर विरोधी है। सन् 1970 में संयुक्त राष्ट्र के महासचिव ने इस आशय का वक्तव्य जारी करते हुये कहा, ''अंतर्राष्ट्रीय संगठन के तौर पर संयुक्त राष्ट्र ने अपने सदस्य देश के किसी हिस्से के अलग होने के सिद्धांत को न तो कभी स्वीकार किया है, न तो स्वीकार करता है और न ही यह माना जाना चाहिये कि वह इसे स्वीकार करेगा।'' (यू. थांट, 1970)। सन् 1974 में हेक्टर ग्रॉस इस्पियेल की ओर से शुरू किये गये अध्ययन – ''अल्पसंख्यकों के संरक्षण तथा उनके प्रति भेदभाव पर रोक लगाने संबंधी संयुक्त राष्ट्र उप आयोग'' की रिपोर्ट में इस बात की पुष्टि की गयी है कि अलग होने के अधिकार के अहसास के संदर्भ में आत्म निर्णय का अधिकार किसी ''बाहरी स्रोत के जरिये संचालित औपनिवेशिक एवं विदेशी आधिपत्य के तहत् आने वाले लोगों'' तक ही सीमित है। भौगोलिक अखंडता के ''संरक्षण'' के लिये सरोकार स्वभाविक विचार है। परम्परागत औपनिवेशिक संदर्भ में औपनिवेशिक शासन में आने वाले लोगों के आत्म निर्णय के अधिकार (अगर यह अनिवार्य नहीं है) सम्प्रभु स्वतंत्रता के लिये अलग होने के विकल्प को स्वीकृति देता है। (ग्रॉस इस्पियेल, 1988, पृश्ठ 199)। सन् 1993 में शिमला में 20 सामाजिक वैज्ञानिकों की ओर से इस आशय के जारी एक वक्तव्य में कहा गया, ''अगर कोई राज्य ''अलग होने के अधिकार'' को मान्यता नहीं देता है तब भी प्रभावित लोगों को इस अधिकार से प्रभावित लोगों से वंचित नहीं किया जा सकता है, चाहे संयुक्त राष्ट्र व्यवस्था की जो भी सीमाएं हों।''

यहां यह उल्लेख किया जा सकता है कि 1966 में जब दो अधिकार समझौते पारित किये गये तब हालांकि अनेक देशों ने इन समझौतों में आत्म निर्णय के अधिकार को शामिल किये जाने का विरोध किया। भारत के प्रतिनिधि ने इसका समर्थन किया और कहा कि राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक मामलों में निर्णय लेने के लोगों के अधिकार को सही मायने में लोकत्रांतिक राज्य में स्वीकार किया जाता है और केवल निरंकुश राज्यों और औपनिवेशिक शासन वाले देशों में ही इस अधिकार का अस्तित्व नहीं होता है। (लैसेर, 1991)

भारत में कुछ हलकों में ''आत्म निर्णय'' के प्रति जो मौजूदा विरोध है उसे नेतृत्व प्रधान (हेगेमोनिक) विश्व व्यवस्था के प्रति प्रवृतियों के संदर्भ में समझा जा सकता है। लेकिन जैसा कि ''जन'' अवधारणा के कार्यान्वयन के मामले में देखा जाता है और भारत का समाज और यहां की सरकार ''देशज'' को अलग–थलग रूप से स्वीकार करने के बगैर उग्र समायोजन क्रांतिकारी समायोजन को चुन सकते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि भारत में इस दिशा में एक अभियान चल रहा है। सन् 1993 में, तथ्य यह है कि 1966 में भारत ने संयुक्त राष्ट्र दस्तावेज में ''आत्म निर्णय के अधिकार'' शब्दावलि के इस्तेमाल का समर्थन किया और यह संबंधित अधिकारियों के संज्ञान में लाया गया था। यह भी मुद्दा सामने रखा गया कि आत्म निर्णय के अधिकार का अर्थ अनिवार्य रूप से अलग होने का अधिकार ही नहीं होता है। अक्तूबर, 1995 में, भारत सरकार के विदेश मंत्रालय ने एक

संवाददाता सम्मेलन (एच टी, 1995) में यही दृष्टिकोण अपनाया। यह उम्मीद की जाती है कि यहां सुझाये गये महत्वपूर्ण समायोजन को अधिक सद्भावनापूर्ण राजनीतिक माहौल में लागू किया जायेगा। (राय बर्मन, 1998 ए)

Hkfo"; dk nf"Vdk.k & n'kt ,o tutkrh; ykxk dh Hkfedk

दुनिया भर में करीब 5000 देशज एवं जनजातीय समुदाय हैं जिनकी आबादी 30 करोड़ है। (अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन, 19943:3) और चूंकि आत्म नियमन का लोकाचार देशज एवं जनजातीय लोगों की सही पहचान के गुण के तौर पर सहचारिता मूल्य विन्यास से जुड़ा है हालांकि इसे विभिन्न सत्ता केन्द्रित ताकतों के अंतरसंबंधों के कारण इसे अक्सर सही तरीके से नहीं समझा जाता है। पिछले दो दशकों के दौरान जारी इन तरह के लोगों के बीच की नेटवर्किंग का 21 वीं शताब्दी की भूराजनीति पर निश्चित तौर पर व्यापक असर पड़ेगा।

21 oh 'krkCnh dh Hk&jktuhfr vkj n'kt ,o tutkrh; ykx

अनेक वर्षों सें मैं इस तथ्य को उठाता रहा हूं कि जनजातीय और देशज के प्राकृतिक परिवास अरब सागर से लेकर प्रशांत महासागर तक फैले व्यापक क्षेत्र, हिमालय से लेकर पश्चिमी एशिया के पहाड़ों और स्पेन में पाइरेनेसी पर्वत के बास्क्यू तक फैले हुये हैं। अटलांटिक के साथ ही साथ प्रशांत महासागर के सामने उसी महाद्वीप के पश्चिमी तटों के रास्ते पथरीले और पहाड़ी हैं जो अभी हाल तक ये देशज लोगों के परम्परागत निवास थे। इसके अलावा प्रशांत में ऐसे द्वीप हैं, जिनमें से अनेक भूगोल की परम्परागत अवधारणा के मद्देनजर भूमि के संदर्भ में छोटे प्रतीत हो सकते हैं, लेकिन ये 21 वीं सदी में मध्यम एवं बड़े आकार के राज्यों के रूप में उभरेंगे जहां एक तरफ समुद्री क्षेत्रों से संबंधित संयुक्त राष्ट्र के कानून और ई ई जेड पूरी तरह लागू होंगे तथा दूसरी तरफ यहां समुद्र प्रौद्योगिकी का विकास होगा। (राय बर्मन, 1999 ए)

जैसा कि देशज लोगों पर संयुक्त राष्ट्र कार्यदल में हुये विचार विमर्श (ग्रैसिय – एलिक्स, 1999 ए) और देशज लोगों के संबंध में इकोसोक के एक स्थायी फोरम की स्थापना से प्रतीत होता है (ग्रैसिय – एलिक्स, 1999), नेतृत्व प्रधान राज्य व्यवस्था के खिलाफ एक मजबूत चुनौती उभर रही है। हालांकि अनेक देशज एवं जनजातीय लोग अपने लिये राज्यों की मांग कर रहे हैं, लेकिन आने वाले समय में उनकी पहचान का नियामक आयाम द्वंद्ववादी तरीके से काम करेगा जिससे नेतृत्व प्रधान वैश्विक प्रक्रियाओं का मानवतावादी मूल्यों पर आधारित विश्व व्यवस्था की तरफ रूपांतरण होगा जिसमें गैर राज्य स्व नियमन संरचना का विकास होगा और संयुक्त राष्ट्र का रूपांतरण संयुक्त लोक के रूप में होगा।

lkjk'k

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के अनुभवों से पता चलता है कि पूंजीवाद तेजी से वैश्विक होते समाज में अपने आर्थिक प्रबंधन तथा इसके राजनीतिक एवं सामजिक प्रबंधन के बीच के विरोधाभासों को दूर करने में विफल रहा है। इस गतिरोध का इस्तेमाल विश्व मामलों के प्रबंधन में सत्ता उन्मुख व्यवस्था से आगे की कोई विश्व व्यवस्था के विकास के रूप में हो सकता है और परम्परागत व्यवस्था के स्थान पर साझेदारी के मूल्यों पर आधारित समतावादी न्यायसंगत व्यवस्था की स्थापना होने की प्रक्रिया शुरू हो सकती है। विश्व पुनर्निर्माण के इस कार्य में देशज लोगों में कालक्रम एवं तुलनात्मक बोध के बजाय नियामक बोध के साथ ऐतिहासिक दृष्टिकोण का विकास किया जाना है। आदर्श पारम्परिक संज्ञानात्मक व्यवस्था में, सामाजिक वर्ग के रूप में जनजातीय लोगों को नियामक बोध में देशज रूप में माना जा रहा है वैसे में समसामयिक विश्व स्थिति में दो विरोधाभाषी प्रक्रियायें चल रही हैं, मानव जनों तथा साथ ही साथ प्रकृति के अवदानों के साथ जातीय समायोजन के देशज विश्व दृष्टिकोण उन अनेक समूहों को अपने दायरे में ले रहा है जो न खुद अपनी पहचान जनजातीय लोगों के रूप में कर रहे है और न ही अन्य लोग उनकी पहचान इस रूप में कर रहे हैं। दूसरी तरफ राष्ट्रीय एवं अंतर्राश्ट्रीय स्तर पर अनेक नीतियां एवं दस्तावेज स्वीकृत जनजातीय समुदायों के परम्परागत पहचानकर्ताओं को प्रभावित कर रहे हैं। इनमें से कुछ दस्तावेज नियामक बोध में उनकी देशज पहचान को कमजोर कर रहे हैं। इस पेपर में विभिन्न विरोधाभाषी प्रक्रियाओं की व्याख्या की गयी है। ■

lnHk

एनिवेड एस. एन. 1999, इंडियन एक्सप्रेस 8–12–1999

बरान. पॉल, 1957 '' द पॉलिटिकल इकोनोमिक ग्रोथ'' मासिक प्रेस समीक्षा में विकास के सिद्धांतों के आलोक में पूवोत्तर भारत के पिछड़ेपन में पी. आर. भट्टाचार्य का उल्लेख।

बेतैली, एन्द्रे, 1986 ' द कंसेप्ट ऑफ ट्राइब विद स्पेशल रेफरेंस टू इंडिया''। आर्क यूरोप, सोशल,

बोली अंडट, टैक्सिक वेस्ट। एन सी ए एस एडवोकेसी इंडरनेट नं0 फॉर।

बर्गर. जुलियन. 1987। फ्रंटियर, लंदन और न्यू जर्सी से रिपोर्ट : जेड बुक लिमिटेड।

कैन्बी. डब्ल्यु. सी. 1998। अमेरिकन इंडियन लॉ संत. पॉल मिन्न वेस्ट पब्लिसिंग कम्पनी।

को. पॉल. 1994। ''द स्ट्रगल फॉर एबोरिजिनल सोवेरिग्नटी'' सोशल एल्टरनेटिव, 13 (1)।

कोमडेसस 2000। ''मेसेज टू यू एन ट्रेड टॉक।'' इंडियन एक्सप्रेस, 14–2–2000।

डरहेनडॉर्फ, आर. 1968। होमो सोषियोलॉजिकस। लंदन : रॉटलेज एंड केगन पॉल।

डेनहेज. मार्क. 1983। ''फोक लॉ, नेशनल सेल्फ–इमेज एंड देयर इम्पैक्ट ऑन सोवेरीग्नटी ऑफ कंट्रीज'' पी 517–46 इंन एच. एन. फ्रैंकलर (एड)। पेपर्स कंट्रीब्यूटेड टू सिम्पोसिया ऑन फोक लॉ एंड लीगल प्लुरेलिज्म आई यू ए ई एस। वैनकोवर कनाडा अगस्त 19–25, 1983।

फोक, रिचर्ड, 1988। ''द राइट टू पिपल'' इन जेम्स क्राफोर्ड, राइट्स ऑफ पिपल्स, क्लैरेंडम प्रेस।

गेरिया। एलिक्स लोला, 1999। द एढोक वर्किंग ग्रूप ऑन द इस्टैब्लिषमेंट ऑफ परमानेंट फोरम फॉर इनडिजेनस पिपल्स इन द यू एन सिस्टम। इनडिजेनस वर्ल्ड 1998–99। कोपेनहेगन : आई डब्ल्यु जी आई ए।

गिल्बर्ट, केल्विन, 1994। ''एबोरिजिनल सोनेरिग्नटी पोजिशन'' सोशल अल्टरनेटिव्स, 12 (1)।

जी. ओ. आई. 1987। रिपोर्ट ऑफ द स्टडी ग्रूप ऑन लैंड होल्डिंग सिस्टम इन ट्राइबल एरिया ऐज प्रेजेंटेड इन लोकसभा वाइड प्लानिंग कमीशन ओ.एम. नं0 पीसी/बीसी/16–1 (7) डीटी 1988 इन फुलफिलमेंट ऑफ एस्युरेंस इन रेस्पेक्ट ऑफ लोकसभा यूएसए नं0 675 डीटी. 15–4–1987।

गोडेलियर, मॉरिस, 1977। पर्सपेक्टिव इन माक्सिस्ट एंथ्रोपोलॉजी। कैम्ब्रिज : कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।

ग्रे, एंड्रियू, 1999। द यू एन–डिक्लेरेषन ऑन राइट्स ऑफ इनडिजेनस पिपल इज स्टिल इनटैक्ट। इनडिजनेस वर्ल्ड 1998–99। कोपेनहेगन : आई डब्ल्यु जी आई ए।

ग्रिग्स, आर.आर.ए. 1993। रोल ऑफ वर्ल्ड नेशन्स, वाशिंगटन : सेंटर फॉर वर्ल्ड इनडिजेनस स्टडीज।

ग्रोस। इसपील, 1980। द साइट टू सेल्फ–डिटरमिनेशन कोटेड बाई नेथीम ग्राथ–1998 इन पिपल्स एंड पोपुलेशन, जेम्स ग्राफोर्ड (एड.) सुप्रा।

गिरब। थियो बेन, 1999। आपेनिंग रिमार्क यू एन जेनरल असेम्बली : यू एन न्यूजलेटर्स 54 (37), न्यू देल्ही।

हिदयातुल्ला, एम, 1983। राइट टू प्रोपटी एंड द इंडियन कंस्टीच्युशन। न्यू देल्ही : आर्नोल्ड हीनमैन पब्लिशर्स।

एच टी, 1995, '' एन ए एम मस्ट रिडिफाइन गोल''। हिंदुस्तान टाइम्स 18 अक्टूबर।

आई सी आई एच आई, 1987। इनडिजेनस पिपल्स : अ रिपोर्ट फॉर द इनडिपेंडेंट कमीशन ऑफ इंटरनेशनल ह्युमैनिटेरियन इंसुज। लंदन न्यूयार्क : जेड बुक लि0।

इनडिम्योर, विनसेंट 1999। ''द रोल ऑफ मल्टीनेशनल ऑयल कंपनिज इन नाइजीरियन फेडरेशन'' द कन्टीन्युइंग ओगोनी क्राइसिस ऐज एन एक्जाम्पल''। इनडिजेनस अफेयर्स नं0 1 अप्रैल–जून। आई डब्ल्यु जी आई ए।

आई एल ओ, 1994। इनडिजेनस एंड ट्राइबल पिपल्स एंड द आई एल ओ ; जेनेवा : द इंटरनेशनल लेबर ऑफिस।

लेसर, अलोयी। 1991। ''सेल्फ–डिटरमिनेशन, अ पेरेनियल एंड प्रो–प्रीम्पटिव नार्म ऑफ इंटरनेशनल लॉ'' ए. आर. वाजापुर (एड.) साउथ एशिया पब्लिकेशन।

लैम्ब, अल्सटायर, 1968। एषियन फ्रंटियर। न्यूयार्क : फ्रीडेरिक ए. प्रेगर पब्लिशर।

महाजन, गुरप्रीत, 1998। इनडेनटिटिज एंड राइट्स। देल्ही : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

मयूर, रष्मि, 2000। ''चैलेंजेज ऑफ न्यू मिलेनियम''। द हिंदु, 1–1–2000।

पटेल, एस.जी. 2000। ''कंफ्लिक्ट अहेड फॉर द 21 सेंचुरी'', मेनस्ट्रीम, मार्च 11, 4–3–2000।

राघवियाह, वी 1971, ट्राइबल रिवोल्ट्स। नेल्लोर : आंध्र राष्ट्र अदिमजाति सेवक संघ।

रेहमान, जावेद, 1998। ''इनडिजेनस राइट्स एट रिस्क'' इन बी.के.रॉय बर्मन एंड बी.जी. वर्हेस (एड)। एस्प्रिंग टू बी इनडिजेनस एंड ट्राइबल कंडिशन्स, देल्ही : कोणार्क पब्लिशर प्रा0 लि0।

रिसर्जेंस, 1995। ''डब्ल्यु टी ओ शुड नॉट नेगोशियेट इनवेस्टमेंट ट्रीटी''। एन जी ओ थर्ड वर्ल्ड रिसर्जेंस, नं0 64, 1995।

रॉय बर्मन, बी.के. 1961। डिमोग्राफिक एंड सोशल प्रोफाइल ऑफ द हिल्स ऑफ नार्थ–ईस्ट इंडिया। मोनोग्राफ सीरिज। न्यू देल्ही : सेंसस ऑफ इंडिया।

रॉय बर्मन, बी.के. 1979। पोस्ट–प्रिमिटिव्स ऑफ छोटानागपुर। टूवार्ड्स इथनिक ग्रूप रिलेशन्स इन एशिया एंड पैसिफिक पेरिस : यूनेस्को।

रॉय बर्मन बी. के. 1983। ''ट्रांसफार्मेशन ऑफ ट्राइब्स एंड अनालोगस सोशल फार्मेशन्स''। इकोनॉमिक एंड पोलिटिकल वीकली, 18 (27)।

रॉय बर्मन, बी. के. 1985। हिस्टोरिकल इकोलॉजी एंड लैंड सर्वे एंड सेटलमेंट इन ट्राइबल एरियाज एंड चैलेंजेज ऑफ डेवलपमेंट (मिमियोग्राफ)। न्यू देल्ही : काउंसिल फॉर सोशल डेवलपमेंट।

रॉय बर्मन, बी. के. 1994। इनडिजेनस एंड ट्राइबल पिपल्स– गैदरिंग मिस्ट एंड न्यू

होरिजन, न्यू देल्ही : मित्तल पब्लिकेशन्स।

रॉय बर्मन, बी. के. 1994 (ए) ट्राइब्स इन पर्सपेक्टिव, न्यू देल्ही : मित्तल पब्लिकेशन्स।

रॉय बर्मन, बी. के. 1995। इनडिजेनस एंड ट्राइबल पिपल्स एंड द यू एन एंड अंटरनेशनल एजेंसीज, न्यू देल्ही : राजीव गांधी इंस्टीट्यूट फॉर कंटेम्परेरी स्टडीज।

रॉय बर्मन, बी. के. 1998। ''ट्राइबल एंड इनडिजेनस राइट्स एंड रांग्स'' इन बी. के. रॉय बर्मन एंड जी. वर्घीज (एड)। देल्ही : कोणार्क पब्लिशर्स ऑन बिहाफ ऑफ द कॉमन वेल्थ ह्युमन राइट्स इंस्टीट्युट।

रॉय बर्मन, बी. के. 1998। यू एन डिक्लेरेशन एंड सेफगार्ड्स फॉर प्रोटेक्शन ऑफ राइट्स ऑफ इनडिजेनस एंड ट्राइबल पिपल्स, (एड) रॉय बर्मन, बी.के. एंड बी.जी. वर्घीज, सुप्रा।

रॉय बर्मन, बी. के. 1999। ह्युमन राइट्स इन पर्सपेक्टिव थर्ड मिलेनियम वॉल्युम 2 1999।

रॉय बर्मन, बी. के. जुलाई 1999। ''पैसिफिक– इंटरफेस ऑफ हिस्टरी एंड एंथ्रोपोलॉजी''। कीनोट एड्रेस इन फोर्थ एशिया–पैसिफिक कांग्रेस।

रॉय बर्मन, बी. के. 2000। ''ट्राइबल पिपल्स ऑफ इंडिया–इमर्जिंग हेरिटेज।'' कीनोट एड्रेस इन आई सी एस एस आर सेमिनार हेल्ड ऑन फरवरी 1.

रॉय चौधरी, अरुंधति, 1999। ''ग्लोबलाइजेशन एंड असेंचुएशन ऑफ इनेक्वालिटीज''। सोशल एक्शन 49 (3)

साहिन्स, एम.डी. 1968। ट्राइबेस्मा रिंगलवुड क्लिफ्स : प्रेंटिस हॉल।

समीर, अमीन, 1997। कैपिटलिज्म इन द एज ऑफ ग्लोबलाइजेशन, देल्ही : मध्यम बुक्स।

सैंडर्स, डोगलस, 1998। द यू एन वर्किंग ग्रूप ऑन इनडिजेनस पॉपुलेशन। ह्युमन राइट्स क्वार्टर्ली, II जॉन हॉपकिन्स यूनिवर्सिटी प्रेस।

सैंडर्स, डोगलस, 1993। ''इनडिजेनस क्वेसचन। सर्च फॉर एन आइडेनटिटी। इंडियन सोशल इंस्टीट्युट।

साजेस्टाड, सिडेस्ट, 1999। ''कांटेस्टेड इमेज : इनडिजेनस पिपल्स इन अफ्रीका''। इनडिजेनस अफेसर्य, 1999/2 अप्रैल–जून आई डब्ल्यु जी आई ए।

स्हेंज, मलाटी, 1977। द सिविलाइज्ड डेमनस। न्यू देल्ही : अभिनव पब्लिकेशन्स।

स्टेगबोर्न, विवेका, 1998। ''श्रीलंका इनडिजेनस पीपल्स एंड सेल्फ–डिटरमिनेशन''। बी.के. रॉय बर्मन एंड बी. जी. वर्घीज (एड) सुप्रा।

स्केप्सटन, ली. 1990। अ नयू स्टेप इन इंटरनेशनल लॉ ऑन इनडिजेनस एंड ट्राइबल पीपल्स, ओकलाहोमा सिटी यूनिवर्सिटी लॉ रिव्यू।

थंट, यू. 1970। ''स्टेटमेंट ऑन यूएन एंड सेल्फ–डिटरमिनेशन'' कोटेड बाई मैकफारलेन। 1985। द थ्योरी एंड प्रैक्टिस ऑफ ह्युमन राइट्स, मिनेन्स, लंदन : टेम्पल स्मिथ।

वासक्वेज, जॉन ए. 1998। द पॉवर ऑफ पावर पोलिटिक्स : फ्रॉम क्लासिकल रियललिज्म टू नियो–ट्रैडिशनलिज्म, कैम्ब्रिज : कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।

ऑथर्स एड्रेस : बी. के. रॉय बर्मन, प्रोफेसर, सेंटर फॉर द स्टडी ऑफ डेवलपिंग सोसायटीज, 29, राजपुर रोड, देल्ही 110054, इंडिया।

e=h ¼*fefuLVh vkQ Moyiesa V vkQ uksFkZ bLV jhtu ,.M Vªkbcy vQs;lZ½ ds lkFk ppkZ fd;s x;s eqn~ns ij uksV

अ. विशेषतः उत्तर–पूर्वी क्षेत्र (एनईआर) से संबंधित मुद्‌दे

1. उत्तर पूर्वी भारत में जल, जंगल और जमीन के संसाधनों का आकलन

उत्तर पूर्वी विकास मंत्रालय ने उत्तर–पूर्वी भारत में संसाधनों के आकलन के लिये विश्व बैंक को शामिल किया है। मैंने उत्तर–पूर्वी क्षेत्र के संदर्भ में कन्सेप्ट पेपर (संकल्पना परिपत्र) और अन्य वस्तुनिष्ठ सामग्री को देखा है।

मैंने पाया कि संकल्पना परिपत्र में इतनी अधिक बनावट है कि छोटी–छोटी बातों को भी बड़े ही कृत्रिम ढंग से प्रस्तुत किया गया है, लेकिन जहाँ तक सारगर्भित सामग्री का सवाल है तो उसमें शायद ही कहीं कोई मौलिकता है। इसमें जो कुछ भी प्रस्तुत किया गया है और जो कुछ भी संकेत किया गया है कि यह उपलब्ध कराएगा, वह सब तो पहले से ही प्रकाशित स्त्रोतों में उपलब्ध है।

पिछले तीन महीनों में, अलग–अलग वजहों से मैंने असम, अरुणाचल प्रदेश, मेघालय, सिक्किम और पूर्वी बंगाल विश्वविद्यालय का दौरा किया (पूर्वी बंगाल विश्वविद्यालय से सिक्किम के उच्च्च शिक्षण संस्थान मान्यता प्राप्त हैं)

मैंने देखा कि इन्हीं राज्यों में कुछ दूसरे संस्थान ऐसे कामों में लगे हैं जिनमें विश्व–बैंक लगा हुआ है। कुछ मामलों में तो हाँलाकि वे फिलहाल लगे हुए नहीं हैं लेकिन उन्होंने संकेत दिया कि अगर वे उन मामलों में शामिल होंगे तो उनके पास उस काम के लिए सभी साधन और कुशलता मौजूद है।

मैंने सुझाव दिया कि उत्तर–पूर्वी क्षेत्र के विकास के लिए अच्छी शोध सामग्री की एक सूची तैयार की जानी चाहिए, इस सूची में वह सभी शोध सामग्री होगी जो अन्य संस्थाओं के पास है।

मुझे यह भी पता चला है कि इस क्षेत्र के बाहर स्थित कुछ संस्थाओं ने, भारत सरकार के विभिन्न मंत्रालयों के आर्थिक सहयोग से उत्तर–पूर्वी क्षेत्र से संबंधित कुछ आंकड़े/डाटा भी एकत्रित किया है। लेकिन भारत सरकार के कई मंत्रालयों को तो यह जानकारी तक नहीं है कि इस डाटा का प्रयोग कैसे करना है।

मैंने महसूस किया कि अगर देश के विभिन्न संस्थानों के पास उपलब्ध इस डाटा का संकलन और विश्लेषण किया जाए और इस डाटा का प्रयोग करके विभिन्न संस्थानों

की क्षमता को एकजुट करके, स्थानीय विद्वानों और संस्थाओं की सहायता से न केवल विकासात्मक रणनीतियों के लिए प्रयास किया जा सकता है बल्कि बाहरी एजेंसियों से अपेक्षित सहयोग के निवेश का भी आकलन किया जा सकता है।

विश्व बैंक और अन्य वित्तीय संस्थाओं और विकासात्मक पार्टनरशिप संस्थानों से एक सीमा तक मदद ली जा सकती है और वह भी इस तरीके से जितना कि सामग्री के प्रयोग और राष्ट्रीय व क्षेत्रीय स्तर पर क्षमताओं के अनुकूल हो।

2- ,ubZlh ¼ukWFk bZLV dkWfly½ }kjk izdkf'kr le; Øe MkVk dk vi;kZIr eY;kadu vkSj fo'ys"k.k &

मैंने महसूस किया कि योजना बनाने वाली और काम करने वाली महत्त्वपूर्ण एजेंसियों को भी एनईसी द्वारा प्रकाशित समय क्रम डाटा की जानकारी नहीं थी और यह वजह है कि मुझे संदेह है कि जिन एजेंसियों को इस डाटा की जानकारी थी उन्होंने भी शायद ही इसका विश्लेषण किया हो या फिर नीति निर्माण और विकास योजनाओं को बनाने में इसका इस्तेमाल किया हो।

3- m|ferk fodkl ds eqn~ns %

मैंने खुले रूप से निष्पक्ष भाव से अरुणाचल प्रदेश और असम के उन बहुत से संस्थानों से बातचीत की जो उद्यमिता विकास के मुद्दे से संबंधित हैं और साथ ही उत्तर–पूर्वी क्षेत्र में इस प्रकार के विकास मामलों से भी जुड़े हैं। मैंने पाया कि ज्यादातर मामलों में दृष्टिकोण बिल्कुल हटकर हैं, शुद्ध अर्थशास्त्रीय जिसका उद्यमिता विकास के गैर आर्थिक तत्वों से कोई सरोकार ही नहीं है, इतना ही नहीं यह एक बड़े बाजार के ज्ञान से जुड़े स्थानीय तकनीकी–आर्थिक परिवेश आदि के लिए भी बेकार है। इन सब बातों के अलावा यह भी देखा गया कि बिना उपयुक्त शोध आधार के ही प्रमोशनल कामों को किया जा रहा है। इन सभी रिक्त–स्थानों को भरने के लिए एक उचित रणनीति का भी विकास करना होगा।

4- Hkwfe vf/kdkj ekU;rk O;oLFkk esa fof/kor fjDrrk vkSj laLFkkxr foÙk izca/ku leL;k

उत्तर पूर्वी क्षेत्र में जमीन और जमीन से जुड़े संसाधनों के अधिकार संबंधी व्यवस्था की कानूनी रिक्तता ही संस्थागत वित्तीय प्रवाह में एक बड़ी बाधा बनी हुई है। और जहाँ तक वित्त के प्रवाह संबंधी कानूनों का संबंध है तो वे भी जमीनी सच्चाई के साथ नहीं अपनाए गए हैं। संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम (यूएनडीपी) की एक रिपोर्ट इसी तथ्य को स्पष्ट करती है कि ऐसी ही समस्या आदिवासी क्षेत्रों में पूरी दुनिया में है।

1980 या 1981 में मैंने इसी मामले की चर्चा तत्कालीन प्रधानमंत्री स्व. श्रीमती इंदिरा

गांधी से की थी। उनके कहने पर डॉ. मनमोहन सिंह और डा. एम.एस. स्वामीनाथन के साथ हमने इस विषय पर चर्चा की और यह निर्णय लिया गया कि इन सभी दर्शनों को ठीक करने की प्रक्रिया शुरू की जाएगी। लेकिन श्रीमती इंदिरा गांधी की शहादत के बाद राजनीतिक परिवेश बदल जाने की वजह से इन सभी संकल्पनाओं पर काम नहीं किया जा सका।

5- lfo/kku dh NBh vulph ls lcf/kr ennk dk xgjkbl ls vkdyu %

नव–उदारवादी अर्थव्यवस्था के दौर में जब राज्य ने सामाजिक क्षेत्र से अपने को अलग कर लिया तब भारत में निजी क्षेत्र ने राजनीतिक–आर्थिक परिवेश में अपनी जगह बना ली जिसके कारण राज्य द्वारा नियंत्रित उत्पादों और सेवाओं के प्रवाह संबंधी व्यवस्था, अधिकतम लाभ अर्जित करने वाली बाजार व्यवस्था और समुदाय द्वारा प्रबंधित पुरातन टिकाऊ वस्तुओं और सेवाओं के विनिमय की व्यवस्था के बीच संबंध अधिक समय तक नहीं टिक पाए और खत्म हो गए। इस तरह संतुलन खत्म होने से जहाँ एक ओर अंतर्जातीय और पराजातीय संबंधों पर दबाव बना रहा है वहीं दूसरी ओर क्षेत्रवादी सामाजिक दबाव और भारतीय संघ के राज्य और संघ के अन्य सहायक राज्यों पर भी दबाव बन रहा है। आज ऐसा ही कुछ, दुनिया के कई हिस्सों में नजर आ रहा है। इन सभी चुनौतियों का सामना करने के लिए, बहुत से देशों में स्व–प्रबंधन के संस्थान आगे आ रहे हैं। बड़ी ही विचित्र सी बात है कि हालांकि 50 से भी अधिक वर्षों पहले, जैसा कि संविधान की छठवीं अनुसूची में बताया गया है, भारत अपने नए संस्थात्मक ढांचे के चलन को शुरू करने में अग्रणी रहा है, आज वही विचार और कर्म शून्यता की स्थिति में खड़ा हुआ है, जबकि बहुत से देश भारत के ही इन प्रारंभिक पद चिन्हों पर चलकर आगे बढ़ गए है।

वर्तमान में अनुसूची में राज्य के लिए विशिष्ट प्रावधान के तहत विभिन्न राज्यों में स्वायत्त परिषदों (ऑटोनोमस कौंसिल) के अलग–अलग मॉडल काम कर रहे हैं। हालांकि बहुत से मामलों में परिषदों की क्रियात्मक भूमिकाओं और प्रशासनिक ढांचों के बीच कोई मेल नहीं है, वे एक तकनीकी–नौकरशाही पद्धति से काम कर रही हैं। इसलिए अनुसूची के विभिन्न पक्षों पर पूरी तरह से गौर करना बहुत जरूरी है।

6- ikekf.kd 'kk/k vk/kkfjr tkudkjh dk u gkuk &

हालांकि यह देखने में आया है कि इम्फाल की घाटी में और कुछ हद तक मेघालय में राजनीतिक परिवेश में जो भी आवाजें गूँज रही हैं उनके पास कोई भी शोध संबंधी प्रामाणिक जानकारी नहीं है फिर भी इस खाली स्थान को भरने के लिए भी गम्भीर और विचारशील निर्णय नहीं लिए गए हैं।

7- mifuo'kokn h ,frgkfld lEink dk ck> &

उत्तर पूर्वी क्षेत्र का ज्यादातर ज्ञान उपनिवेशवादी इतिहास से प्रभावित है और स्वतंत्रता के बाद के ज्यादातर समय पर देशभक्ति के बिखरे हुए विचार का बोझ है। अगर इन सब को जल्दी ही सुधारा नहीं गया तो आने वाली पीढ़ियों को इसकी भारी कीमत चुकानी पड़ेगी।

8- jkT; lqj{kk }kjk ekuoh; lqj{kk dk cfg"dkj djuk &

राज्य सुरक्षा द्वारा मानवीय सुरक्षा की उपेक्षा का विचार प्रतिरोधी को जन्म देने का खतरा उत्पन्न करने से जुड़ा है।

9- lq>ko % 'kkfr vkj fodkl ds fy,

अंतःसंस्थानिक सहयोग और जन–समाज (सिविल सोसायटी) के निर्माण के लिए समिति –

उपरोक्त खामियों और अपर्याप्तताओं पर रोशनी डालते हुए यह सुझाव दिया जाता है कि उत्तर–पूर्वी भारत में शान्ति और विकास के लिए अंतःसंस्थानिक सहयोग और सिविल सोसायटी के निर्णय को जांचने और लागू करने के लिए एक हाई–पावर कमेटी बनाई जानी चाहिए।

कमेटी को, जनता के साथ बातचीत का दौर शुरू करके अपना अध्ययन पूरा करने के लिए सभी उपयुक्त संसाधन मुहैया कराए जाने चाहिए ताकि इस अध्ययन के माध्यम से लोकतंत्र के मूल्यों और मानव सम्मान के लिए प्रतिबद्ध राष्ट्रीय सर्वसम्मति को बनाने की प्रक्रिया को स्वयं आगे बढ़ाया जा सके।

c- vkfnoklh dk;ksZ ls lacaf/kr eqn~ns

1- ¼v½ vuqlwfpr tutkfr;ksa dks ekU;rk nsus dk vk/kkj %

हालांकि संविधान में अनुसूचित जनजातियों को मान्यता देने का कोई आधार तय नहीं किया गया है, 1950 के शुरुआती दशक से ही पूर्वजों की लोकोपकार सम्बन्धी सम्मति आज भी अस्तित्व में है। इसी बीच, इस स्थिति में एक बड़ा बदलाव आया है। मानव–विज्ञान संबंधी दो सर्वाधिक महत्वपूर्ण राष्ट्रीय स्तर के व्यवसायिक निकायों के अध्यक्षों (इण्डियन एंथ्रोपोलॉजिकल सोसायटी और इण्डियन एंथ्रोपोलॉजिस्ट्स एसोसिएशन) से बात करते हुए मैंने इस स्थिति के बदलाव और इस कसौटी में बदलाव के परिदृश्य के भागों पर विस्तृत रूपरेखा प्रस्तुत की। उस बातचीत का भाव यहाँ प्रस्तुत किया गया है –

¼c½ vkfne tutkfr;k¡ &

प्रिमिटिव (आदि) शब्द अपने आप में अपमानजनक है। इसे बदलकर 'दयनीय'

(वल्नरेबल) जनजातियाँ कर दिया जाना चाहिए। इसके अलावा यह विचार इस अर्थ में भी अपमानजनक है कि यह विचार 19वीं शताब्दी के एक पुराने और अप्रचलित विचार की याद दिलाता है। इसलिए 'वल्नरेबल ट्राइब' को एक नई दिशा की जरूरत है।

¼l½ lfpr tutkfr;k¡ %

बहुत से राज्यों में जहाँ समुदायों को कभी भी अपराधी जनजातियों के रूप में चिन्हित नहीं किया गया उनके साथ यह मानकर व्यवहार किया जाता है कि एक राज्य में अपराधी के रूप में चिन्हित समुदाय को साथ वाले राज्य में भी अपराधी ही मानकर व्यवहार किया जाता है। यह न केवल तथ्यात्मक और कानूनी रूप से गलत है बल्कि नैतिकता की दृष्टि से भी गलत है। इसके लिए इन सबके लिए सुधारात्मक मानक शीघ्र ही अपनाए जाने चाहिए।

¼2½ x.kuk d vkdMk dh vkj ldr %

समय क्रम गणना के आंकड़े यह दिखाते हैं कि 1961 में 68 फीसदी कामगर आदिवासी 2001 में किसान बन गए और उनका कृषक कम होकर 44 फीसदी रह गया और दूसरी ओर इसी दौरान आदिवासी कृषक मजदूर का कृषक 19 फीसदी से 36 फीसदी हो गया। इससे आदिवासी जमीन के अलगाव के लिए बनाए गए कानूनों की सभी राज्यों में प्रभावहीनता की साफ झलक दिखाई देती है। आदिवासी जमीनों के पृथक्करण की प्रक्रिया पर बहुत से अध्ययन हैं। लेकिन इनमें से ज्यादातर ऊपरी स्तर पर किए गए हैं जिनमें उनकी खामियाँ और बेचैनी दिखाई नहीं देती। 1985 के मध्य में योजना आयोग द्वारा 'भूमि अधिकार व्यवस्था' पर अध्ययन करने के लिए बनाए गए दल ने कुछ मुद्दों पर रोशनी डाली (अ) जमीन और जमीन से जुड़े संसाधनों पर आदिवासियों के दावों की जड़ें काटने वाले उपनिवेशी विचारों का अस्तित्व में बने रहना, (ब) कुछ राज्यों के पहाड़ी इलाकों में जमीन के सर्वे और प्रबंधन की दोषपूर्ण तकनीक, (स) जमीन के उपयोग की प्रकृति के बारे में सर्वोच्च नीति–निर्माता स्तर से जारी किए गए गलत निर्देश, जबकि जमीन के उपयोग के प्रकार को अधिकारों की रिकोर्डिंग के लिए ध्यान में रखाः न रखा जाना चाहिए था।

संबंधित मंत्री द्वारा लोक सभा में, कुछ निश्चित अधिकारों की रिकोर्डिंग न किए जाने के संबंध में अपना औचित्य प्रस्तुत किया गया, जिसे बाद में अंतर्राष्ट्रीय दबाव के कारण, आंशिक रूप से कागजों पर लिखा गया, लेकिन ऐसा लगता है कि इसे गंभीरता से क्रियान्वित नहीं किया गया है। 1980 के दशक के उत्तरार्द्ध में आगे किए गए अध्ययनों से यह बात स्पष्ट तौर पर दिखाई दी कि कुछ इलाकों में नव–सामंतवादी अधिकारों को बनाने के लिए नए भूमि सुधार एजेंडा का इस्तेमाल किया गया था।

3- uDlyokn d mUu;u dk lnHk &

मैंने इस बात पर गौर किया कि 1970 के दशक के उत्तरार्द्ध में सरकार के ही एक महत्वपूर्ण अधिकारी ने अपने गुप्त दस्तावेज में इस बात का दावा किया कि नक्सलवादी

समस्या से निपटने के लिए 'ट्राइबल–सब–प्लान अप्रोच' ही कारगर हो सकती है। उस समय नक्सलवादी गतिविधियाँ दो या तीन राज्यों के कुछ जिलों तक ही सीमित थी, लेकिन अब तमिलनाडु से नेपाल तक सीमा पार तक आदिवासी अधिकता वाले इलाके अब 'न्यूक्लियर एरिया' के रूप में अस्तित्व में आ गए हैं। इस सबसे साफ है कि नक्सलवाद की वृद्धि की जड़ें सामाजिक आर्थिक तत्वों की गहराई में पैठ बनाए हुए हैं जिसके कारण इस समस्या का समाधान 'ट्राइबल सब–प्लान' (टीएसपी) अप्रोच से नहीं किया जा सकता।

4- Vkbcy lc&Iyku vikp d iu%fujh{k.k dh vko';drk &

ट्राइबल सब–प्लान अप्रोच एक पांच सदस्यीय कमेटी द्वारा बनाई गई थी, अब कमेटी में पांच में से एक सदस्य मैं खुद था। इस अप्रोच के पीछे ऐसी मान्यता थी कि विभिन्न क्षेत्रों में सकारात्मक कार्यों द्वारा संचालित जवाबदेय वित्तीय आवाजाही आदिवासियों के बीच भी विकास की प्रक्रिया को बढ़ावा देगी। मैंने सुझाव दिया कि इस दृष्टिकोण को साकार करने के लिए, पांचवीं पंच वर्षीय योजना में, आदिवासियों की सक्रिय भागीदारी को सुनिश्चित करने के लिए, संस्थागत व्यवस्था होनी चाहिए। लेकिन लोगों को बाहर करने के लिए, नौकरशाही प्रबंधन को ही पूरा करने के लिए, मंत्रालय द्वारा निर्देश जारी कर दिए गए थे। 1974 में 'नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ रूरल डेवलपमेंट' (जिसे उस समय कम्युनिटी डेवलपमेंट कहा जाता था) में मैंने अपने सम्बोधन व्याख्या में इस नौकरशाही आवरण की आलोचना की, लेकिन फिर भी यह आज भी नीति–निर्माण के स्तर पर मौजूद है, बल्कि पहले से भी ज्यादा दृढ़ रूप में।

5- ikpoh vuly ph vkj ikl k dk iu% fujh{k.k &

ऐसा दावा किया जाता है कि संविधान की पांचवीं अनुसूची को बहुत से 'ट्राइबल सब–प्लान' वाले इलाकों में पेसा अधिनियम 1996 के साथ बढ़ा देने से लोगों की भागीदारी सुनिश्चित हुई है। अगर पांचवीं अनुसूची के विश्लेषण को तार्किक दृष्टि से देखा जाए तो पता चलेगा कि इसने लोगों के स्वशासन या भागीदारी के लिए शायद ही कुछ किया हो। असल में सातवीं पंचवर्षीय योजना में इसे पितृसत्तात्मक कहा गया है, जबकि छठीं अनुसूची में इसे स्व–प्रबंधात्मक प्रकृति वाला बताया गया है। पेसा अधिनियम पर गौर करें तो पता चलता है कि संरचनात्मक रूप से यह अस्पष्ट है और वास्तविक अनुभव यह बताता है कि यह जमीनी सच्चाई से बहुत दूर है।

6- Vkbcy lc Iyku ¼Vh,lih½ ij foÙkh; ifj0;; dk nkok vufpr &

जहाँ तक वित्तीय परिव्यय की मात्रा का सवाल है, टीएसपी अप्रोच की विस्तृत रूप रेखा को लागू करने वाले विशेषज्ञ दल ने भी स्वीकार किया है कि कुछ खास प्रकार के वित्तीय परिव्यय का आदिवासी लोगों के जीवन की गुणवत्ता पर नकारात्मक असर हो सकता है और इसलिए पांचवीं योजना के दौरान उन वित्तीय परिव्ययों को टीएसपी अकाउंट के दायरे से बाहर रखा गया था, लेकिन छठीं योजना में इन्हें फिर से शामिल कर लिया

गया था और इस तरह से आदिवासियों के फायदे के लिए होने वाले व्यय के बारे में देश को भ्रमित किया गया था। आज भी वही भ्रामक लेखा प्रक्रिया चल रही है।

7- ck/k vkj rVc/k lc/kh j.kuhfr &

इन सब क्षेत्रो में सुरक्षा के लिए बांधों और तटबंधों के निर्माण पर भारी मात्रा में पैसा खर्च किया जा रहा है। यूरोप और अमेरिका के अनुभवों के आधार पर 1990 की शुरूआत से ही, इस दृष्टिकोण की बुद्धिमत्ता पर पुनः विचार करना शुरू हो गया है। भारत में कुछ सक्रिय लोगों को छोड़कर समाज के अन्य लोगों द्वारा, पुनः विचार के लिए यह मुद्दा उठाया नहीं गया।

8- miØe e foLFkkfirk dh leku Hkkxhnkjh &

विस्थापित हुए लोगों के पुनर्निवास के मामले में मैं 1974 से ही इस बात की वकालत कर रहा हूं कि पुनर्निवास सहायता भी पूरी तरह से दी जानी चाहिए और साथ ही मुआवजा भी पूरी तरह से दिया जाना चाहिए। कैश में मुआवजा देने के बजाय नई अर्थव्यवस्था में समान भागीदारी दी जानी चाहिए।

9- yfMx ¼_.k nuk½ ,o bUoLVeV cd dk feJ.k &

आदिवासियों की ऋणग्रस्तता की समस्या से प्रभावकारी रूप में निपटने के लिए, सिर्फ कर्ज देने वाले बैंकों, सहकारी समितियों और अन्य वित्तीय संस्थानों के बजाय लेंडिंग एवं इन्वेस्टमेंट बैंक और अन्य वित्तीय संस्थाओं को काम करना चाहिए, यानी ऐसे बैंक हों जहाँ कर्ज भी दिया जाए और निवेश भी किया जा सके, इसके लिए अगर जरूरत पड़े तो आवश्यक कानूनों में संशोधन भी किया जाए, जैसा कि कुछ देशों में किया गया है।

10- vkfnokfl;k d ckf)d lEink vf/kdkj ¼vkbihvkj½ dh lj{kk &

आदिवासियों की परंपरागत ज्ञान व्यवस्था की सुरक्षा के लिए कृषि (पशु पालन और मत्स्य पालन सहित) और वन्य क्षेत्र में, भारत ने यह निर्णय लिया है कि किसी भी जीव को पेटेंट नहीं किया जा सकता। लेकिन विश्वव्यापार संगठन (डब्ल्यूटीओ) की सम्प्रभुता के चलते भारत को कुछ समझौते भी करने पड़े। लेकिन फिर भी 2001 में भारत ने एक ऐसा कानून लागू किया जिससे ब्रीडर और किसान दोनों के ही अधिकारों को सुरक्षा मिली। लेकिन ऐसा लगता है कि हाल ही में भारत का झुकाव ब्रीडर के अधिकारों की तरफ अधिक हुआ है। ऐसा लगता है कि न तो ट्राइबल अफेयर्स मंत्रालय ने और न ही आदिवासियों के अधिकारों के लिए अभियान चलाने वालों ने इसके लिए कोई फूर्ती दिखाई है।

11- Vkbcy fjlp bLVhV;V dk iu% voykdu &

ये सभी राज्य ट्राइबल रिसर्च इंस्टीट्यूट की भूमिका से जुड़े हैं। 1950 और 1960 के दशक में जब ये संस्थान बनाए गए थे, वहाँ प्रसिद्ध एकेडमियों से लोग थे और इन संस्थानों

के कार्यों को विश्वविद्यालयों के शोध कार्यों से जोड़ने के लिए संस्थागत प्रबंध भी किए गए थे। इन संस्थानों के कामों का राष्ट्रीय स्तर पर पुनः अवलोकन करने के दौरान, इनके साथ देश की जानी मानी एकेडमियों से भी लोग शामिल थे। इससे यह तो सुनिश्चित हो गया कि इन संस्थानों ने एक निष्पक्ष स्वतंत्रता के साथ काम किया और प्रत्येक ग्रुप के लिए पुनरीक्षण के लिए खुले होने की वजह से उन्होंने शोध की प्रामाणिकता को एक स्वीकार्य स्तर पर पहुंचाने की कोशिश की। अब ज्यादातर संस्थानों में प्रशासनिक अधिकारियों का प्रभुत्व चलता है और उनमें एकेडमिक दुनिया से बातचीत करने का विश्वास शायद ही नजर आता है। इसका नतीजा यह हुआ कि शोध की स्वतंत्रता और स्थिरता दोनों ही खत्म हो गए। संस्थानों की इस गिरावट के लिए आवश्यक कदम उठाए जाने चाहिए। ट्राइबल अफेयर्स और टीआरआई की गतिविधियों से संबंधित नीतियों, योजनाओं और कार्यक्रमों की जांच के लिए विशेषज्ञों की एक कमेटी बनाई जा सकती है।

lyXud

vkfnokfl;k d ekinM d fu.k; e cnyko d fy, rRdkyhu *g;eluLdki^ dk /;ku e j[kuk

30 से भी अधिक साल हो गए, मैंने और मेरे जैसे अन्य एंथ्रोपोलॉजिस्ट (मानवविज्ञानी) अनुसूचित जनजातियों की मान्यता के आधार में बदलाव के लिए आवाज उठा रहे हैं। उस समय जो मानवीय अलगाव का परिदृश्य था उसे भी ध्यान में रखा जाना चाहिए। तत्कालीन मानवीय अलगाव का दृष्टिकोण नीचे प्रस्तुत किया गया है।

अगर विस्तृत रूप से देखा जाए तो जिस ज्ञानवान और सामाजिक परिवेश में एक सर्वसम्मति विद्यमान थी, उस रूढ़िवादी परिदृश्य का (जो 50 के दशक में प्रचलित था) वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है : (अ) 1950 के दशक की शुरूआत में जब राजनीतिक उपनिवेशवाद की प्रक्रिया अपने प्रारंभिक चरण में थी। तब उस समय यह सोचा गया कि उपनिवेश काल के दौरान जिन लोगों ने सबसे अधिक पीड़ा सहन की, उन्हें तुरंत राहत मुहैया कराई जाए, इसे एक नैतिक जिम्मेदारी माना गया। लेकिन उस समय, विउपनिवेशीकरण की सोच की प्रक्रिया की भी शुरूआत हो रही थी। समाज के प्रभुत्वशाली तबके से अभिजात वर्ग के प्रभुत्व का संरक्षणवाद भी अपना असली रूप दिखा रहा था। उन लोगों की सोच के अनुसार आदिवासी लोग मानवीय समाज के संगठन के सबसे निचले स्तर के होने की वजह से 'पिछड़े हुए' (बैकवर्ड) थे।

दुनिया के कई हिस्सों में देशज और आदिवासी लोगों की आत्म–दृढ़ता ने अब बहुत से लोगों को यह सोचने पर मजबूर कर दिया है कि संरक्षणवादी दृष्टिकोण की जगह पार्टनरशिप दृष्टिकोण अपनाया जाना चाहिए।

उच्च वर्गीय और विभिन्न श्रेणियों में बंटे आधुनिक समाज में पार्टनरशिप को एक असलियत में बदलने के लिए जिम्मेदार लोगों के बीच एक प्रकार के आंतरिक सामाजिक

विभिन्नीकरण की जरूरत है। दुनिया में उत्पादक प्राकृतिक संसाधन ज्यादातर देशज और आदिवासी लोगों के निवास–स्थानों पर उपलब्ध है, इस सोच ने पार्टनरशिप दृष्टिकोण की जरूरत को बढ़ा दिया है। जहाँ एक ओर प्राकृतिक संसाधनों के बारे में जागरूकता बढ़ रही है, वहीं दूसरी ओर औद्योगिक सभ्यता की अनियमित तकनीकों ने मानवता को पर्यावरणीय खतरे के कगार पर लाकर खड़ा कर दिया है, ऐसे में उत्पन्न हुई सहानुभूति ने ऐसे सामाजिक मूल्यों और विश्व–दृष्टि से दूरदर्शिता की उपस्थिति को पहचानने के लिये ऐसे दृष्टिकोण को अपनाने के लिए प्रेरित कर दिया है जिससे देशज और आदिवासी लोगों के जीवन का तरीका झलकता है। इस नई समझ के उदय के साथ ही, पार्टनरशिप का मतलब समाज के एक वर्ग पर (देशज आदिवासी लोग), समाज के दूसरे वर्ग (तथाकथित आधुनिक समाज) द्वारा सुरक्षा करना नहीं है बल्कि एक ओर उचित तकनीकों और प्रगति पर आधारित पूर्ण मानवीय पुनर्निर्माण है तो दूसरी ओर स्वयं का विनाश करने वाले उपभोक्तावाद का त्याग भी है।

जून 14, 2006

सेवा में,
श्री बी.एन. युगन्धर,
सदस्य योजना आयोग,
योजना भवन
संसद मार्ग,
नई दिल्ली–110001
Ref.No.: SH/CRESP/BKRB/63/BNY/2006

प्रिय श्री युगन्धर जी,

प्रिवेन्शन ऑफ एलिनेशन ऑफ ट्राइबल लैंड एंड इट्स रेस्टोरेशन' नामक विषय पर ग्रामीण विकास मंत्रालय, जीओआई 2004/2005 के विशेष दल की रिपोर्ट के लिये धन्यवाद जो आपने श्री बालाजी पांडे के माध्यम से मुझे उपलब्ध कराई थी। कार्यकारी दल बहुत सौभाग्यशाली था जो आप उसके चेयरमैन थे।

रिपोर्ट भी अपने आप में एक मिसाल है जिसमें जानकारी का भंडार है साथ ही बड़ी ही कुशलता से विश्लेषण भी मौजूद हैं, इसमें मानवीय दृष्टिकोण के साथ उन्मुक्त और स्पष्ट रूप से विचारों की अभिव्यक्ति की गई है।

इस रिपोर्ट को पढ़कर बिल्कुल अपना सा लगा, यानी रिपोर्ट में सच्चाई नजर आई इसमें बहुत सारे विचारों के बीच सामंजस्य बनाया गया है, जो मैं पिछले कई सालों से बोलता आया हूँ। मैं खुश हूं कि इस रिपोर्ट में कई स्थानों पर किए गए मेरे कामों का भी वर्णन किया गया है।

इस बात से ज्यादा खुश हूं कि विचारों में फैशन से अलग हटकर नीतियों के क्रियान्वयन की असफलताओं के साथ–साथ उन खामियों का भी जिक्र है जो उससे होने वाले नुकसान के भी जिम्मेदार हैं।

मैं पहले कुछ अभिसारात्मक तथ्यों के बारे में लिखूंगा और फिर भिन्न तथ्यों पर लिखूंगा जिन पर काफी विचार करना जरूरी है। स्पष्ट रूप से मैं यह दृष्टिकोण इस उम्मीद के साथ बना रहा हूं कि विपरीत विचारों को भी सकारात्मक रूप में बदला जा सके इसके लिए एक तर्कपूर्ण प्रक्रिया की जरूरत है। जिसके लिए मुझे उम्मीद है कि इसी के साथ यह बाद में शुरू होगी। इसमें बहुत से अन्य दूसरे ऐसे भी मुद्दे हैं जिन पर मैंने पहले कुछ नहीं कहा, दूसरी ओर इसमें ऐसे भी कुछ मुद्दे हैं जिन पर मैंने काम किया लेकिन इस रिपोर्ट में शामिल नहीं है। इसके अलावा इसमें कुछ ऐसे भी मुद्दे हैं जिन पर भिन्न विचार हैं लेकिन रिपोर्ट में उनका कोई तर्कपूर्ण निचोड़ नहीं दिया गया है, मैं यहाँ नीचे उन्हीं कुछ तथ्यों का जिक्र कर रहा हूं –

fopkj djus ds fy, dN e[; ckrs &

(अ) 'आदिवासी इलाकों में भूमि स्वामित्व व्यवस्था' पर रिपोर्ट में (जिसे संसद यूएसओ 675, दिनांक 15, 1987 को जमा किया गया), अध्ययन दल के चेयरमैन होने के नाते मैंने देखा "मानवीय–सामाजिक दृष्टि से हस्तांतरण एक व्यवस्थित विचार है। यह आर्थिक, सामाजिक–राजनीतिक और सांस्कृतिक परिदृश्य से संबंधित है इस नजरिये से देखने पर, जमीन और जमीन से जुड़े संसाधनों के हस्तांतरण के सवाल पर एक संपूर्ण दृष्टिकोण बनाने के लिए, यह एक ऐसे राज्य की जरूरी आवश्यकता है, जो सामाजिक–मानवतावादी नैतिकता के लिए अपने निर्माण के इतिहास की जड़ों से जुड़ा हुआ है। मैं खुश हूं कि रिपोर्ट में भूमि हस्तांतरण संबंधी परिदृश्य पर एक संपूर्णांगी अध्ययन करने का साहस किया गया है जैसा कि रिपोर्ट के विभिन्न अध्यायों से नजर आता है।

(ब) मैंने प्रत्युत्तर में लिखे गये पत्र में भी स्पष्ट तौर पर लिखा है कि आदिवासी इलाकों में भूमि सुधार नीति एक वास्तविकता के साथ लागू की गई है। भारत में भूमि सुधारों का मील का पत्थर यही है कि भारत ने राज्य और भूमि का उपयोग करने वालों के बीच मध्यस्थों के शोषण को समाप्त कर दिया है। "लेकिन जहाँ समुदायिक अधिकारों के साथ व्यक्तिगत अधिकार जुड़े हैं, वहाँ समुदाय खत्म हो जाता है ठीक वैसे ही जैसे कि मध्यस्थ/बिचौलिये, संबंधित व्यक्ति के लिए अधिकारों का उपयोग करने के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ खत्म कर देते हैं।

जिस कमेटी के अध्यक्ष आप थे उसने पेज 14 पर कहा भी है, "आदिवासी समाजों में जमीन पर समुदाय का अस्तित्व वर्तमान में एक प्रभुत्वशाली तरीके के रूप में विद्यमान है, इससे पहले जमीन पर व्यक्तिगत मालिकाना हक होता था।" रिपोर्ट के 42 वें पेज पर इस बात पर जोर दिया गया है, "आदिवासी इलाकों में निजी संपत्ति नामक संस्था आज भी कमजोर है जबकि दूसरी ओर समुदाय का मालिकाना हक का विचार आज भी दृढ़ है, जिससे व्यक्तिगत आधार पर जमीन को लीज पर लेने की जरूरत कम हो गई है।" पेज 45, भूमि के इस्तेमाल और समुदाय पद्धति पर एनएसएस सर्वे के 44वें दौर के विश्लेषण पर आधारित है। पेज 157 पर इस बात की सिफारिश की गई है कि व्यक्तिगत भूमि अधिकारों के साथ ही, समुदाय के अधिकारों को पहचाना और रिकॉर्ड में लिखा गया है।" पेज 158 पर सिफारिश की गई है कि "वह सारी जमीन जिसे परंपरागत रूप से चक्रीय आधार पर फसल बदलने और खेती करने के लिए इस्तेमाल किया जाता था, उसे उन व्यक्तियों या आदिवासी समुदायों के नाम पर रिकार्ड में लिखा जाएगा जो जमीन के छोटे–छोटे टुकड़ों पर चक्रीय आधार पर खेती करते थे, न कि सरकार या अन्य किसी एजेंसी के नाम पर लिखा जाएगा।"

इसके अलावा और भी अन्य दूसरे ऐसे मुद्दे हैं, जिनका इस रिपोर्ट में कहीं जिक्र तक नहीं हैं। हालांकि इन तथ्यों से कोई अंतर का संकेत नहीं मिलता लेकिन क्रियान्वयन

की अपर्याप्तता को प्रकट करता है और नीचे दिए गए सेक्शन में उस पर चर्चा की जाएगी।

मानवविज्ञानियों (एंथ्रोपोलॉजिस्ट) ने आमतौर पर आदिवासियों के क्षेत्राधिकार में आने वाली जमीन पर उनके अभिरक्षणात्मक संबंध पर ही रोशनी डाली है। इसी से जुड़ी हुई एक और विचारधारा है वह है 'पूर्वजों के क्षेत्र' की। आदिवासी जमीन के मुद्दे पर अपने ज्यादातर लेखन में मैंने 'अभिरक्षणात्मक रिश्ते के बारे में ही लिखा है। मैंने इसे ऐसे ही 'प्रोटो–पॉलिटिकल' अधिकार के रूप में वर्णित किया है, जिससे 'इमिनेंट डोमेन' के दावे के पीछे तर्क दिया जा सकता है। मैं खुश हूं कि रिपोर्ट में इसी जैसी विचारधारा का इस्तेमाल किया गया है : 'ट्राइबल स्टीवार्डशिप ऑफ फॉरेस्ट एण्ड लैंड'। सच तो यह है कि रिपोर्ट मेरी प्रस्तुति से कहीं अधिक आगे है। जबकि मेरा दृष्टिकोण ज्ञान–मीमांसा तक ही सीमित था, रिपोर्ट में जहाँ एक ओर ज्ञान–मीमांसा और धर्म–मीमांसा का मिश्रण किया गया है तो दूसरी ओर पुरातन नैतिकता को भी इसमें दर्शाया गया है। रिपोर्ट में आगे यह भी कहा गया है, "यह कोई ऐतिहासिक घटना नहीं है कि घने जंगल और आदिवासी समुदायों के निवास स्थान साथ–साथ ही हैं। आदिवासियों के जंगलों के साथ 'सहजीवन' के पीछे यही तर्क है कि यह 'खिद्मतगार बनकर जीवन' का एक अनूठा नमूना है। (पृष्ठ 108) इसके आगे रिपोर्ट में बताया गया है कि प्रसिद्ध 'खिद्मतगारिता या प्रबंधन' को नकार करके औपचारिक संरक्षण में राज्य की दृढ़ता ने जंगल और जंगल विभाग से आदिवासियों के हस्तांतरण, को अंकित कर दिया है" (पेज 108)। "इस सत्य के बावजूद 1988 की राष्ट्रीय वन नीति वनों की सुरक्षा, पुनरूत्पत्ति और विकास के लिए सहजीवी संबंध का आह्वान करती हैं, इसमें कहीं गहरे में अविश्वास भी पठा हुआ है (पृष्ठ 110–111)। इस सबके अलावा "इस बात के कोई प्रमाण भी नहीं हैं कि वनों की देखभाल के लिए प्रबंधन के लिए वन–विभाग के पास ज्ञान, कुशलता या सहानुभूति है।" (पृ..111) यह एक कठोर अभियोग पत्र है। मैंने यह स्वीकार किया है कि 1990 के दशक के मध्य से ही एफआरआई देहरादून में आईएफएस प्रोबेशनर्स के प्रशिक्षण के कोर्स में 'बायो–डायवर्सिटी' जैव–विविधता को भी शुरू किया गया और कम से कम युवा वन अधिकारियों में समकालीन चुनौतियों के प्रति संवेदनशीलता नजर आती है। हालांकि यह नहीं मालूम कि वे अपने विभाग की कार्य की शर्तों को किस हद तक प्रभावित कर पा रहे हैं।

1960 के दशक के प्रारंभिक प्रकाशन के 'क्लियर सोशल प्रोसेस इन द इंडस्ट्रियलाइजेशन ऑफ राउरकेला' (जिसे एम. सेरनिया सीनियर पॉलिसी एडवाइजर, विश्व बैंक ने इसे विश्व के तीन नामों में से एक कहा है) में, मैंने इस बात पर रोशनी डाली है कि 1950 के दशक में जब राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम की प्रकृति ने बहुत से नीति–निर्णयों को प्रस्तुत किया उस समय बहुत से निष्कासित परियोजनाओं के पुनर्वास का पैकेज अपनाया गया, इसने दोहरा पुनर्वास मुहैया कराया, एक ओर तो उभरते हुए काम्प्लेक्स के लिए, तो दूसरे दूर ग्रामीण अंचलों में। इस पैकेज की एक मजेदार बात तो यह थी कि एक परिवार दोनों ही सुविधाएं ले सकता था, ताकि पुनर्वास को संपूर्ण अर्थ में पुनर्वास

बनाया जा सके, "डिसप्लेसमेंट शब्द को दो रूपों में परिभाषित किया जा सकता है। एक तो यह अधिग्रहण से प्रभावित लोगों को अपने में शामिल करता है तो दूसरे, विस्थापन में रैयती जमीनें ही नहीं बेकार जमीनों, आम जमीनों, जंगलों, नदियों और बेकार नहरों, निवासस्थानों और पूरे उस पारिस्थितिकी तंत्र को शामिल करता है जो जीवन से जुड़ा है" (पृ..82)। रिपोर्ट आगे कहती है कि, "जीविका का नुकसान एक बड़ा तत्व है, क्योंकि इससे जीवन की गुणवत्ता कम हो जाती है और इसलिए विस्थापन के लिए जमीन का नुकसान कोई मायने नहीं रखता" (पृ..82)।

संलग्नक 23 में रिपोर्ट में विस्थापन और पुनर्वास से संबंधित राष्ट्रीय नीति का ड्राफ्ट शामिल है (पृ.209–225)। इस ड्राफ्ट में विस्थापन के विचार के क्षेत्र को विस्तृत किया गया है। "ऐसा उत्पादन व्यवस्था को रोककर, लंबे समय से स्थित आवासीय व्यवस्था, एक जैसे दलों को इधर–उधर बिखराकर, प्राधिकार के परंपरागत ढांचों और संबंधित प्रक्रिया को खत्म करने से हो सकता है।" "इस तरह का ब्रेक डाउन आदिवासी समाजों में पूरे तौर पर देखा जा सकता है क्योंकि उनके समाज में उनकी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था और समाज और सांस्कृतिक संस्थाएं गैर–वित्तीय और गैर–व्यवसायिक हैं", जो इस समाज में बहुत महत्वपूर्ण है। विस्थापन में इन सभी संस्थाओं का त्याग शामिल है और समाज के पिछले सांस्कृतिक जीवन के साथ मेल भी टूट जाता है। समाज को न केवल अदूरदर्शिता का सामना करना पड़ता है बल्कि सामाजिक–सांस्कृतिक विमुखता और सामाजिक नुकसान भी झेलना पड़ता है। स्पष्ट तौर पर, इस संदर्भ में यह और भी महत्वपूर्ण हो जाता है कि इस बात पर विचार किया जाए कि 'पूर्ण पुनर्वास किस हद तक संभव है।"(पृ.. 209–210)

'पूर्ण पुनर्वास' का विचार, जो ड्राफ्ट पॉलिसी में रखा गया था, वह विस्थापन के प्रति एक बहु–आयामी प्रतिक्रिया है, जिसने पारिस्थितिकीय तंत्र में रहने वाले सभी लोगों के पूर्ण पुनर्वास को आगे बढ़ाया। पुनर्वास में पूरा समुदाय शामिल है, भूमिहीन मजदूर, कामगार, जमींदार, बेघर और यहाँ तक कि बेरोजगार और वनवासी भी इसमें शामिल हैं। सामाजिक आयाम विस्थापन के सांस्कृतिक और धार्मिक लागतों को भी पूरा करते है। अंत में, आर्थिक आयाम जिसमें कुशलता के स्तर में बढ़ोत्तरी और चल संपत्तियों और साथ ही सामाजिक पूंजी का अम्बार भी शामिल है। पुनर्वास इस अर्थ में 'पूर्ण' है कि विस्थापन के विनाशकारी प्रभावों को खत्म करने की जिम्मेदारी सरकार की है, वह पूरे पारिस्थितिकीय तंत्र के सभी सदस्यों से जुड़ी है, जब तक वे एक अच्छा जीवन प्राप्त न कर लें। (पृ. 210)

इस ड्राफ्ट पॉलिसी की बहुत सी आलोचनाएं हुईं। यह तो साफ नहीं हुआ कि जिस विशेषज्ञ दल के आप अध्यक्ष थे, वह भी उसे स्वीकार करता है या नहीं इस दल ने जिस पुनर्वास पैकेज की सिफारिश की है उसमें शामिल है "(अ) जहाँ कहीं संभव हो, वहाँ जमीन के बदले जमीन, (ब) घर के लिए जगह, घर (स) आजीविका के नुकसान की भरपाई के लिए मुआवजा और रोजगार सुरक्षा के लिए प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रोजगार मुहैया कराना (क) बच्चों के लिए अच्छी शिक्षा, (ख) समुदाय के वयस्कों के लिए कुशलता की बढ़ोत्तरी

और व्यवसायिक शिक्षा मुहैया कराना, (ग) सड़कें, नाले, बिजली, स्वास्थ्य, शिक्षा, सामाजिक, और सांस्कृतिक पुनर्वास सहित अन्य सामुदायिक सुविधाएं उपलब्ध कराना, (घ) विस्थापित लोगों के विकास परियोजनाओं के प्रबंधन में भागीदारी और प्रोजेक्ट के आर्थिक लाभ में भी हिस्सा। इन सभी पर पुनः काम करते हुए इसमें आदिवासी लोगों के लिए कई बातें सामने आईं, जैसे – (क) परियोजना की 10 फीसदी तक की लागत का खर्च पुनर्व्यव्यवस्था और पुनर्वास पर किया जाएगा। (ख) प्रभावित समुदाय की परियोजना द्वारा उत्पन्न हिस्सों या कर या रोयल्टी आदि से होने वाले लाभ में दीर्घ काल तक भागीदारी, इसके लिए जरूरतों को ध्यान में रखा जाएगा।" (पृ. 171)

आमदनी देने वाली परियोजना के हिस्से के सिद्धांत को मैं मानता हूं। 1970 के दशक के प्रारंभ में मैंने एक विचार रखा था कि मुआवजे को पुनर्वास से अलग रखा जाना चाहिए। किसी भी तरह के विस्थापन के लिए, चूंकि संबंधित व्यक्तियों को एक अधिकतम स्वीकार्य शर्तों के अनुसार पुनर्वास मुहैया कराना राज्य की जिम्मेदारी है, मुआवजा भी विस्थापन की प्रकृति या होने वाली हानि के लिए जिम्मेदारी के हिसाब से मुहैया कराया जाना चाहिए। रिपोर्ट में क्रियान्वयन मेरी शुरूआती सोच से कहीं आगे है और इसे बड़े पैमाने पर स्वीकार किया जाना चाहिए।

fopkjk dk feyu&foHkktu

मैंने पाया कि आदिवासी जनसंख्या से जुड़े आरोपों के बारे में विचारों पर सहमति है लेकिन मुझे लगता है कि अध्ययन दल ने इसके औपचारिक स्तर के क्रियांवयन में आनाकानी की है।

पृ. 14 पर दल ने कहा है "आदिवासी समाज आपसी सहयोग और मदद की भावना के साथ एक दृढ़ सामुदायिक जीवन और रिश्ते–नातों के बंधनों से बंधा हुआ है।" विवादों को सुलझाने के लिए इस समाज का अपना एक तंत्र है। एक आम आदिवासी के लिए अदालती कानून बड़े ही जटिल है और वे इस सब जाल से जीत नहीं सकते।" पृ. 11 पर कहा गया है, "आदिवासी अर्थव्यवस्था आज भी आंशिक रूप से वित्त पर आधारित है (आंशिक रूप से यह वस्तु विनिमय और कर्त्तव्यों पर काम कर रही है, यह प्रतिस्पर्धात्मक होने के बजाय अधिक सामंजस्यपूर्ण, मेल–मिलाप वाली और सहयोग पर आधारित है स्पष्ट है कि आदिवासियों की पहचान के लिए यही आधार है। इसी तरह के मानक को एंथ्रोपोलॉजिस्ट और समाजवादियों ने तकनीकी शब्दावली में कहा है, उदाहरण के तौर पर 'संगठित अराजकता', मैक्स वेबर ने नाम दिया तो आन्द्रे बेटीले ने इसे 'राज्य उदासीनता' कहा, संयुक्त राष्ट्र देशज कार्य दल में प्रसिद्ध सामाजिक रूप से सक्रिय लोगों ने 'शेयरिंग एण्ड केयरिंग सोसायटी' का नाम दिया।

हालांकि अपने ही कुछ अवलोकनों से हटते हुए दल ने पेज 4 पर कहा है, "किसी एक समुदाय को अनुसूचित जनजाति के रूप में विशेषीकृत करने के आधार में प्राचीन विश्वास, विशेष संस्कृति, भौगोलिक पृथक्करण और बड़े समुदाय के साथ संपर्क की

शर्मिंदगी, आर्थिक और अन्य प्रकार का पिछड़ापन के संकेत भी शामिल हैं।" इसके आगे दल का विचार है, "यह आधार संविधान में कहीं भी कहा नहीं गया है, लेकिन इतने सालों में इस्तेमाल होने की वजह से पूर्वजों के द्वारा अच्छी तरह प्रतिष्ठित कर दिया गया है। इसमें वें परिभाषाएं भी शामिल हैं, जो 1931 के सेंसस के कार्य में शामिल हैं – 'पहले पिछड़े वर्गों के आयोग की रिपोर्ट (काका कालेलकर समिति, अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति आदेश (संशोधन) अधिनियम, 1967, पर संसदीय सलाहकार समिति और चंदा समिति 1969" सबसे पहले तो यह बताना जरूरी है कि अंत में जिन दो समितियों का नाम लिया गया है, वे दोनों एक ही हैं।

सर्वाधिक प्रतिष्ठित आधार के रूप में, जिस आधार का दावा किया गया, वह दावा लोकुर समिति द्वारा 1965 में किया गया था। लेकिन हालांकि लोकुर समिति ने अपनी इस रिपोर्ट में (पृष्ठ. 28) यह कहा है कि मेरा योगदान बहुत बढ़िया रहा था। मैंने उसके सुझावों को स्वीकार नहीं किया और मुख्य रूप से लोकुर समिति की रिपोर्ट पर आधारित 1967 के विधेयक को सरकार ने, मेरे हस्तक्षेप की वजह से संसदीय जॉइंट समिति (चंदा समिति) 1969 से वापस ले लिया। मैं यह नहीं समझ पा रहा हूं कि इस रिपोर्ट में लोकुर समिति का भूत फिर से कैसे जी उठा। लेकिन व्यक्तिगत तौर पर मैं यह कह सकता हूं कि लोकुर समिति द्वारा सुझाए गए आधारों को इस्तेमाल करने के पीछे कोई तुक भी नहीं बनता। क्योंकि लोकुर समिति की रिपोर्ट में खुद ही कहा गया है कि कालेलकर समिति ने पूरी तरह अलग आधार पर सुझाए हैं। 1961–1974 के दौरान जैसा कि मैं सेंसस का, विभिन्न समुदायों के अनुसूचित जनजातियों के दावों के सभी मामलों को देखने वाला मैं ही अधिकारी था। मैंने कभी भी पुरातन विचारों को स्वीकार नहीं किया क्योंकि दुनिया में ऐसा कोई भी समुदाय नहीं है जिसके अपने अप्रचलित और अतार्किक व्यवहारिक विश्वास न हों। मैंने सभी मामलों को ऐतिहासिक और विश्लेषणात्मक रूप से देखा था और मेरी प्रस्तुति का एक भी ऐसा उदाहरण नहीं था जिसे सरकार या संसद ने अस्वीकार न किया हो।

जैसा कि रिपोर्ट में कहा गया है कि कोई अच्छा सा प्रतिष्ठित आधार नहीं था, यह तथ्य रिपोर्ट के साथ लगे एक पेपर से साफ हो जाएगा, ''व्हाट इज ए ट्राइब : कंफ्लिक्टिंग डेफिनेशन'' जिसे 1968 में प्रो. टी. बी. नाईक ने प्रकाशित किया। प्रो. नाईक 'स्कूल ऑफ ओरिएंटल एंड अफ्रीकन स्टडीज़ लंदन' का दौरा कर रहे थे। वे कुछ समय के लिए टीआरआई मध्य प्रदेश में निदेशक के पद पर रहे, बाद में वे गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद में एंथ्रोपोलॉजी के प्रोफेसर थे। अपनी परिभाषा के अलावा, नाईक ने प्रो. डी. एन. मजूमदार, प्रो. इहरेनफेल्स, प्रो. बी. एच. मेहता– टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल साइंसेस से और मेरे विचारों का भी जिक्र किया है। ऐसा करने से किसी तरह की सर्व सम्मति की उपस्थिति का संकेत नहीं मिलता, लेकिन ठीक उसी समय सभी विचार उस बिन्दु पर आकर मिलते हैं कि किसी को भी कठोर आधार के साथ बंधकर नहीं रहना चाहिए; ऐतिहासिक रूप से निश्चित कार्यों से बिन्दु की प्रेरणा का आधार होना चाहिए कि अनुसूचित जनजाति के स्तर के दावों की स्वीकृति या अस्वीकृति हमेशा बनी रहे।

भाग्यवश, आपकी समिति ने कार्य की प्रासंगिकता को स्वीकार किया है, जिसे रिपोर्ट के पृष्ठ 160 पर बताया गया है, यहाँ अनुसूचित जनजातियों के बीच धनी लोगों के उदय को भी कुछ संदर्भों में सकारात्मक रूप से देखा गया है।

i.k vlgefr

इस रिपोर्ट से संविधान की पांचवीं अनुसूची के चारों ओर एक अनुचित माहौल बना दिया है। एक सुझाव दिया गया है कि पांचवीं अनुसूची उपनिवेशवादी शासन की आंशिक बहिष्कृत क्षेत्र अप्रोच की ही एक ऐतिहासिक निरन्तरता है। यह 1950 में जारी किए गए तीन अनुसूचित क्षेत्र आदेशों के बारे में आंशिक सत्य है, लेकिन 1975 के बाद जारी किए गए आदेशों के बारे में नहीं। बहिष्कृत क्षेत्रों को ब्रिटिश शासन के दौरान बाहरी क्षेत्रों में उपनिवेशवादी शक्ति को जमा करने के लिए प्रशासनिक प्रबन्धन के एक साधन के रूप में इस्तेमाल किया जाता था। 1950 के दशक में अनुसूचित क्षेत्र आदेशों में, स्वतंत्र भारत के बाहरी क्षेत्रों में शक्तिशाली सामंतवादी ताकतों से समाज के पीड़ित वर्गों को विशेष सुरक्षा मुहैया कराने के लिए आंशिक बहिष्कृत क्षेत्रों को भी स्थान दिया गया है जबकि 1975 से अनुसूचित क्षेत्र आदेशों में, उन इलाकों को शामिल किया गया जहाँ सामंती ताकतों को सिर्फ विकास के लिए लक्ष्य के प्रबन्धन के लिए एक साधन के रूप में इस्तेमाल किया जाता था। ऐसा लगता है कि इनमें से किसी के लिए भी, सोच–समझकर कदम नहीं उठाया गया है।

सातवीं योजना कार्य दल ने कहा कि जबकि छठी अनुसूची में स्व–प्रबंधन की आवाज है तो पांचवीं अनुसूची में पैतृक सोच मौजूद है। पांचवीं अनुसूची के सभी जनजातीय क्षेत्रों को छठी अनुसूची के तहत बदलने के लिए एक प्रस्ताव बनाया गया था। लेकिन इसे अगली योजना में ही पुनर्विचार के लिए स्थगित कर दिया गया था। लेकिन ऐसा किया नहीं गया। इस बीच, पांचवीं अनुसूची को पेसा 1996 के द्वारा एक नये जीवन की लीज़ मिल गई। लेकिन पेसा 1996 के प्रावधानों पर गौर करने से यह साफ हो जाता है कि अधिनियम में कुछ भी ऐसा नहीं है जिसे राज्य विधान द्वारा लागू सामान्य कानून से, सभी जनजातीय क्षेत्र में बदला नहीं जा सकता। दूसरी तरफ, कार्यगत क्षेत्र सिर्फ अनुसूचित क्षेत्रों तक ही सीमित रह जाने की वजह से, अनुसूचित इलाकों से बाहर रहने वाली अनुसूचित जातियों को कोई लाभ नहीं मिला ठीक समता फैसले की तरह।

इसके अलावा, ऐसा लगता है कि अध्ययन दल ने कुछ सिफारिशें कीं जिसमें शायद कहा गया था कि दल इस बात से प्रभावित है कि अनुसूचित इलाके आमतौर पर जनजातियों वाले इलाके हैं। लेकिन जैसा कि 2001 के सेंसस में संकेत दिया गया है कि 9 राज्यों में 69 जिलों में से, पांचवीं अनुसूची में केवल 17 मामलों में ही, उन जिलों को लिया गया है जो पूरी तरह से अनुसूचित हैं। इनमें 17 में से 15 जिलों में अनुसूचित जनजाति बहुसंख्यक हैं, जबकि दो में अल्पसंख्यक हैं। शेष 52 जिलों में से एक में अनुसूचित जनजाति बहुसंख्या में हैं, जबकि पांच जिलों में पूरी जनसंख्या के पांच फीसदी से भी कम

हैं। मुझे उम्मीद है कि इस सच्चाई को ध्यान में रखते हुए, अनुसूचित क्षेत्रों से संबंधित सिफारिशों को समायोजित किया जाएगा।

पांचवीं अनुसूची के बारे में मेरा जो सबसे कड़ा विरोध है, वह है इसके अलोकतांत्रिक चरित्र के लिए। पैरा 5 (1) गर्वनर को इतनी शक्ति देता है कि वह संसद द्वारा लागू किए गए किसी भी विधान को एक ज्ञापन द्वारा ही एक तरफ कर सकता है, वह इसे टी. ए. काउंसिल से सलाह किए बिना भी जारी कर सकता है। इसके अलावा गर्वनर की जिन निर्बाध शक्तियों का जिक्र आपकी समिति की रिपोर्ट ने किया है वे संविधान के बुनियादी ढांचे से शायद मेल न खाएं, जैसा कि केशवानन्द भारती मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय ने कहा था।

मैं भुवनेश्वर घोषणा की एक प्रति इसके साथ जोड़ रहा हूं, जिसे पांचवीं अनुसूची को खारिज करते हुए आदिवासी नेताओं ने, उड़ीसा के मुख्यमंत्री श्री गिरिधर गमांग के साथ मिलकर स्वीकार किया था।

mu ekeyk ij lgefr ftudk dkbl rkfdld fu"d"kl ugh fudyk

यह पहले ही कहा गया है कि मैं सहमत हूं कि सामुदायिक भूमि अधिकारों (जंगल और जल स्रोत सहित) को स्वीकार किया जाना चाहिए और रिकॉर्ड में लिखा जाना चाहिए। लेकिन इसके लिए भूमि–सर्वेक्षण और सैटलमैंट एक्ट, बैंकिंग एक्ट, बैंकिंग एक्ट एंड कोऑपरेटिव एक्ट में सुधार करना होगा। 1980 के आसपास मैंने श्रीमती इन्दिरा गांधी के साथ इस मामले को उठाया था और उनके कहने पर डॉक्टर मनमोहन सिंह, डॉ. एम. एस. स्वामीनाथन और मेरे सहित एक मीटिंग बुलाई गई। इसके आगे मैंने चेयरमैन होने के नाते एक समिति गठित की, जिसमें नाबार्ड के चेयरमैन और उनके प्रतिनिधि और अन्य लोग सदस्य थे। लेकिन जल्दी ही हमने पाया कि आदिवासी अभिजात लोग एक साथ दो नावों पर सवार होना चाहते थे– संवैधानिक रूप से मान्यता प्राप्त सामुदायिक अधिकारों में से व्यक्तिगत अधिकारों के लाभों को अधिकतम करना चाहते थे। आदिवासियों के कुछ महत्वपूर्ण लोगों द्वारा मुझ पर दबाव डाला गया और जब मैंने देखा कि समिति के मेरे कुछ मित्र उन प्रलोभनों की ओर झुक गए तो मैंने पद त्याग दिया। अब मैं यह महसूस करता हूं कि बिना विचार के उचित वातावरण बनाए आगे बढ़ना बहुत बड़ी गलती है। अब हालात पहले से बेहतर हैं अब फिर से नए कदम की संभावना की जा सकती है।

मैं संक्षेप में दूसरे मुद्दे का भी वर्णन करूंगा। अध्ययन दल ने लीज पर जमीन लेने की जो बात कही है, मैं उससे सहमत हूं। लेकिन कहानी यहीं पूरी नहीं होती। हालांकि पारंपरिक लीज पर लेने की प्रथा सामंती प्रकृति की है, लेकिन हाल के वर्षों में लीज पर लेने की पूंजीवादी व्यवस्था अस्तित्व में आई है। मैंने आदिवासियों के सामंती व्यवस्था के अंतर्गत लीज पर लेने के मामलों का भी अध्ययन किया है और पूंजीवादी व्यवस्था के अंतर्गत लीज पर देने की व्यवस्था भी देखी है।

foLFkkiu d vudg vrj

2003 में दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित 'विस्थापन' विषय पर सेमिनार में अपने संबोधन भाषण में मैंने लगभग 30 प्रकार के विस्थापनों को गिनाया, जिनमें से बहुत से तो प्रोजेक्ट से संबंधित नहीं थे। उदाहरण के तौर पर, संख्या (202, 1995 (1997 में दिए गए) मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय से, अनजाने में ही मेघालय में बड़ी संख्या में विस्थापन हुआ। मैंने जिन रूपों का जिक्र किया है उन सभी की एक व्यवस्थित रूप से जांच होनी चाहिए।

li.k vkfnoklh ifjfLFkfr;k e vudgk vrj

रिपोर्ट में फिजियोग्राफी के हिसाब से आदिवासियों के बंटवारे का वर्णन मिलता है। जो कार्यक्रमों के क्रियान्वयन के लिए बहुत उपयोगी है। लेकिन नीतियों को लागू करने के लिए राजनीतिक–अर्थव्यवस्था के हिसाब से बंटवारा करने की जरूरत है। केन्द्रीय जनजातीय पट्टी पर सामुदायिक सामाजिक संगठन पर प्राचीन सामंती राजनीतिक अर्थव्यवस्था हावी है। लेकिन पश्चिम बंगाल और महाराष्ट्र के इलाकों में प्राचीन सामंती सामुदायिक नींव पर कुछ पूंजीवादी इंक्लेव भी खड़े हुए हैं। उत्तर–पूर्वी भारत में, पैतृक मूल्यों ने सामुदायिक आधार को विकृत कर दिया और प्राचीन सामंती पद्धति ने उसे विभिन्न श्रेणियों में बांटकर तब तक खण्ड–खण्ड कर दिया था जब तक हाल में स्वामीभक्ति शुरू नहीं हो गई। यह भी गौर करने लायक है कि क्षेत्र में पितृ–सत्तात्मक मूल्य, मातृ–सत्तात्मक वाले क्षेत्रों में भी प्रचलन में हैं। दो भिन्न पद्धतियों का मिलन एक चलायमान स्थिति पैदा कर रहा है। जब तक राजनीतिक–अर्थव्यवस्था की इन दो भिन्नताओं को स्वीकार नहीं किया जाएगा तब तक अधिकारों के रिकॉर्ड तैयार करने में अधिकारों को की सही परिभाषा नहीं दी जा सकती। मैंने इस संदर्भ में इस रिपोर्ट में गलतियाँ पाईं। भूमि सर्वे और सैटलमेंट के काम में जो पुराना तरीका इस्तेमाल किया गया है, झारखंड के कई इलाकों में मैंने इसकी गहराई से जांच की है और जो संभावनाएं मैंने पहले बताई हैं, वो ज्यादा बेहतर साबित होंगी।

आदर के साथ

आपका

बी.के. रॉय बर्मन

संगलग्नक :

ऊपर दिया गया है।

fir` lÙkkRed ekuofoKku cuke vlekurk ds }U} % vuqlwfpr tkfr;ksa dh Js.kh esa 'kkfey djus vkSj ckgj fudkyus ij fopkj

¼v½ 1950 ds n'kd dk lnHkZ

1950 के दशक में जब अनुसूचित जनजातियों के निर्धारण के लिये विभिन्न फोरमों में, मानकों पर चर्चा और बहस की जा रही थी तब उस चर्चा में जो विचार सामने आए वे इस प्रकार हैः

(1) तकनीकी विकास के साथ मानव के सामाजिक, राजनीतिक संगठन के विकास का क्रम सिद्धांत (अथवा दूसरे शब्दों में इसे डार्विन का अपरिपक्व सामाजिक सिद्धांत) कह सकते हैं।

(2) (अ) विकास क्रम सिद्धांत में, विस्तृत रूप से विचार किये गए पश्चिमी जीवन को ध्रुव का एक सिरा समझा गया तो, जनजातीय लोगों की जीवन शैली को ध्रुव के दूसरे सिरे का निर्माण करने वाला समझा गया।

(ब) शिकार और आर्थिक संसाधनों को जुटाने और औद्योगिक उत्पादन के बीच कृषि को अर्द्ध बिन्दु के रूप में स्वीकार किया गया। खेती न करने वाले और समूह में रहने वाले लोगों को विकास क्रम के सबसे निचले स्तर पर कृषि पूर्व स्थिति में रखा गया।

(3) समुदाय या सामुदायिक संसाधनों की अधिकार व्यवस्था को राजनीतिक अर्थशास्त्र की सम्पत्ति माना गया, जो बाद में ऐतिहासिक भौतिकवाद के बदलाव लाने वाले कानून के माध्यम से व्यक्तिगत संसाधन अधिकार व्यवस्था में बदल गया। जबकि मार्क्सवादी विचार वालों ने चाहा कि व्यक्तिगत उत्पादन के संसाधनों पर राज्य पहले अधिकार करे और फिर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के नियम की निरंतर प्रक्रिया के आधार पर राज्य लुप्त हो जाए; संसाधनों पर निगमों के अधिकार की बात, ज्यादातर विद्व ानों को पसंद नहीं थी– अब भले ही कोई मार्क्सवादी था या नहीं था– यह प्रक्रिया तो पहले से ही शुरू हो चुकी थी।

(अ) स्वतंत्रता संघर्ष की विरासत के रूप में, आजादी के बाद जो नेता सत्ता में आए, उन नेताओं में कर्त्तव्य की भावना कूट–कूट कर भरी हुई थी, जिसने जनता को तुरन्त राहत पहुंचाई, वह जनता जिसने साम्राज्यवादी शासन में बहुत दुख और दर्द सहा था।

(ब) नेतृत्व वर्ग यह अच्छी तरह से जानता है कि देश के कई हिस्सों में संसाधनों और जीवन–शैली पर समतावादी नियंत्रण और प्रबन्धन व्यवस्था अब भी कायम थी (हालांकि यह साम्राज्यवादी शासकों द्वारा नही थी) लेकिन बुर्जुआवादी यह शासन भी किसी कैद से कम नहीं था। इसलिये जनता के इस जनजातीय और अन्य पीड़ित वर्गों को सभी प्रकार के प्रभुत्व, शोषण और अलगाव से सुरक्षा की आवश्यकता थी।

(4) स्वतंत्रता के संघर्ष के नेता इस सच्चाई से भी वाकिफ थे कि साम्राज्यवादी शासकों ने देश के क्षेत्रीय, राजनीतिक और सामाजिक नेटवर्क से, बहुत से लोगों को, बाकी देशवासियों से अलग–अलग रखा था। इसलिये वे सभी इस सच्चाई को समान रूप से नहीं जानते थे कि 19वीं शताब्दी में देश का राष्ट्रवादी नेतृत्व, आदिवासियों के, अपनी जमीन और संसाधनों पर साम्राज्यवाद कब्जे के खिलाफ विरोध को एक सामान्य कारण के साथ मिलाने में भी असफल रहा। लेकिन फिर भी 'मुख्यधारा' में एकता की बात केवल भारत के ही सामाजिक और राजनीतिक परिवेश में नहीं बल्कि एशिया के नव–स्वतंत्रता देशों में गूंजने लगी। इस मामले में भी बहुत से एकता और सम्मेलन में अंतर समझने में भूल कर गए। इसके अतिरिक्त 'मुख्यधारा' का अर्थ भी उत्तर भारत के सांस्कृतिक रूप से स्वीकार किये गए 'ब्राह्मणवादी' वर्ग से लगा लिया गया।

¼c½ orleku lnHk

वर्तमान में अनुसूचित जनजातियों की मान्यता का संदर्भ बदल गया है :

(1) जबकि तकनीकी विकास और इस तरह के मिश्रित बदलाव हुए और हो रहे है। डार्विन का अपरिपक्व सामाजिक सिद्धांत धीरे–धीरे नकार दिया गया है, डार्विन के सामाजिक सिद्धांत के प्रभाव के कारण 20वीं शताब्दी के पूर्वाद्ध में आदिवासी लोगों की मानसिक क्षमता के बारे में भी कई नकारात्मक विचार सामने आए लेकिन उसके बाद से ब्रेन–न्यूरोसाइंस और साइकोलॉजी में हुए विभिन्न प्रयोगों और शोधों ने इन लोगों के मानसिक क्षमता पर उठने वाले नकारात्मक विचारों को भी खत्म कर दिया। दूसरी ओर चोम्सकी के भाषाई सिद्धांत (जो एक सार्वजनिक व्याकरण की उपस्थिति पर केन्द्रित है) ने मानव–मस्तिष्क की एकता को स्थापित किया है।

(2) आजीविका की मुख्य क्रियाओं (शिकार करना, समूह बनाना, मछली पकड़ना आदि, के साथ जुड़ा विकास–क्रम सिद्धांत, जो किसी न किसी रूप में ऐतिहासिक भौतिकवाद से जुड़ा है, उस पर अब कई लोगों ने प्रश्न चिन्ह लगा दिये है। पैलाओन्थ्रो पोलॉजिकल रिसर्च से यह बात सामने आई है कि आजीविका के विभिन्न पहलू कुछ हद तक आपस में जुड़े है। वर्तमान में किये गए एथनोग्राफिक अध्ययनों से पता चलता है कि बहुत से मामलों में शिकारी और गैदरर्स राष्ट्रीय ही नहीं बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में भी व्यापार से जुड़े हुए थे। और वे लोग जिन वस्तुओं का व्यापार करते थे, वे कृषि और औद्योगिक अर्थव्यवस्था के महत्वपूर्ण

हिस्से का निर्माण करती है। हालांकि इन लोगों को कृषि–पूर्व अर्थव्यवस्था के वाहक के रूप में वर्गीकृत करना बुद्विमत्ता नहीं होगी। ऐसे वर्गीकरण के परिणाम स्वरूप जो भी योजनाएँ और कार्य सामने आए, उन्हें कभी–कभी सम्बंधित लोगों के लिये हानिकारक भी पाया गया।

(3) यह बात अक्सर नजर अंदाज कर दी जाती है कि सामान्य सी तकनीकी रखने वाले गैर–कृषक लोगों के पास खेती के अलावा अन्य कामों का भी विकल्प है, अगर वे अपनी आजीविका का स्त्रोत बदलना चाहें तो। इसके अलावा, कृषि–अर्थव्यवस्था एक स्थिरता के दौर से गुजर रही है और कृषि में रोजगार क्षमता भी सीमित है। इसलिये कम तकनीक पर आधारित गैर कृषि व्यवसायों से कृषि क्षेत्र में पलायन हमेशा अटल नहीं है। इन सब सच्चाइयों को ध्यान में रखकर ही अनुसूचित जनजातियों और प्राचीन जनजातीय समूह (पीटीजी) के रूप में उनकी उप श्रेणियों की पहचान के लिये मानक तैयार किये जाने चाहिए।

(4) जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है कि अनुसूचित जनजातियों की मानसिक क्षमता के अविकसित होने का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। लेकिन फिर भी बहुत से विद्वान इस बात को स्वीकार करते हैं कि उनकी मानसिकता में अंधविश्वास और विवेकहीनता गहरे पैठ बनाए हुए है। भारत में, आधिकारिक दस्तावेजों में 'पुरातन विश्वास' शब्द का प्रायः प्रयोग किया गया है लेकिन कहीं भी यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि ये 'पुरातन विश्वास' क्या है, एक तो रोगों के कारण और उनके निदान के उपायों के बारे में जो आदिवासियों में प्रचलन देखा गया है, वह अपने आप में महत्वपूर्ण है। लेकिन हाल में न्यूरोसाइंस, साइकेटरी और साइकोथेरेपी में हुए अनुसंधानों से यह पता चलता है कि अभ्यास, व्यवहार और गलती के दौर से गुजरने के बाद इन सभी कामों के अतार्किततता से दूर एक विवेक भी विकसित हुआ है। खासकर हल में 'एम्पैथी न्यूरॉन'–न्यूरो विज्ञान के आदिवासी के कई कामों को नई रोशनी में देखने में सहायता की है।

(5) आदिवासियों के तथाकथित अंधविश्वास का दूसरा उदाहरण उनका प्रकृति का सम्याकलन करना और प्रकृति के विभिन्न रूपों को धार्मिक अस्तित्व प्रदान करना है। इन सभी विश्वासों और कर्मकांडों की वजह से आग्रह रूप में 'एनिमिज्म' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

धर्म के तुलनात्मक आधुनिक अध्ययनों से पता चलता है कि शायद ही कोई ऐसा धर्म है जिसमें इसी तरह के तत्व मौजूद न हो। मुख्य अंतर यह है कि आदिवासी लोग संसार की प्रकृति के ज्ञान को, एक सूक्ष्म सच्चाई के ज्ञान के रूप में ग्रहण कर मानते हैं, तो तथाकथित सर्व व्यापक धर्मों की व्याख्या करने वाले उसी को सिद्धांत रूप में बताते हैं। पहले वाले दृष्टिकोण की पद्धति को हम ऑनटू–एपिस्टेनोलॉजी कह सकते हैं। लेकिन बाद वाला स्वभाव से ही द्वन्द्वात्मक है जिसमें शक्ति और प्रभुत्व का भी एक पहलू शामिल है।

(6) यहां प्रत्यक्ष अनुभव पर आधारित आदिवासी धर्म और पवित्र पुस्तकों में लिखा तथाकथित सर्वव्यापी धर्म के बारे में जो कुछ भी बताया गया है वह सांस्कृतिक भलाई और उनकी सभ्यताओं को जोड़कर रखने के लिए है। (केवल आदिवासी संस्कृतियां ही नहीं बल्कि सभी संस्कृतियां) यह सम्बंध प्रकृति में हस्तक्षेप करने का नहीं है, यह द्वन्द्वात्मक है। जैसा कि सामूहिक धर्मों और तथाकथित सार्वजनिक धर्मों के सम्बंध के बीच प्रभुत्व और आधिपत्य कायम करते हैं वैसे ही संस्कृति और सभ्यता के बीच भी ये तत्व काम करते हैं। वर्तमान में पूरी मानवता पर गहराए पर्यावरणीय संकट के संदर्भ में उपरोक्त प्रक्रिया पर भी गौर किया जाना चाहिए।

(7) यूरोपीय पुनर्जागरण और बाद में 17 शताब्दी में ज्ञान–युग द्वारा प्रोत्साहित पुनर्जागरण और विवेकवाद प्रकृति को एक सर्वोच्च, मूल्यवान समझकर उसके साथ समन्वय बनाकर नहीं बल्कि प्रकृति को जीतकर शोषण करके शुरू हुआ, जिससे प्रकृति देनों का बिना रोके–टोके पूरे वैधानिक तरीके से इस कदर शोषण हुआ कि जिससे बहुत से जीवन खत्म हो गए और बहुत से खत्म होते जा रहे हैं जैसा कि लेवी स्ट्रौस ने कहा है, कि यह सब दैवी नहीं है कि ज्ञान के वैचारिक खतरे और उपनिवेशवाद पर बढ़ने के खतरे समय के साथ शामिल हो गए।

मानवता का एक बड़ा वर्ग अब आदिवासियों की जीवन–शैली के पुनः आकलन की जरूरत को महसूस करता है जो एक समय प्रकृति की देनों के साथ सामंजस्य बनाए रखता है। इसके अतिरिक्त जैव–विविधता के विभिन्न आयामों से जुड़ी प्राचीन ज्ञान व्यवस्था के प्रति जागृति अब पूरे विश्व भर में प्रशंसा पा रही है।

(8) पर्यावरणीय संकट ने इसे और विचारपूर्ण बना दिया है कि आदिवासी लोगों ने प्रकृति की सुरक्षा करके स्वयं की सुरक्षा के फार्मूला को अपनाया था। प्रकृति के साथ भागीदारी और देखभाल की उनकी जीवन शैली को अब प्रशंसा के साथ नए रूप में देखा जा रहा है। एथनोलॉजी में हुए नए अनुसंधानों ने आदिवासी समुदायों के जीवन के बारे में बताते हुए उनकी आस्था और रचनात्मकता को और छोटे–छोटे कीड़े जैसे जीव के लिए भी उनके व्यवहार की तार्किकता को एक नया उछाल दिया है।

(9) छोटे से छोटे जीव के प्रति आदिवासियों की परोपकार की भावना और सामाजिक व्यवहार की खोज कि समाजवादी मैक्स बेवर का 'आदिवासी समाजों को एक नियंत्रित अराजकता के रूप में परिभाषित करना' की पुष्टि करती है जबकि इसके ठीक विपरीत हॉब्स ने कहा कि प्रकृति के राज्य में, मनुष्य हमेशा एक–दूसरे से संघर्ष करते रहते हैं, यह खोखला तर्क नहीं है, इससे आदिवासी समाज के निर्माण के महत्वपूर्ण आधार का पता चलता है।

(10) जब आदिवासी समुदायों को एक नियंत्रित अराजकता कहा जाता है तो इसका मतलब है कि आदिवासी समुदायों को नियंत्रित करने वाली शक्ति राज्य की सर्वोच्च

दंडकारक शक्तियों से वैधता प्राप्त नहीं करती बल्कि समुदाय के अन्दर से ही नियंत्रित होने वाले तंत्र से उसे वैधता प्राप्त होती है। छोटे जीवों में परोपकार की भावना के होने से पता चलता है कि आदिवासी समाजों का आन्तरिक नियमन तंत्र आम तौर पर मानव–जातियों से ही विद्यमान है। इन जातियों को नैतिक समुदाय या होमो–सोशियोलॉजी कहा जा सकता है।

(11) एथनोग्राफिक साहित्य से ज्ञात होता है कि ज्यादातर जनजातियों के बीच रिश्तेदार के बंधन बहुत मजबूत है; इस साहित्य से यह भी संकेत मिलता है कि वे जमीन और जंगल सहित, प्रकृति के विभिन्न विशेष उपहारों के साथ उनकी संवेदनाएं भी जुड़ी हुई थी। इन दोनों प्रचलित प्रथाओं ने प्रकृति के उपहारों के साथ उनके नैतिक बन्धनों को स्थापित किया। इससे पर्यावरण संरक्षण के प्रति उनका झुकाव बढ़ता है, साथ ही प्रकृति की सम्पत्ति की समान भागीदारी प्रदान करता है।

(12) सामाजिक संगठन पर आधारित सम्बंधों से मुख्य रूप से जुड़ा समान हिस्सेदारी का विचार, एक महत्वपूर्ण तत्व के रूप में मानव के एक बायोसोशल पहचान के रूप में जन्म में योगदान दे रहा है जबकि इससे जुड़ी परोपकार की भावना व्यक्तिगत या सामूहिक सामाजिक सम्बंधों के सभी क्षेत्रों में न्याय को जन्म देती है। रॉल्स के अनुसार न्याय, समानता और न्याय की स्वीकृति आवश्यक रूप से साथ–साथ नहीं चलते। किसी एक व्यक्ति को या समूह को न्याय को सुनिश्चित करने के लिए संघर्ष करना पड़ता है। लेकिन ऐसे संघर्ष को स्थायी रहने के लिए समुदाय के अन्दर एक अनुकूलतम विभिन्नताएं होनी चाहिए ताकि समाज का एक विशेष हिस्सा, नेता की भूमिका निभा सके, समाज भागीदारी से गुंथा न्याय का अधिकार, विभिन्नताओं के एक अनुकूलनतम स्तर तक प्रक्रिया को ले जाने में सहायता करता है और अनुसूचित जनजातियों को मान्यता देने के लिए अत्यधिक विभिन्नता या असमानता को भी नहीं अपनाया जाना चाहिए बल्कि एक सीमित समानता को ध्यान में रखकर एक रणनीति की जरूरत है।

(13) वर्तमान विश्व में न्याय के सिद्धांत के प्रति प्रतिबद्वता ने आज एक नया रूप अख्तियार कर कर लिया है। सूचना क्रांति के युग में आग्रहों से कल्पनाओं और बनावटी तकीनीकों से संसाधनों की मात्रा का आकलन किया जाता है। अब यह बात साफ हो गई है कि सामाजिक उत्पादन के लिए उचित विश्व के मुख्य संसाधन ज्यादातर आदिवासी या उनसे जुड़े जनजातीय लोगों के परम्परागत निवास स्थानों पर ही मौजूद हैं, इन्हें संयुक्त राष्ट्र और उसकी एजेंसियां संयुक्त राष्ट्र से जुड़े देशज लोग कहती है। लेकिन ये लोग विश्व की कुल जनसंख्या का मात्र 4 फीसदी ही है। जबकि अनुसूचित जनजातियां जनसंख्या का लगभग 8 फीसदी है, सामाजिक उत्पादन और उपभोग के ज्यादातर संसाधन परम्परागत जनजातीय इलाकों में ही मौजूद हैं। तस्वीर का दूसरा रूख यह है कि आदिवासियों और देशज लोगों के पिछड़ेपन के भ्रम के चलते और उनके विकास के झूठे बहानों के कारण,

उन्हें उनके ही जीविका के आधार संसाधनों से वंचित कर दिया गया है। 19वीं और 20वीं शताब्दियों में काम करने वाले सर्वहारा वर्ग की भूमिका समान ही रही है। यह भी जानना दिलचस्प होगा कि नव–मार्क्सवादी समाजवादी जिओवन्नी ऑलराइट ने उन्हें 'स्टेटस क्लास' कहा है।

(ब) आजीविका चलाने वाले संसाधनों के लिए बढ़ता खतरा (बौद्धिक सम्पदा अधिकार के आक्रामक कानूनी हथियार के द्वारा) और संसाधनों के प्रयोग करने की आदिवासी और देशी लोगों की ज्ञान की व्यवस्था के लिए बढ़ते खतरे ने इन लोगों के वैश्विक प्रभुत्व के खिलाफ उसी तरह प्रतिरोध को भड़का दिया है जैसे कि 19वीं और 20वीं शताब्दी में बुर्जुआवादी एकाधिकार का मजदूर वर्ग ने विरोध किया था।

(14) जनसंख्या के एक बड़े वर्ग के विस्थापन के साथ साम्राज्यवादी न्याय पद्धति के अवशेषों के क्रियान्वयन से, संसाधनों से तेजी से वंचित होने के साथ, पूंजी का प्रागैतिहासिक युग, जिसे एडम स्मिथ ने स्वीकार किया था कि जब तक ये जनजातियां जीवित नहीं रहेंगी, यह खत्म हो जाएगा। इसके साथ ही नक्सलवादी शक्तियों का स्फुरित होना देखा जा सकता है।

भारत में किसी को भी यह देखने के लिए नस्लवादी कामों की पद्धति से सहमत होना जरूरी नहीं है, कि जनजातीय प्रभुत्व वाले पूर्व, दक्षिण पूर्व और पश्चिमी मध्य आदिवासी बैल्ट में वें उसकी इच्छा कर रहे हैं, जिसे वे न्याय का कारण मानते हैं, खास तौर पर आदिवासियों और समाज के अन्य कमजोर वर्गों के लिए, लेकिन यह कहना कठिन है कि यह हमेशा ही आदिवासियों और समाज के अन्य कमजोर वर्ग की सुरक्षा करेगा, जिससे उनके कार्यों को प्रेरणा मिलती है; अनुसूचित जनजातियों की श्रेणी को मान्यता देने के लिए आदिवासियों और कमजोर लोगों की सीमित सामाजिक भिन्नताओं को एक सकारात्मक कसौटी समझा जाना चाहिए।

(15) सामान्य रूप से मार्क्सवादी और गैर मार्क्सवादी विद्वानों के एक वर्ग ने प्रयोजनवाद का दृष्टिकोण रखा कि सामुदायिक जमीन और संसाधनों के हक की व्यवस्था की जगह व्यक्तिगत या स्वतंत्र रूप से जुड़े व्यक्तियों या कारपोरेट से बदलना पड़ेगा, जहां तक गैर मार्क्सवादियों का सम्बंध है, अफ्रीका के अनुभव की रोशनी में राज्य की संसाधनों के हक की व्यवस्था, जो प्रगति के लिए है, उस पर अब प्रश्न चिन्ह लग गए है। मार्क्सवादी मार्क्स के हाथ से लिखे गए लेखों को पाकर काफी प्रभावित हुए जिसे उसके नेरा वर्सल्युस को लिखे गए पत्र के साथ 1882 में पढ़ा गया, उसमें कहा गया कि सामुदायिक व्यवस्था का सीधे समाजवाद तक का सफर पूंजीवादी मार्ग के विकास के बिना भी सम्भव है।

(16) पहचान के दूसरे आधार की मजबूती के लिए स्वयं की परिभाषा।

1980 के दशक से 1990 के दशक के मध्य के समय के दौरान 'युनाइटेड नेशंस वर्किंग ग्रुप फॉर इंडिजीनस एंड ट्राइबल पोपुलेशंस' के तत्वावधान में आदिवासियों

और देशज लोगों की वार्षिक बैठक जेनेवा में हुआ करती थी। इस तरह अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ऐसे लोगों का एक नेटवर्क बन गया। 1990 के उत्तरार्द्ध में ये बैठकें 'यूनाईटेड नेशंस ऑयन एंडिड वर्किंग ग्रुप' के तत्वावधान में आयोजित होने लगी। इन बैठकों में, शुरूआत में 'इंडिजीनस' शब्द का मतलब 'आटोच्थ्योन्स' यानी स्वस्थानिक व्यक्ति से लिया जाता था लेकिन अब इस ऐतिहासिक शब्द के मायने धीरे–धीरे बदल गए अब इसे ऐसे लोगों और संस्कृतियों के लिए इस्तेमाल किया जाता है जो अपने सामाजिक और विद्यमान परिवेश से जुड़े हैं जो आदान–प्रदान और समानता के लिए प्रतिबद्व ऐसे समाज बनाते हैं जहां एक दूसरे के साथ भागीदारी और देखभाल की जाती है, जिन्हें उनकी आजीविका के आधार संसाधनों से वंचित कर दिया गया है।

इस तरह की परिभाषा को जब साल दर साल दोहराया गया और वह भी एक खास करिश्माती परिस्थितियों में, जहां आदिवासी और उनके ही जैसे संसार भर से लोग इकट्ठा होते थे, जो एक–दूसरे को जानते तक नहीं थे, धीरे–धीरे यह परिभाषा यथार्थ जीवन में भी एक सच्चाई बन गई, यहां तक कि उनके लिए भी जिनकी जीवन शैली उनसे कुछ अलग थी। देशज और जनजातीय लोगों के दूसरी बार उदय को भी नहीं भूलना चाहिए। जब आदिवासियों का दूसरी बार अपनी ही परिभाषा के आधार पर समाजीकरण होता, तो यह पूरी मानवता के लिए एक सकारात्मक सम्पत्ति के लिए होगा, जो आज पर्यावरणीय संकट से जूझने की कोशिश कर रही है, यह रास्ता अपने ही भाई–बंधुओं से अलग होकर अहम् को बनाए रखने की भावना और अत्याधिक–व्यक्तिवाद पर विजय पाने में सकारात्मक कदम होगा।

1950 के दशक में अनुसूचित जनजातियों की पहचान के लिए, कसौटी की अनुपस्थिति में एक बड़े पैमाने पर सर्वसम्मति

हालांकि भारतीय नागरिकों को अनुसूचित जनजातियों के वर्गों को देश के संविधान के प्रावधानों के तहत सूचीबद्ध करना एक नीतिगत विषय है, संविधान ने न तो कभी अनुसूचित जनजातियों की कोई परिभाषा दी है और न ही अनुसूचित जनजातियों की संवैधानिक मान्यता के लिए कोई मानक तैयार न किये, इस वजह से ही, नीति–निर्माताओं, अकादमिक और सामाजिक कार्यकर्त्ताओं की 1950 के दशक के प्रारम्भ में ही एक सम्मेलन के दौरान सर्वसम्मति बनी; हालांकि इसमें थोड़ी बहुत कहीं–कहीं भिन्नता रही, इस सहमति में ऐतिहासिक विचार भी शामिल हैं जो आज भी विद्यमान है। इसकी मुख्य विशेषताएं इस प्रकार है–

अनुसूचित जनजातियां वे लोग हैं जो (अ) तुलनात्मक शारीरिक और सामाजिक एकांत में रहते हैं, (ब) उनके एक विशेष सामाजिक संगठन है जिसमें समाज को नियमित करने वाले सभी तंत्रों के ऊपर सम्बंध ही प्राथमिक हैं; (स) उनकी अपनी संस्कृति और

अपनी बोली है (द) कुछ श्रेणी व्यवस्था भी है। विशेषरूप से प्रतिष्ठा श्रेणी देखी गई है, इसमें असमानता की विचारधारा वाली, समुदाय के अन्दर न तो वर्गीकरण है और न ही छोटा–बड़ा (च) उनके अपने धार्मिक विश्वास और जीववादी गतिविधियां हैं जो मुख्य रूप से दैवी साधनों के द्वारा दिये गए प्राकृतिक उपहारों और बलों के प्रबंधन पर केन्द्रित हैं (छ) जो कम ज्यादा रूप से गैर–वितीय वस्तु विनियम अर्थव्यवस्था पर आधारित है, जिसमें आर्थिक और सामाजिक विचारों का मिश्रण है और एक निम्न स्तरीय तकनीकी भी शामिल है।

1950 में, जिसे आम राय कहा गया था, अब वह भी अप्रचलित सी हो गई है। 'ट्राइबल अफेयर्स, मिनिस्ट्री,' भारत सरकार ने मानकों का एक पत्र वितरित किया जिसे प्रतिगामी कहा जा सकता है।

भारत सरकार द्वारा बताए गए आदिवासियों के आवश्यक गुण इस प्रकार हैः

(वेबसाइट: http//tribal.nic.in/index/html) (अ) पूर्व विश्वास (ब) भौगोलिक एकांत (स) विशेष संस्कृति (द) बड़े समुदायों के साथ सम्पर्क में शर्माना (च) आर्थिक पिछड़ापन। 19 नवम्बर 2004 को भारत सरकार ने इससे कुछ अलग शब्दों में मानक प्रस्तुत किये। 'कम्युनिटि एज लार्ज' की जगह पर 'पब्लिक एट लार्ज' शब्दों का इस्तेमाल किया गया।

जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है कि दुनिया में शायद ही कहीं ऐसा कोई समुदाय होगा जिसके विश्वास और क्रिया–कलाप आदिवासियों के विश्वासों से मेल न खाते हों जैसा कि नवम्बर 13 के लिये पूर्वाग्रह पश्चिम के भी कई सभ्य लोगों के बीच प्रचलित है तो वह प्राचीन विश्वास है कि नहीं। इतना ही नहीं हिन्दुओं के बीच काली बिल्ली और मुसलमानों के बीच गिरगिट को लेकर जो पूर्वाग्रह हैं तो उनके बारे में आप क्या कहेंगे? जहां तक भौगोलिक एकांत का सवाल है तो वह या तो उपनिवेशवादी नीति का परिणाम है या फिर आदिवासियों को कोई भी राजनीतिक मुख्य नहीं है या फिर वह परिवहन और संचार के तरीकों में परिवर्तन के परिणाम स्वरूप हुआ है। विशेष संस्कृतियां तो निश्चित रूप से विद्यमान हैं, लेकिन यह विशेषता, मानवीय मस्तिष्क की बुनियादी एकता के चारो ओर गुंथी हुई है। लेकिन सम्पर्क में हिचकिचाहट, बुनियादी सोच नहीं है। जैसा कि जराता के प्रसिद्ध मामले में इस पर भी गौर किया जाना चाहिए। इसके अलावा ऐसे भी अध्ययन हैं कि कभी–कभी पिछड़ापन प्रभुत्वशाली पड़ोसी द्वारा भी लादा जाता है। एकलव्य एक ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं है, लेकिन एकलव्य कथा अपने आप में एक सामाजिक सच्चाई है– जब यह देखा गया कि वह धनुर्विद्या से राजकुमार अर्जुन से ज्यादा अच्छा प्रदर्शन कर सकता है तो भयभीत होकर उसका अंगूठा ही गुरु दक्षिणा में मांग लिया गया था। ऐसे मामलों में आदिवासी हमेशा पीछे रह गए ताकि दूसरे आगे जा सकें।

इस बदले परिदृश्य में, मानकों की जांच करने के बाद, कार्यकारी मानकों के एक सैट को ध्यान में रखना पड़ेगा।

orleku lnHkl e vulfpr tutkfr;k dh lo/kkfud ekU;rk d fy, l>k, x, ekud

जैसा कि पहले ही वर्णन किया जा चुका है, वर्तमान संदर्भ में सुझाए गए मानक इस प्रकार है:—

अनुसूचित जाति में एक व्यक्ति की अपनी परिभाषा है कि वह (अ) पूरे जैविक के रूप में नागरिक का समूह है जो नागरिकों के संवैधानिक कर्त्तव्यों के प्रति प्रतिबद्ध होकर एक विशेष सामाजिक अस्तित्व रखता है, उसका अपना दफन हुआ इतिहास, भाषा और जीवन—शैली है जिसे उनके परिचय चिन्ह के रूप में सम्बंधित व्यक्ति या समूह या उनके पड़ोसियों द्वारा स्वीकार किया गया है। (ब) एक सामाजिक संगठन है जिसमें क्षैतिज स्तरीय अलग—अलग वर्ग है जिन्हें ऊँचे या नीचे की श्रेणी में नहीं रखा गया है जिन्हें आन्तरिक रूप से गुंथे हुए केन्द्र के नजदीक या दूरी पर स्थित भी माना जा सकता है। ये केन्द्र ऐतिहासिक कारणों से राजनीतिक प्रशासनिक शक्ति के हो सकते हैं। (स) सामाजिक संगठन मुख्य रूप से सम्बंधों के बन्धनों पर टिका है और गौण रूप से क्षेत्र से जुड़ा है (जो उसमे रह रहा है और/या एक सामान्य रूप से अपनी आजीविका चला रहा है या उन संसाधनों में भागीदारी करता है) (द) रिश्ते—नाते के बन्धनों की प्रमुखता के कारण सामाजिक नियमन तंत्र का पहिया भी इस सम्बंध व्यवस्था के चारों ओर घूमता है या फिर सम्बंध व्यवस्था राज्य उदासीनता की स्थिति को बनाती है। हालांकि पक्के तौर पर राज्य विरोधी नहीं है। (च) क्षेत्र और प्रकृति की देनों के प्रति एक अधिकार की भावना है (जो उनके परम्परागत निवास स्थानों या पूर्वजों के क्षेत्रों में स्थित है/या नहीं है) (छ) कहानियों कथाओं या सामाजिक प्रेरणाओं के माध्यम से उनमें अपने ही सामाजिक दायरे से जुड़े साथियों के साथ वस्तुओं और सेवाओं को बांटने और उनकी जरूरतों को पूरा करने के लिए चिन्ता की प्रतिबद्धता है, न कि सामाजिक रूप से उन्हें दिये गए कामों की। (ज) वे एक प्राचीन समझौते के बजाय परस्पर नैतिक समझौते का आनंद उठा रहे हैं। (झ) हालांकि समुदाय के विभिन्न वर्गों को सांस्कृतिक रूप से दी गई निश्चित भूमिका के साथ ताल मेल करते हुए आधुनिक ऊँची तकनीक को अपनाने में भी अनिच्छुक नहीं है।

यहां दिये गए मानक बहुत ही स्पष्ट हैं। ऐसे मानकों पर कोई आपत्ति नहीं हो सकती, इन्हें भी विषयगत चर्चा में लागू किया जा सकता है शून्यता या एकांत में नहीं।

mHkjrh gb jk"Vh; vkj vUrjk"Vh; ifjfLFkfr e dk;dkjh ekud

हालांकि कार्यकारी मानक यहां एक प्रहार की तरह है, यहाँ इनका उपरोक्त मानकों के लिये पूरक के रूप में सुझाव दिया गया है, कुछ एंथ्रोपोलॉजिस्ट ने 40 साल पहले ही कार्यकारी मानकों की उपस्थिति के लिए मांग की थी। 1966 में एक व्यवसायिक पत्रिका में

रॉय बर्मन ने विचार रखा कि जिसमें अनुसूचित जनजातियों को मान्यता देना एक नीतिगत विषय बताया गया है। 1974 में 'नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ कम्युनिटि डेवलपमेंट (जिसे उस नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ रूरल डेवलपमेंट) द्वारा आयोजित ट्राइबल पॉलिसी वर्कशॉप में, दिये गये अपने सम्बोधन वक्तव्य में बर्मन में बहुत स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया था। उसी साल संस्थान ने उसका प्रकाशन भी किया था। उस मुख्य वक्तव्य से लिया गया एक उद्धरण यहाँ प्रस्तुत किया गया है– "जब पूरा भारतीय समाज वर्गों में बंटा हुआ है और जबकि हर क्षेत्र में सामाजिक सम्बन्धों में शोषण व्याप्त है तो क्या उभरते हुए जनजातीय अभिजात उससे अलग रह सकते हैं?"

"क्या यह गौर करना ठीक नहीं होगा कि उभरते हुए आदिवासी कुलीन भी आदिवासी समाजों के सामाजिक परिवर्तन के केन्द्र हैं? अगर ऐसा है तो क्या यह कल्पना करना कठिन है कि इस केन्द्र के मूल कार्य केवल कार्यों का एक साथ इकट्ठा करना ही नहीं है बल्कि सम्बन्धों की एक व्यवस्था को कायम करना भी है? आदिवासियों और राष्ट्रीय समाजों के बीच के अवरोधों को तोड़ने के लिये एक ऐतिहासिक कदम देखता है? क्या यह बुनियादी रूप से परोपकार के लिये किया गया काम है, किसके काम पर सवाल उठाया गया है, या फिर यह सामाजिक बदलाव को स्वीकार करने वाले राष्ट्र निर्माण का काम है? यदि यह बाद वाला है यानी राष्ट्र निर्माण का काम है तो फिर आदिवासी कुलीनों के बदलाव की ऐतिहासिक जरूरत को कोई कैसे नजरअंदाज कर सकता है?"

आदिवासियों के प्रति इस तरह के नजरिये की यह पुरानी पैतृक विरासत है। "वह उस समय भयावह हो जाती है जब विभिन्न वर्गों के व्यक्ति उस वर्गीकरण को तोड़ फेंकना चाहते हैं।"

इस सन्दर्भ में राष्ट्र–निर्माण की एक रणनीति की जरूरत है कि आदिवासियों के बीच आगे आए वर्गों की प्रगति की दर बढ़नी चाहिये।"

1974 में जो प्रस्तुत किया गया था उसे असमानता का द्वन्द्व कहा जा सकता है। कुछ लोगों को अनुसूचित जनजाति के रूप में सूचीबद्ध करते समय पूरे सामाजिक प्रबन्धों पर भी गौर किया जाना चाहिये।

इसमें जांच की जरूरत पड़ेगी (अ) संविधान के दायरे में कौन अन्य लोग किस श्रेणी में शामिल किये गये हैं? किसी एक विशेष श्रेणी में कुछ लोगों को शामिल कर लेने से या निकाल देने से उसका क्या प्रभाव पड़ सकता है? यदि विचाराधीन और विशेष राजनीतिक प्रशासन से जुड़े विभिन्न समुदाय अन्य राज्यों/देशों में पाए गए हैं तो यह देखना भी जरूरी होगा कि उनमें सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक सम्बंध है या नहीं और उन्हें संवैधानिक श्रेणी में शामिल करने या बाहर कर देने से समीपवर्ती या क्षेत्र या देश या फिर सीमा पार के व्यक्तियों की सामाजिक और राजनीतिक प्रक्रिया पर क्या असर हो सकता है।

इसके अलावा, यह भी देखा जाना चाहिये कौन सी नीतियां, कार्यक्रम या योजनाएं

जो किसी खास सामाजिक परिवेश में होनी हैं, प्रासंगिक होंगी और कुछ लोगों को एक और अन्य को दूसरी श्रेणी में कर देना उससे कहां तक सम्बद्ध होगा।

इस मामले को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है–

क्योंकि उदाहरण के तौर पर जब दो समुदायों, एक कमजोर और दूसरे की अधिकार संसाधनों को रखने की क्षमता, को एक जैसे ही संवैधानिक सामाजिक वर्गीकरण में शामिल कर दिया जाए, तो ऐसी सम्भावना है कि स्त्रोत्रों का प्रवाह कमजोरों की बजाए शक्तिशाली के हाथ में चला जाए। ऐसी स्थिति में समुदायों को सूचीबद्ध करने के साथ–साथ नीति के उद्देश्यों पर निर्भर होकर, उन्हें न्यायिक साधन भी मुहैया कराने होंगे।

दूसरी स्थिति, जो अन्तर्राष्ट्रीय रूप से प्रासंगिक है, उस पर भी विचार किया जाना चाहिये,

नव–उदारवादी अर्थव्यवस्था पर आधारित भूमंडलीकरण के इस वर्तमान युग में जबकि राज्य अपने बहुत से नियामक कार्यों से वंचित हो रहा है और राज्य की भूमिका के खत्म होने से जो रिक्त स्थान बना, उसे भरने के लिए पूंजी और पूंजीवादी उद्यमियों का मुक्त व्यापार तेजी से बढ़ रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय गैर सरकारी संगठनों सहित सभी गैर सरकारी संगठन इस जगह को भरने में लगे हुए है, ठीक इसी तरह निजी क्षेत्र के उद्यम भी सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों को जगह लेने में आगे कदम बढ़ा रहे हैं। ऐसी स्थिति में, वर्तमान पैतृक दृष्टिकोण और भारत सरकार की वेबसाइट पर दिया गया अनुसूचित जनजातियों की मान्यता के मानक बिल्कुल प्रासंगिक होंगे। लेकिन राज्य के इस खाली स्थान को भरने के लिए, गैर सरकारी संगठनों और निजी उद्यमियों के बजाय, समुदाय की एक वैकल्पिक नीति भी हो सकती है। इस तरह नीति में एक बदलाव, समुदाय के वर्गों के प्रोत्साहन या कुछ मामलों में अधिक रणनीतिक तरीके से समुदायों को प्रोत्साहित करने में यह एक सकारात्मक कदम होगा।

इस प्रकार के गतिशील दृष्टिकोण में समुदायों को संवैधानिक सामाजिक श्रेणियों में सूचीबद्ध करने के लिए निम्नलिखित पर गौर कराना भी जरूरी होगा।

(1) विभिन्न उपयुक्त कानूनी और अन्य साधनों के साथ विशेष संवैधानिक सामाजिक श्रेणी में शामिल करना या निकालना, ऐसे सामाजिक बलों को बढ़ाने में सहायता करेगा, जो आधिपत्यवादी भूमंडलीकरण को बढ़ने से रोकेंगे और बदले में एक नए अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था के उदय को प्रोत्साहित करेंगे, जिसका सपना 1974 में संयुक्त राष्ट्र घोषणा पत्र में देखा गया था।

(2) क्या इस तरह शामिल करने और बाहर निकालने से सन् 2000 में 171 राज्यों के मुखियाओं ने जो मिलेनियन डेवलपमेंट गोल्स यानि सहस्त्राब्दि विकास लक्ष्यों को अपनाया था, उनकी समझ को प्रोत्साहन मिलेगा या नहीं।

यहां कार्यकारी मानकों को विस्तार से दिया गया है, इसलिये उपेन्द्र बख्शी ने यहां

जिस अप्रोच की बात की है वह असमानता का द्वन्द्व है।

निर्णय कल्पनाओं से नहीं लिये जाने चाहिये और नीति–निर्माताओं के उद्देश्य; यह केवल अन्तः विषयगत चर्चा के द्वारा होनी चाहिये।

vkfne tutkfr;k

पांचवी पंचवर्षीय योजना के दौरान भारत सरकार ने एक उप श्रेणी बनाई, अनुसूचित जनजाति की श्रेणी के अन्दर आदिम जनजातियां समूह (पीटीजी)। इस पीटीजी की पहचान के लिए वेबसाइट पर दिये गए मानक इस प्रकार हैं (अ) तकनीकी कृषि पूर्व स्तर, (ब) शिक्षा का बहुत निम्न स्तर और (स) कम होती हुई या स्थिर जनसंख्या।

यह सरलता से देखा जा सकता है कि अनुसूचित जनजातियों की पहचान में भारत सरकार द्वारा अपनाया गया यह आधार एक तरह का पूर्वाग्रह ही है, जिसे पहले ही बताया जा चुका है कि यह नीति–निर्माताओं और कार्यक्रम बनाने वालों के वस्तुनिष्ठ पक्ष से ज्यादा कुछ भी नहीं है। ज्यादा गम्भीर समस्या तो तब होती है जब आदिवासी अपने आप ही पुराने विश्वासों से घिरे हुए है तो फिर प्रिमिटिव ट्राइल्स के रूप में उसी बात को दोहराने का क्या मतलब है? क्या इसका मतलब यह है कि उनकी प्राचीनता जनजातीय लोगों से मात्रा या गुणवत्ता में कुछ अधिक है? इस संदर्भ में प्राचीनता को कैसे मापा जाए? या फिर गुणवत्ता के दृष्टिकोण से एक प्रकार की प्राचीनता का दूसरे प्रकार की प्राचीनता से किस प्रकार कम या ज्यादा की श्रेणी में रखा जाए?

यह भी पहले ही बताया जा चुका है कि जारवा, सेन्टीनिलीग, शोम्पेन, ऑन्गा, अंडमान के ग्रेट अंडमानी और निकोला द्वीप को छोड़कर शायद पूर्व कृषि काल केवल एक विचारगत प्रवाह है। यहां तक कि अंडमान और निकोबार द्वीपों के आदिवासियों के संदर्भ में यह पूरी तरह सच नहीं है।

जहां तक स्थिर और कम होती हुई जनसंख्या का सवाल है, यह समझ लेना चाहिये कि बहुत से यूरोपियन देशों में जनसंख्या कम हो रही है। भारत में पारसियों की जनसंख्या कम हो रही है, लेकिन कोई भी उन्हें प्राचीन जन जातियां कहने का साहस नहीं कर सकता। शायद कुछ जनजातियां विभिन्न प्रकार के नकारात्मक बलों के प्रति कमजोर हो सकती है, उन्हें प्राचीन जनजातियां कहने के बजाय कमजोर या दयनीय जनजातियां कहना ज्यादा बेहतर होना चाहिये। बहरहाल यह यहां वर्णित श्रेणी से जुड़ी हुई कोई नीति या कार्यक्रम नहीं है।

xj&lphc) tutkfr

उपनिवेशवादी शासन के दौरान समुदायों के भीतर ही कुछ समुदायों का वर्गों को समय–समय पर आपराधिक जनजातियों के रूप में घोषित कर दिया गया था। अक्सर, इस तरह की घोषणाओं का उनके द्वारा की गई अपराधिक गतिविधियों से कोई सम्बंध ही नहीं

होता था ज्यादातर इस तरह की घोषणाएं राजनीतिक सोच के आधार पर ही की गई थीं। 1949 में, भारत सरकार ने एक 'क्रिमिनल ट्राइल्स इंक्वायरी कमेटी' का गठन किया और इस समिति की अनुशंसाओं के आधार पर 'क्रिमिनल ट्राइल्स एक्ट' को निरस्त कर दिया गया था। पुनर्वास के उद्देश्य के लिए, एक्स–क्रिमिनल ट्राइल्स को सूचीबद्ध जनजातियां घोषित कर दिया गया।

यह बात भी सोची जानी चाहिये कि 50 सालों के बाद भी, जिन्हें पहले अपराधी जनजातियां का ठप्पा लगा दिया गया था, उन पर आज सूचीबद्ध जनजातियों का ठप्पा लगाना ठीक होगा या उन्हें दयनीय जनजातियां कहना ज्यादा बेहतर नहीं होगा।

इसके अलावा, बहुत से राज्यों में यह देखा गया है कि जिन समुदायों के साथ सूचीबद्ध जनजातियां मानकर व्यवहार किया जाता है, वे असल में अपराधी जनजातियों के रूप में सूचीबद्ध ही नहीं थे, जैसा कि 'क्रिमिनल ट्राइल्स इंक्वायरी कमेटी' की रिपोर्ट में दी गई सूची से पता चलता है। यह भी गौर किया जाना चाहिये कि क्या अपराधी जनजातियों की कोई और अलग सूची तो नहीं है, जिसे 'क्रिमिनल ट्राइल्स इंक्वायरी कमेटी' की रिपोर्ट में शामिल ही नहीं किया गया हो। ■

राज्य केन्द्रित विश्व-व्यवस्था के भूमण्डलीकरण और मानव- हस्तक्षेपवादी विश्व व्यवस्था में बदलाव के संदर्भ में लोगों का आत्म निर्णय का अधिकार

सारांश

लोगों के आत्म निर्णयन के अधिकार की विचारधारा ने अपनी शुरूआत से ही बाद की विचारधारा के प्रति हल्के अन्तर प्रकट कर दिए थे– राज्य की सम्प्रभुता की विचारधारा ने भी कई दबाव महसूस किए, खासकर प्रबल प्रभाव वाले भूमण्डलीकरण और तथाकथित मानववादी हस्तक्षेप के संदर्भ में। प्रस्तुत पेपर में संयुक्त राष्ट्र और उसकी अन्य अन्तर्राष्ट्रीय सहायक एजेंसियों और साथ ही लोगों के अधिकारों, राज्य की सम्प्रभुता और मानववादी हस्तक्षेप के बीच सम्बंधों और बदलते चरित्र पर अनुभववादी परिस्थितियों पर भी रोशनी डाली गई हैं।

प्रस्तावना

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से 'आत्म निर्णय' के लिए संघर्ष सोवरेन एब्सोल्यूटिस्ट स्टेट सिस्टम (एसएसएस) के विचार के साथ जुड़ा हुआ है, यह 'सोवरेन एब्सोल्यूटिस्ट स्टेट सिस्टम यूरोप में 1948 में वेस्टफेलिया की संधि द्वारा लागू किया गया था। आत्म निर्णयन के लिए संघर्ष पीड़ितों और शोषितों की राज्य की निरंकुशता के विपरीत प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करता है। सच तो यह है, 1920 में लीग ऑफ नेशंस ने कहा था, कि राज्य से संबंध विच्छेद करने में राज्य द्वारा जुल्म करना भी एक महत्वपूर्ण तत्व है।12

हस्तक्षेप के संदर्भ में जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, राज्य, सम्प्रभुता, जनता, आत्म निर्णयन के विचार का प्रारम्भिक विश्लेषण सबसे पहले किया जाएगा।

गैटल के अनुसार "राज्य एक ऐसा समुदाय है, जो स्थायी रूप से एक निश्चित क्षेत्र में रहता है, जो बाहरी नियंत्रण से कानूनी रूप से स्वतंत्र है, जिसकी अपनी एक संगठित सरकार है जो अपने क्षेत्राधिकार के तहत सभी लोगों और समूहों के लिए कानून बनाती है और उनका प्रशासन करती है"3

जैसा कि जैकसन ने भी कहा है, सम्प्रभुता एक ऐसी दृढ़ कानूनी संस्था है जो स्वतंत्र राज्य पर आधारित राजनीतिक प्रक्रिया को मान्यता प्रदान करती है, एक ऐसा राज्य जिसकी सरकारें, घरेलू और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों ही स्तरों पर मुख्य प्राधिकारी होती है।4

कई शताब्दियों से अब सम्प्रभुता की विचारधारा भी धीरे–धीरे परिवर्तित होती जा रही है। अठारहवीं सदी में, सम्प्रभुता की प्रमुख धारणा थी कि यह राज्य का नागरिकों पर सर्वोच्च प्राधिकार है जिसे कानून द्वारा भी रोका नहीं जा सकता। 19वीं शताब्दी में, यह सर्वोच्च निरंकुश शक्ति बन गई, जिसे किसी भी बाहरी एजेंसी के द्वारा नियंत्रित या प्रतिबन्धित नहीं किया जा सकता था। 21वीं सदी में पहले ही संकेत मिल रहे हैं कि राज्य की सम्प्रभुता नष्ट होती नजर आ रही है, जैसा कि बाद में चर्चा भी की जाएगी।

'पीपुल' शब्द की ठीक–ठीक परिभाषा करने का मतलब है एक कभी न खत्म होने वाली बहस। संयुक्त राष्ट्र के चार्टर का अनुच्छेद 1(2) में ऐसा लगता है कि 'पीपुल' और 'स्टेट' को समान मान लिया गया है। चार्टर के बनाने की प्रक्रिया से पता चलता है कि जिन लोगों ने अनुच्छेद 1(2) ड्राफ्ट किया था वे 'पीपुल' शब्द को 'स्टेट' के साथ मिलाना नहीं चाहते थे, यह बात संयुक्त राष्ट्र के रिजोल्यूशन 2625(गगअ) से स्पष्ट हो जाती है। संयुक्त राष्ट्र के चार्टर का प्रारुप तैयार करते समय, बेल्जियम के डेलीगेट्स ने कहा कि अनुच्छेद 1(2) में दिया गया शब्द 'पीपुल', 'राष्ट्रीय समूहों के लिए प्रयोग किया गया है जो किसी राज्य की जनसंख्या से अपनी पहचान नहीं बनाते। समन्वय समिति में फ्रांस ने तर्क दिया कि चूँकि अन्तर्राष्ट्रीय संबंध राज्यों के बीच होते हैं राष्ट्रों के बीच नहीं, अनुच्छेद 1(2) में 'पीपुल' शब्द का 'नेशन' यानी राष्ट्र के साथ समायोजन करने का अर्थ है इस शब्द के दायरे में संबंध विच्छेद के अधिकार को समायोजित करना। हालांकि संयुक्त राज्य अमरीका ने महसूस किया कि शायद चार्टर बनाने वालों में ऐसे लोग होंगे जो शायद इस शब्द विशेष से कठोरता से चिपके नहीं रहे हो, इस संदर्भ में 'पीपुल' शब्द के विचार को विस्तृत परिभाषा में समझा जाना चाहिए।5 1972 में तत्कालीन पूर्वी पाकिस्तान की घटनाओं की जाँच करने के लिए गठित किए गए 'इन्टरनेशनल कमीशन ऑव ज्यूरिस्ट' ने परिभाषित करते हुए 'पीपुल्स' को मानव जाति के क्षेत्र के अन्दर बताया।6

पीपुल' शब्द की तरह ही 'सेल्फ–डिटरमिनेशन' या 'आत्म निर्णयन' का विचार भी कुछ अविश्वसनीय या दुविधापूर्ण है। कुछ लोग सेल्फ का अर्थ 'स्वयं' से लगाते हैं और कुछ ऐसे भी हैं जो सेल्फ का मतलब 'पारलौकिक' से लगाते हैं। हमारे वर्तमान उद्देश्य के लिए 'सेल्फ' के अर्थ के लिए 'पारलौकिक बहस' में जाना जरूरी नहीं है। लेकिन इनके अलावा कुछ ऐसे भी लोग हैं जो सेल्फ को सेल्फ डिटरमिनेशन में देखने वाले राज्य केन्द्रित यथार्थवादी परिदृश्य वाले दृष्टिकोण के बजाय आदर्शवादी दृष्टिकोण को पसंद करते हैं जिसमें राज्य केन्द्र पर भी नहीं होता लेकिन फिर भी आवश्यकता के कारण अस्तित्व में बना रहता है, इस तरह राज्य एक 'आवश्यकता अधिकार' है, 'अनन्य अधिकार नहीं। इस परिदृश्य में "सच्चे सेल्फ डिटरमिनेशन को न तो विद्यमान सहभागी प्रक्रिया के सामान्य कार्यों में अभिव्यक्त किया गया है और न ही हस्तक्षेप न करने के दूसरे राज्यों के कर्तव्यों को अभिव्यक्त किया गया है, बल्कि समुदाय के स्वतंत्र एहसास, एकजुटता और विभिन्न दलों के बीच 'हम' के एहसास को अभिव्यक्त किया गया है लेकिन अगर राज्य को छोड़कर

देखा जाए तो यह अधिकार नेशनल सेल्फ डिटरमिनेशन में बदल आता है तब अन्तर्राष्ट्रीय कानून के मद्देनजर राज्य से इसका संबंध बिल्कुल भी स्पष्ट नजर नहीं आता। एक ओर तो यह हमें सीमाओं का सम्मान और राज्य की शक्तियाँ धारण करने वालों के कामों का सम्मान क्यों करना चाहिए, इस प्रश्न के लिए व्याख्या देकर राज्य भक्ति का समर्थन करता है तो दूसरी ओर यह बताता है कि राज्य का कोई गुण नहीं है लेकिन फिर भी यह किसी खास क्षेत्रीय शासन के प्राधिकारी के पूर्वानुमान जैसा ही उपयोगी भी है, किसी भी दल के हित के लिए इसे समाप्त भी किया जा सकता है या उसमें संशोधन किया जा सकता है या निश्चित कानूनों के अनुसार प्राधिकारों की स्थितियों से स्वयं को अलग कर दिए जाने पर भी कोई दल या यूनिट ऐसा कर सकती है।7 ऐसा लगता है कि ऐसे में कंपैनियोनेट वैल्यू ऑरिएंटेशन और सिंडिकेलिज्म यानी श्रेणीवाद का सामंजस्य हो गया है।8 दो बातों को हमें नहीं भूलना चाहिए वे हैं 'प्रमाणिक सामुदायिक एहसास' और ' राज की शक्ति धारण करने वालों के काम जो एक बन्दूक धारी के आदेशों से कुछ अलग हैं।

ओटोमन साम्राज्य में, गैर मुस्लिम अल्पसंख्यकों, उदाहरण के तौर पर – यहूदी, ग्रीक और आरमेनियाई चर्च के अनुयायी, के सामुदायिक अधिकार थे जिससे वे अपने विश्वासों और विजय के बाद इसाईयों द्वारा यहूदियों, मुसलमानों और आइबेरिया प्रायद्वीप के जिप्सियों पर किए गए अत्याचार के समय आन्तरिक मामलों के शासन पर गौर करते थे। किसी तरह ओटोमन के शासन के दौरान गैर–मुस्लिम अपने स्वयं शासित समुदायों (मिलेट) के अन्तर्गत अपने धार्मिक कार्यों को कर सके, धार्मिक स्वायत्तता के लिए व्यक्तिगत धार्मिक अधिकार नहीं थे। ओटोमन साम्राज्य की मुस्लिम प्रजा की तरह ही जिन गैर मुसलमानों के गैर मुसलमान होने का सुनिश्चित प्रमाण नहीं मिलता था उन्हें उनके ही समुदायों में पाखंडी और धर्मत्यागी मानकर सताया जाता था।9 मिलेट कोई प्रामाणिक और महत्त्व को लेकर बनाई गई व्यवस्था नहीं थी बल्कि निश्चित ही राज्य के संरक्षण में शक्ति उन्मुखी व्यवस्था थी।10

भारत में जाति व्यवस्था भी संरक्षणवाद के तहत स्व–शासन की झलक प्रस्तुत करती है। हिन्दू जाति में, एक बार जैसे ही ब्राह्मण की सर्वोच्चता स्थापित हो गई, तो ब्राह्मणों में भी कानून बनाने वाले ब्राह्मणों के द्वारा जो अराजक शर्तें बना दी गईं उसके आधार पर सभी कामों का प्रबंधन करने की ब्राह्मणों को छूट मिल गई। कोई जाति मिलकर या किसी जाति के व्यक्ति द्वारा जाति परिषद द्वारा स्थापित की गई शर्तों का अगर उल्लंघन करता था तो यह राजा का कर्त्तव्य था कि वह उस व्यक्ति को सबक सिखाने के लिए अपनी दण्डात्मक शक्तियों का प्रयोग करे। निश्चित रूप से मिलेट व्यवस्था और जाति व्यवस्था, जैसा कि स्थिर संरचना के रूप में देखे गए हैं, यह संरचना के स्वघोषित अस्तित्व के दायरे में और उस गतिमान प्रक्रिया के दायरे में भी नहीं आता जिन्होंने समय बीतते–बीतते इसके दायरे में अपना स्थान बना लिया। किसी को भी इस बात पर हैरानी होती है कि मिलेट व्यवस्था और जाति व्यवस्था में सुधार, व्यवस्था की इमारतों को गिराने और अपमानित

करने और मानवीय सम्मान के लिए दोनों में ही जो निरंतर संघर्ष हुए, क्योंकि राज्य के क्षेत्र के अन्दर और बाहर सामाजिक रूप से सम्बद्ध व्यक्तियों ने उन्हें आत्म निर्णयन (सेल्फ डिटरमिनेशन) के लिए संघर्ष के रूप में स्वीकार नहीं किया। इस सोच को लास्की के सम्प्रभुता के हुलतावादी सिद्धान्त' से भी तुलना की जा सकती है11 जिसमें मानवीय कार्यों को उनके विशिष्ट क्षेत्र में नियमित करने के लिए राज्य के अलावा अन्य संरचनाओं की भूमिकाओं को भी स्वीकार किया गया है।

संयुक्त राष्ट्र के चार्टर का अनुच्छेद 1(2) 'लोगों के समान अधिकार और आत्म निर्णयन के अधिकार के सिद्धांत' के बारे में बताता है। दो मानव अधिकारों के प्रतिज्ञापत्रों, 1966 का पहला ही अनुच्छेद इन शब्दों को बयाँ करता है "सभी लोगों को आत्म निर्णय का अधिकार है। इस अधिकार के मद्देनजर वे अपने राजनीतिक स्तर को आजादी से तय करते हैं और आजादी से अपना आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विकास करते हैं।"

jkT; 0;oLFkk vk|j vkRe fu.k|; dk vf/kdkj

आत्म निर्णय के अधिकार सहित सभी अधिकार कुछ विशेष ऐतिहासिक परिस्थितियों में गुथे हुए हैं।12 जैसा कि पहले ही संकेत दिया जा चुका है, कि आत्म निर्णयन का अधिकार राज्य के निरंकुशतावाद के विपरीत एक अपवर्तनी दर्पण हैं।

लेकिन वेस्टकेलिया संधि के द्वारा स्थापित हुआ निरंकुश राज्य अब दुनिया के सभी हिस्से में बदल रहा है या धीरे–धीरे परिवर्तन की ओर अग्रसर है। आत्म निर्णयन के विभिन्न चेहरों और श्रेणियों के प्रति प्रतिक्रिया करते हुए विभिन्न रूप ले रहा है। राज्य निरंकुशतावाद के बदलते चरित्र, पर सबसे पहले संक्षेप में चर्चा की जाएगी, पर यह जरूरी नहीं है कि ऐतिहासिक काल क्रम के अनुसार ही हो।

वेस्टकेलिया की संधि 1648 में उन सभी लोगों, जिन्होंने संधि पर हस्ताक्षर किए थे, के लिए अपेक्षा की गई थी कि वे सभी की शान्ति बनाए रखने वाले सभी अनुच्छेदों की रक्षा करेंगे और उसे उचित सलाह देंगे और हानि को होने से रोकेंगे। लेकिन 1815 में नेपोलियन के बाद की वियना की कांग्रेस में, राज्य के निरंकुशतावाद को हल्का संतुलन बनाए रखने के लिए जरूरी समझा गया। रूस, पर्शिया और आस्ट्रिया अपनी सीमाओं में रहकर ध्रुव राष्ट्रों को राष्ट्रीय प्रतिनिधित्व देने के लिए तैयार हो गए और साथ ही अपने राष्ट्रीय संस्थान स्थापित करने के लिए भी तैयार हो गए। इस प्रकार एक तरह से 1815 की वियना कांग्रेस भी राष्ट्रीय आत्म निर्णयन के लिए मार्ग तैयार करने में मील का पत्थर साबित हुई, बाद में, 1830 में जब ग्रीस को आजादी मिली तब ग्रीस ने एक प्रोटोकोल में यह वायदा किया कि यह बिना धार्मिक विश्वासों की परवाह किए अपनी सारी प्रजा को नागरिक और राजनीतिक, स्वतंत्रताओं की गारंटी देता है। 1878 में बर्लिन की कांग्रेस में यह सिद्धांत स्थापित किया गया था कि जिस किसी भी राज्य ने यूरोपीय राष्ट्रों के सौजन्य से प्रवेश प्राप्त किया है उन्हें पराधीन ही समझा जाएगा। इसका परिणाम यह हुआ कि

बर्लिन की संधि में पेन्सिलवेनिया, मोन्टेनग्रो, रोमानिया, सर्विया और तुर्की को इस बात की गारंटी देने की जरूरत पड़ी कि वे बिना किसी भेदभाव के अपनी प्रजा को अधिकार और स्वतंत्रता प्रदान करेंगे। इस तरह के विकास के लिए, बहुमुखी दृष्टिकोण वाले ऑस्ट्रो हंगेरियाई साम्राज्य में राष्ट्रीय चेतना का भी उदय हुआ।

कुछ भी हो, इन सभी संधियों और इसी प्रकार के अन्य सहायक कामों ने, चाहे वे जहाँ कहीं भी हुए हो (सुल्तान अब्दुल मेजित के तंजिमात या तुर्की के उदार सुधार, जिन्होंने उदाहरण के तौर पर गैर मुसलमानों की भी सामाजिक समानता को मान्यता प्रदान की), इन सबसे राज्य के निरंकुशतावाद की तीक्ष्णता कुछ हद तक कम हो गई। आज, संयुक्त राष्ट्र के सभी सदस्य राज्यों में नैतिक स्तर पर लोकतंत्र की आवाज गूँज रही है हालाँकि अलोकतांत्रिक काम भी किए जा रहे हैं, दूसरे राज्य के नागरिकों के लिए तो दूर की बात, अपने ही राज्य के नागरिकों के लिए भी अलोकतांत्रिक कार्य लगभग सभी राज्यों में दिखाई दे रहे हैं।

vkRe fu.kZ;u dh fMfxz;k@Jsf.k;k[13] &

राज्यों के चरित्र के आधार पर, विभिन्न लोगों के बीच आत्म निर्णयन के दावों की अलग–अलग श्रेणियां हैं, इसकी एक सूची नीचे दी गई हैं –

1. साम्राज्यवादी प्रभुत्व से स्वतंत्र होने के अधिकार की स्थापना (उदाहरण के तौर पर लगभग वे सभी देश जो पहले साम्राज्यवादी प्रभुत्व में थे)

2. निर्भर रहने का अधिकार, यदि यह उन निर्भर लोगों की इच्छा को व्यक्त करता है जिनके पास एक निश्चित क्षेत्र है (उदाहरण के तौर पर, कोमरो में मेयोट द्वीप, प्यूरटो रिको)

3. राज्य को विघटित करने का अधिकार, कम से कम यदि शान्तिपूर्वक किया गया हो, और पहले वाले राज्य के क्षेत्र पर नया राज्य बनाने का अधिकार (उदाहरण के तौर पर चेकोस्लोवाकिया, पूर्व संयुक्त राष्ट्र सोवियत रूस)

4. तर्कपूर्ण सम्बंध विच्छेद करने का अधिकार (उदाहरण के तौर पर, बांग्लादेश, एरिट्रिआ)

5. अलग हुए राज्यों को पुनः एक होने का अधिकार (उदाहरण के तौर पर जर्मनी)

6. अल्पसंख्यकों के दलों को एक बड़े राजनीतिक अस्तित्व का अधिकार, जिन दलों को सिविल और राजनीतिक अधिकारों के प्रतिज्ञापत्र के अनुच्छेद 27 में मान्यता प्रदान की गई है और संयुक्त राष्ट्र की जनरल असेम्बली के 1992 के राष्ट्रीय या जातीय, धार्मिक और भाषाई अल्पसंख्यक वर्गों से संबंधित लोगों के अधिकारों के घोषणापत्र में भी मान्यता प्रदान की गई है।

7. सीमित रूप से स्वायत्त शासन का अधिकार उन दलों के लिये जिन्हें क्षेत्रीय, अथवा सामान्य जातिगत, धार्मिक या भाषाई आधार पर बंधनों में बंधा हुआ कहा गया है

(उदाहरण के तौर पर कनाडा जैसा कनफेडरेशन)

8. आंतरिक आत्म–निर्णय, उदाहरण के तौर पर किसी को अपनी सरकार का रूप चुनने का अधिकार या अगर अधिक स्पष्ट रूप से कहा जाए, सरकार के लोकतांत्रिक रूप का अधिकार (जैसे – हैती)

हालांकि 'द अमेरिकन जनरल ऑफ इंटरनेशनल लॉ' नामक प्रतिष्ठित जनरल में छपने के बावजूद ऐसा नहीं लगता कि सूची में दी गई सभी आइटम को अधिकार कहा जा सकता है और आत्म–निर्णय का अधिकार कहा जा सकता है। उदाहरण के तौर पर प्यूरटो रिकंस की संयुक्त राष्ट्र अमेरिका पर निर्भर रहने की इच्छा को शायद ही अधिकार कहा जा सकता है। सच तो यह है कि कुछ विद्वानों में आवश्यकता अधिकार और शक्ति अधिकार में भी अंतर किया है। फिर भी निर्भर रहने की इच्छा को एक आवश्यकता अधिकार में वर्गीकृत करना भी अपने–आप में एक कठिन काम है। इसके बाद जर्मनी की पुनः जुड़ने की इच्छा को आत्म–निर्णय का अधिकार इनमें से किसी एक या दोनों आधारों पर कहा जा सकता है – (अ) राज्य को लोगों के समान समझा जा सकता है। (ब) अधिकार का दावा, केवल किसी एक राज्य के संदर्भ में ही नहीं बल्कि अंतर्राष्ट्रीय समुदाय के संदर्भ में किया जा सकता है।

पहले वाले आधार के बारे में पहले भी चर्चा की जा चुकी है और उसे नकार दिया गया है। दूसरे आधार में ऐसा लगता है कि इसके लिए एक अंतर्राष्ट्रीय सरकार की जरूरत है, जो अभी अस्तित्व में नहीं है।

इस प्रपत्र का महत्व इतना है कि इस सब नजरिये को कि 'प्रतिनिधियात्मक लोकतंत्र से संबंध–विच्छेद करने का दावे को आत्म–निर्णय के अधिकार की वैधानिक कार्रवाई न समझा जाए, बल्कि एक देशज दल के द्वारा लोकतंत्र के दायरे के अंदर अपनी भाषा और अपनी गैर–सामूहिक सांस्कृतिक परंपराओं को अपने और इस्तेमाल करने के अधिकार के दावे के रूप में समझा जाए, जिसे कभी भी आत्म–निर्णय के अंतर्गत मान्यता नहीं दी गई इसके ठीक विपरीत, एक दमनकारी तानाशाही से संबंध विच्छेद करने के अधिकार को वैधानिक समझा जाना चाहिए। संबंध–विच्छेद करने के सभी दावों को ऐसे हतोत्साहित नहीं कर दिया जाना चाहिए, इसके लिए यह विभिन्न–ऐतिहासिक घटनाक्रमों पर निर्भर करता है, क्षेत्रीय आधार पर इन्हें अलग–अलग रूपों में देखा जाना चाहिए।

हालांकि यह सब घटनाक्रम एक राजनीतिक सिद्धांत के स्टेटमेंट से ज्यादा कुछ नहीं है, लेकिन इस प्रपत्र में अंतर्राष्ट्रीय कानून के दायरे के अंदर, सूची में दिये गये विभिन्न अधिकारों के कानूनी स्तर पर सवाल उठाए गए हैं। लेकिन इस पर व्यवस्थित रूप से कदम नहीं उठाए गए।

इसलिए अब यह प्रस्ताव दिया जाता है कि अंतर्राष्ट्रीय कानून के तहत आत्म–निर्णय के अधिकार की विषयवस्तु और स्टेटस की जांच की जाए।

iFke fo'o;|) d nkjku vkj ckn e vkRe&fu.k; d vf/kdkj d fØ;kUo;u e tkfroknh i{kikr

ऐसा प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान था कि आत्म–निर्णय के अधिकार के मुद्दे को सही मायने में प्रोत्साहन मिला। जर्मन लोगों ने ही सबसे पहले यूरोप में दुश्मनों की प्रजा की राष्ट्रीय संवेदनाओं का शोषण करने का प्रयास किया, जैसे कि लेलैंड में सिन फिन और बेल्जियम में पृथकतावादी फ्लेमिश की तरह। इन्होंने पृथकतावाद को रूसी लिथुआनिया और अन्य बाल्टिक क्षेत्रों में बढ़ावा दिया। जर्मनी के कहने पर राष्ट्रवादियों की एक कांग्रेसए लाउजेन में 16 जून, 1916 में गठित की गई थी, जैसे ही यूनाइटेड किंग्डम और फ्रांस ने रूस (मित्र राष्ट्र) के साथ हाथ मिला लिया और रूस की प्रजा की राष्ट्रीयता को मध्य यूरोप में मिला लिया गया गया, वे अपनी प्रतिक्रिया में और भी दृढ़ हो गए। ब्रिटेन के विदेश विभाग ने एक घोषणा थोप दी, जिसमें कहा गया था कि, "युद्ध के बाद के क्षेत्रीय प्रबंधनों को समझने में राष्ट्रीयता का सिद्धांत भी एक मुख्य तत्व रहेगा ..... सबसे पहले तो हम अपने मित्र–राष्ट्रों को दिये गए वचन के प्रति बंधे हुए हैं, जिसके कारण राष्ट्रीयता के दावे के साथ उसका समन्वय करना बहुत मुश्किल हो सकता है।"14 इसी बीच मित्र राष्ट्रों ने इटली को भी सभी क्षेत्र देने का वादा कर लिया। दोनों ही तरफ के राष्ट्र ध्रुवीय राष्ट्रों का सहयोग प्राप्त करने के लिए एक अस्पष्ट तरीके से राज्य ही सौंपने के वादे जैसे वादे कर रहे थे।

मार्च 1917 में रूस में जार की सरकार को गिरा दिया गया और उसके बाद करेंस्की के नेतृत्व वाली प्रादेशिक सरकार बनी, नई सरकार ने अपनी नीति में घोषणा करते हुए कहा कि वह न तो किसी राज्य पर प्रभुत्व जमाएगी न ही जीतेगी और "राष्ट्रों द्वारा स्वयं अपने भाग्य का निर्णय करने के अधिकार के आधार पर एक शांति की स्थिति कायम करना चाहती है।"15 ठीक उसी समय, प्रावैधानिक सरकार ने न तो युद्ध से ही अपने पांव पीछे हटाए और न ही रूस द्वारा मित्र राष्ट्रों से की गई संधि को ही प्रतिष्ठित किया। इसलिए प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप राष्ट्रीयता के आजादी के दावों के लिए फ्रांस, यूक्रेन के लोगों आदि ने युद्ध छेड़ दिया, लेकिन जब 1917 में बोल्शेविक सत्ता में आया, उन्होंने और ज्यादा दृढ़ता से आत्म–निर्णय के अधिकार की मांग की, भले ही फिर संबंध विच्छेद क्यों न करना पड़े। एक प्रतिष्ठित साम्यवादी विचारक रोजा लक्जमबर्ग ने राष्ट्रीय स्वतंत्रता को बुर्जुआ वर्ग का हित समझा और उसने इस स्वतंत्रता के सुसंस्कृत दावे को नकार दिया क्योंकि यह सर्वहारा राष्ट्रवाद का उल्लंघन करता था।[16] 'लेकिन लेनिन ने स्वीकार किया कि आत्म–निर्णय का अधिकार जार के शासन को खत्म करके बाहर निकलने के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है। जब वे युद्ध से बाहर आए, तब उन्होंने अपने ही अधिकार के अंदर अन्य राष्ट्रीय क्षेत्रों की स्वतंत्रता को स्वीकार किया।

रूस के साथ युद्ध के बाद ब्रिटेन और फ्रांस अब जार के शासन के बहुराष्ट्रीय चार्टर का सम्मान करने की जरूरत से मुक्त हो गए, और केंद्रीय शक्तियों को कमजोर बनाने के लिए लोगों के आत्म–निर्णय के पक्ष में तरह–तरह की घोषणाएं करने लगे, साथ ही लोगों

के आत्म–निर्णय के राजनीतिक सिद्धांत को अपनाकर वोल्शेविको ने जो लाभ उठाया, उन्होंने उसका प्रतिकार किया। इसी स्तर पर अमेरिकी राष्ट्रपति विल्सन के आत्म–निर्णयन के विचार ने घटनाक्रमों का क्रम तय करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

अप्रैल 1917 में मित्र राष्ट्रों के पक्ष में युद्ध जाने से पहले ही, विल्सन को मित्र राष्ट्रों से उस सिद्धांत पर थोड़ा–बहुत आश्वासन प्राप्त हो गया था, जिसे वह निरंतर अपनाए हुए था। जून 1917 में, विल्सन ने संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के युद्ध के उद्देश्यों को घोषित करते हुए कहा कि यह स्वतंत्रता, स्व–शासन और लोगों के लिए सुझाए गए विकास कार्यों के लिए लड़ेगा।[17]

प्रजा की सभी राष्ट्रीयताओं ने हर जगह विल्सन की घोषणा को एक वचन की तरह दोहराया कि वे हरेक जातीय दल को उसका अपना राष्ट्र राज्य खड़ा करने में सहयोग देंगे। 8 जनवरी 1918 को संयुक्त राष्ट्र की कांग्रेस में विल्सन की 14 पोइंटस् वाले व्याख्यान में बड़े ही षड्यंत्रकारी तरीके से 'आत्म–निर्णय' के शब्द को नदारद कर दिया गया,18 हालांकि उस व्याख्यान में विशेष क्षेत्रीय प्रबंध, ऑस्ट्रो हंगेरियन और ओटोमन साम्राज्य से बाहर स्वतंत्र राज्यों का निर्माण, आदि की बातें की गईं और साथ ही बाद में होने वाले विकासों ने यह दिखा दिया कि न तो विल्सन और न ही मित्र राष्ट्रों के नेता इस बात में विश्वास करते थे कि सिद्धांत निरंकुश था या सार्वजनिक। यूरोप के बाहर के राष्ट्रीय क्षेत्र जनता के आत्म निर्णय के विचार के बंधनों से मुक्त थे। युद्ध के दौरान, मित्र राष्ट्रों ने पूर्व ओटोमन साम्राज्य और यूरोप के बाहर जर्मन उपनिवेशों के क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया था। वे इन्हें न तो अपने पूर्व मालिकों को लौटा सके और न ही युद्ध के दौरान उनकी घोषणाओं का खंडन किये बिना उन्हें साथ जोड़ सके। आत्म–निर्णय के राग को अलापने के बजाय विल्सन ने एक प्रकार की न्यासिता का ही समर्थन लिया। आखिरकार एशिया, अफ्रीका और ओसीनिया की जनता पर जनादेश व्यवस्था थोप दी गई।[19] इस गन्दे खेल में जातीय पक्षपात बिल्कुल साफ नजर आ रहा था। यहाँ तक कि यूरोप के संदर्भ में, लीग ऑफ नेशंस के द्वारा नियुक्त किए गए कमीशन ऑफ ज्यूरिस्ट्स ने कहा कि आत्म–निर्णय का सिद्धांत सामान्य परिस्थितियों में अंतर्राष्ट्रीय कानून का हिस्सा नहीं थे।[20]

l;Dr jk"V d 'kklu e vkRe&fu.k; dk vf/kdkj

वर्सा की संधि ने आत्म–निर्णय के अधिकार के राजनीतिक–सिद्धांतों को भी पहचाना। इसका परिणाम यह हुआ कि आकार के योग्य अल्पसंख्यक नए राष्ट्र राज्यों में रहने लगे। इसके अलावा, जहाँ कहीं भी यह सिद्धांत लागू किया गया था, यह हारी हुई शक्तियों के क्षेत्र के संदर्भ में लागू किया गया। इन सभी ने द्वितीय विश्व युद्ध को जन्म देने की इच्छा में सहयोग दिया। आत्म निर्णय के सिद्धांत को एक अधिकार के रूप में परिवर्तित करना पड़ा।

1944 में, डम्बर्टन ऑक्स में मित्र राष्ट्रों का एक सम्मेलन हुआ, जिसमें युद्ध के बाद एक अंतर्राष्ट्रीय संगठन के लिए चार्टर तैयार हुआ। इस बात का कोई भी प्रमाण या

कागजात नहीं है जिससे पता चले कि इस सम्मेलन में आत्म–निर्णय पर भी कोई बात हुई थी। लेकिन 1945 में, जब संयुक्त राष्ट्र का चार्टर पूरा किया गया, तब संयुक्त राष्ट्र सोवियत रूस के कहने पर, जनता के आत्म–निर्णय के अधिकार को अनुच्छेद 1(2) और 55 में जोड़ दिया गया। लेकिन इन दोनों अनुच्छेदों में आत्म निर्णय को केवल अधीनस्थ क्लॉज में ही संबोधित किया गया और आत्म निर्णय के मुद्दे को प्रमुख रूप से संबोधित नहीं किया गया।[21]

उप–समिति, जिसने शुरूआती दौर में आत्म–निर्णय पर चर्चा की, उसने पाया कि स्पोंसर करने वाली सरकारों के बीच भी दो तरह के विचार थे। एक तो यह था कि यह सिद्धांत सब जगह जनता की इच्छाओं से जुड़ा हुआ है और यही वजह है कि इसे चार्टर में जनता का स्व–शासन का अधिकार के रूप में जगह दी जानी चाहिए, संबंध–विच्छेद के अधिकार के रूप में नहीं। पूरी समिति, जिसने अनुच्छेद को स्वीकार किया, ने आत्म–निण र्यि के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए कुछ खास स्पष्टीकरण नहीं दिया।[22]

मानवीय अधिकारों की सार्वजनिक घोषणा (यूडीएचआर) ने संयुक्त राष्ट्र की जनरल एसेम्बली ने सभी लोगों और राष्ट्रों के लिए उपलब्धि के सामान्य मानकों की घोषणा की .... अपनी सार्वजनिक और प्रभावी पहचान को सुरक्षित करने के लिए सदस्य राज्यों की जनता के द्वारा और क्षेत्र की जनता के द्वारा अपने क्षेत्राधिकार के अंदर, यह घोषणा 10 दिसम्बर 1948 को स्वीकार की गई। आत्म–निर्णय के अधिकार को घोषणा में शामिल करने के सोवियत रूस के प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया गया।[23] इसका परिणाम यह हुआ कि मानवीय अधिकारों की सार्वजनिक घोषणा में आत्म–निर्णय के अधिकार का कोई संदर्भ तक नहीं था। इससे कोई भी दो निष्कर्षों तक पहुंच सकता है। पहला तो, कम से कम उस समय संयुक्त राष्ट्र के ज्यादातर सदस्यों का विचार था कि आत्म–निर्णय का अधिकार का मतलब संबंध–विच्छेद का अधिकार नहीं है। दूसरे, लोगों की इच्छा के अनुसार किए गए संबंध–विच्छेद का दायरा ज्यादातर राज्यों के शक्तिशाली अभिजात वर्ग तक ही था और इससे वे सब इस चिंता के शिकार हो गए कि कायापलट करने की इस प्रक्रिया के द्वारा आत्म–निर्णय का शब्द उस इच्छा की अभिव्यक्ति को पूरा करने का काम करेगा। यही वजह थी उन्हें उस शब्द से एक एलर्जी सी थी।

लेकिन एक न्यूक्लियर ब्लास्ट में खत्म होने वाली युद्ध की अंधेरी गुफा से गुजरने के बाद मानवता की एक नई सुबह की शुरूआत हुई। एक भयावह चुप्पी के फटने के बाद मानवता के समर्थन का तूफान थम नहीं सका।

1950 में दिसंबर 4 को, संयुक्त राष्ट्र जनरल एसेम्बली ने प्रस्ताव 421 (डी) के द्वारा संयुक्त राष्ट्र की आर्थिक और सामाजिक परिषद से, मानव अधिकार आयोग से विनती करने के लिए कहा कि वह उन सभी तरीकों और साधनों का अध्ययन करे जो जनता और राष्ट्रों के आत्म–निर्णय के अधिकार को सुनिश्चित करें और ऐसी अनुशंसाएं भी तैयार करने के लिए कहा, जिस पर जनरल एसेम्बली विचार कर सके।

1952 में यह निर्णय लिया गया कि मानवीय अधिकारों की सार्वजनिक घोषणा के सहायक के रूप में, मानव अधिकारों पर दो प्रतिज्ञापत्र होंगेः आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों का अंतर्राष्ट्रीय प्रतिज्ञापत्र (आईसीईएससीआर) और नागरिक और राजनीतिक अधिकारों पर अंतर्राष्ट्रीय प्रतिज्ञापत्र (आईसीसीपीआर)। साथ ही इन दोनों प्रतिज्ञापत्रों को हस्ताक्षर के लिए खुला रखने का भी निर्णय किया गया। फिर से संयुक्त राष्ट्र सोवियत रूप ने आत्म–निर्णय के अधिकार पर एक अनुच्छेद शामिल करने का प्रस्ताव रखा। लेकिन जैसे लीग ऑफ नेशंस के दिनों में हुआ था, ठीक वैसे ही उपनिवेश रखने वाले राज्यों जैसे – यूनाइटेड किंग्डम, फ्रांस और बेल्जियम ने तर्क रखा कि आत्म–निर्णय का अधिकार कोई कानूनी अधिकार नहीं है बल्कि एक अस्पष्ट राजनीतिक सिद्धांत है, जिसे आमतौर पर अतिरिक्त कानूनी प्रक्रिया के द्वारा प्रायः संबंध विच्छेद को भी शामिल करके प्राप्त किया जाता है।[24]

जब पश्चिमी देशों का प्रतिरोध असफल हो गया, तब उन्होंने प्रस्तावित अनुच्छेद के शब्द को विस्तृत रूप देने के लिए संयुक्त राष्ट्र मानव अधिकार आयोग की ओर कदम बढ़ाया ताकि न केवल उपनिवेशी परिस्थितियों में लोग बल्कि सम्प्रभु देशों में भी लोगों को इस शब्द के दायरे में शामिल किया जा सके। शुरूआत में तो संयुक्त राष्ट्र अमेरिका ने आत्म निर्णय पर अनुच्छेद को मानव अधिकारों के क्षेत्र के दायरे में शामिल करने का विरोध नहीं किया लेकिन जब चिले ने अपनी स्वतंत्र इच्छा के अनुसार अपने प्राकृतिक संसाधनों को पाने का प्रस्ताव रखा तब संयुक्त राष्ट्र ने इस आधार पर पीछे हाथ खींच लिया कि इससे विदेशी निवेश में बाधा होगी। इस सोच के आधार पर तो आत्म निर्णय का अधिकार पूंजीवादी बाजार द्वारा बनाए गए राजनीतिक क्षेत्र के लिए एक जोड़ की तरह था। फिर भी 1955 में, आत्म–निर्णय के अधिकार को मौलिक मानवीय अधिकार के रूप में मान्यता देने वाला एक रेजोल्यूशन स्वीकार कर लिया गया। उस रेजोल्यूशन को साम्यवादियों और तीसरी दुनिया के देशों, जिन्हें ऐतिहासिक रूप से लाभान्वित देश कह सकते हैं, के समर्थन से संभव हुआ जबकि दूसरी ओर बहुत से पश्चिमी देश इसका विरोध कर रहे थे।"[25]

vkRe&fu.k; dk lc/k fomifuos'khdj.k ls vkj 'kk;n ,e vk vkj ls g &

14 दिसंबर 1960 को संयुक्त राष्ट्र जनरल असेम्बली ने रेजोल्यूशन 1514(गअ) स्वीकार किया, जिसका शीर्षक था – "उपनिवेश बने देशों और उनकी जनता के लिए स्वतंत्रता प्रदान करने की घोषणा। रेजोल्यूशन के पैरा 2 में घोषणा की गई थीः सभी लोगों को आत्म–निर्णय का अधिकार है। इस अधिकार के द्वारा वे आजादी से अपने राजनीतिक स्टेट्स को तय कर सकते हैं और आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विकास को भी आजादी से पा सकते हैं। आगे इसमें कहा गया है कि आजादी में देरी का कारण राजनीतिक और आर्थिक खामियाँ हैं। रेजोल्यूशन के पैरा 6 में एक मौलिक परिसीमन सिद्धांत भी बनाया गया : क्षेत्रीय एकता और राष्ट्रीय अखंडता को पूर्ण या आंशिक रूप

से हानि पहुंचाने के लिए उठाया गया कोई भी कदम संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के उद्देश्यों और सिद्धांत के खिलाफ होगा।

आत्म निर्णय के मसले पर अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त प्राधिकारियों में से एक प्राधिकारी[26] ने रेजोल्यूशन पर टिप्पणी करते हुए कहा :

"घोषणा का विश्वास करने का आधार बिल्कुल साफ है : सभी उपनिवेश क्षेत्रों को स्वतंत्रता का अधिकार है। फिर भी, इन सभी पर गहराई से गौर करने पर कुछ बातें सामने आई हैं जैसे लोगों का क्षेत्र (पीपुल टेरिटोरीज़, कंट्रीज) देश आदि शब्दों से भिन्न–भिन्न असंगतियाँ सामने आ रही हैं। हालांकि घोषणा के शीर्षक में केवल उपनिवेश देशों और लोगों का ही जिक्र किया गया है, लेकिन आगे कार्यात्मक पैरा–2 में सभी लोगों के आत्म निर्णय के अधिकार का विस्तृत रूप से संदर्भ दिया गया है।

हालांकि 1960 के रेजोल्यूशन 1514 को आत्म निर्णयन के मुद्दे पर एक मील का पत्थर माना गया है क्योंकि इसमें दूरदर्शिता का परिचय दिया गया है, संयुक्त राष्ट्र प्रस्ताव 2625 (ग्ग्ट), अक्तूबर 24, 1970 (संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के संदर्भ में सभी राज्यों के बीच मित्रवत् संबंध और सहयोग से संबंधित अंतर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धांतों की घोषणा) की भी जांच की जानी चाहिए। इसमें बहुत सारे मुद्दों को शामिल किया गया है। समान अधिकारों और जनता के आत्म निर्णयन से जुड़े सेक्शन से प्रासंगिक अनुच्छेदों को यहाँ दिया गया है।[27]

"जनता के समान अधिकारों और आत्म–निर्णयन के सिद्धांत के आधार पर, संयुक्त राष्ट्र के चार्टर में कहा गया है, कि सभी लोगों को बिना किसी बाहरी हस्तक्षेप के अधिकार है कि वे आजादी से अपने राजनीतिक स्तर का और आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विकास का निर्णय ले सकें और हर राज्य का कर्त्तव्य है कि वह चार्टर के प्रावधानों के अनुसार अपनी जनता के इस अधिकार का सम्मान करे।"

प्रत्येक राज्य का यह कर्तव्य है कि वह ऐसे किसी भी दबावपूर्ण कार्य को न करे जिससे जनता अपने आत्म निर्णयन और स्वतंत्रता के अधिकारों से वंचित हो जाए। लोगों को अपने आत्म–निर्णयन और स्वतंत्रता के अधिकार को लागू करने के लिए भी चार्टर के सिद्धांतों और उद्देश्यों के अनुसार सहयोग प्राप्त करने का भी प्रावधान है।

किसी भी उपनिवेश का क्षेत्र या अन्य गैर–स्वशासित क्षेत्र का, उसको प्रशसित करने वाले राज्य से अलग और विशेष दर्जा है, और यह अलग और विशेष दर्जा चार्टर के अंतर्गत तब तक रहेगा जब तक उपनिवेश या गैर–स्वशासी–क्षेत्र चार्टर के अनुसार और खास तौर पर इसके उद्देश्यों और सिद्धांतों के अनुसार, आत्म–निर्णय के अधिकार को क्रियान्वित नहीं कर लेता।

इससे आगे के अनुच्छेदों में इस तरह का कुछ भी नहीं है जिससे किसी क्षेत्र की एकता या सम्प्रभु और स्वतंत्र राज्यों की राजनीतिक एकता को खत्म करने के लिए किसी

कार्य को बढ़ावा दिया गया हो, जो राज्य जनता के आत्म–निर्णय और समान अधिकारों के सिद्धांत के अनुसार चल रहे हैं और इस तरह के अपने क्षेत्र से जुड़े सभी लोगों का बिना किसी जाति, रंग और वर्ण के भेद के, प्रतिनिधित्व करते हुए शासन कर रहे हैं।

घोषणा में आगे कहा गया है कि राज्य की क्षेत्रीय एकता और राजनीतिक स्वतंत्रता का उल्लंघन नहीं किया जा सकता और कि प्रत्येक राज्य को अपनी राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक व्यवस्था का चयन करने और विकास करने का अधिकार हैं।

विशेषज्ञों की घोषणा के बारे में राय [28] है कि हालांकि पीपुल्स की कोई परिभाषा नहीं दी गई है न ही इसके किसी उद्देश्य में ऐसा सुझाव दिया गया है कि आत्म–निर्णयन का उद्देश्य लोगों को अपने राज्यों के साथ विशेष धार्मिक दर्जा देना नहीं है। एक विशेषज्ञ द्वारा दिए गए विचार इस बारे में महत्वपूर्ण हैं। चूंकि घोषणा में मित्रतापूर्ण संबंधों के बारे में क्षेत्रीय एकता और राजनीतिक अखण्डता के उद्देश्य को आत्म–निर्णयन से भी ज्यादा बड़ा सिद्धांत माना गया है, यह :

"केवल उन राज्यों पर लागू होता है जो ऊपर वर्णित आत्म निर्णय और समान अधिकार के सिद्धांत पर काम कर रहे हैं और इस तरह उनकी ऐसी एक ऐसी सरकार है जो बिना किसी जाति, रंग, वर्ण का भेद किये अपने क्षेत्र के लोगों का प्रतिनिधित्व करती है। प्रतिनिधित्व की एकमात्र आवश्यकता लोकतंत्र है। हालांकि इस एक आवश्यकता का मतलब यह नहीं है कि जो भी प्रतिनिधित्व सरकार है वह आवश्यक रूप से एक ही राज्य के अंतर्गत भिन्न–भिन्न धर्मों, नैतिकताओं, भाषाओं और अन्य समुदायों को मान्यता भी देगी।"

आगे कहते हुए, उन्होंने कहा, "अधिक स्पष्ट रूप में ... ऐसे राज्य को प्रतिनिध्यात्मक नहीं कहा जा सकता जो औपचारिक रूप से किसी समूह को रंग, जाति या धर्म के भेद के आधार पर राजनीतिक प्रक्रिया में भाग लेने से अलग कर देता है।

1970 की घोषणा के शब्दों को वियना घोषणा में दोहराया गया जो मानव–अधिकारों पर संयुक्त राष्ट्र विश्व कांफ्रेंस 1993 के बाद सामने आए, लेकिन उनमें एक बदलाव किया गया। वियना घोषणा में उस सरकार को निकाल दिया गया जो बिना किसी प्रकार के भेदभाव के क्षेत्र में रहने वाली जनता का प्रतिनिधित्व करती है।

ekuo vf/kdkjk d 1966 d nk ifrKk i=k e vkRe&fu.k;

मानव अधिकारों की सार्वजनिक घोषणा के सहायक के रूप में 1966 के दो प्रतिज्ञापत्रों का पहले ही जिक्र किया जा चुका है। दोनों ही प्रतिज्ञा–पत्रों के अनुच्छेद 1 में आत्म–निर्णय के अधिकार के संदर्भ में ठीक वैसी ही शब्दावली और भाषा का इस्तेमाल किया गया है जैसे 1960 के रेजोल्यूशन 1514 के पैरा–2 में किया गया है।

दोनों ही प्रतिज्ञापत्रों[29] के अनुच्छेद 1 के संदर्भ में भारत ने अपना आरक्षण व्यक्त

किया है। (दोनों ही प्रतिज्ञा पत्रों के) अनुच्छेद–1 के संदर्भ में भारत के गणतंत्र की सरकार इन शब्दों के साथ घोषणा करती है कि इन शब्दों में दिखाई देने वाला आत्म निर्णय का अधिकार स्वतंत्र संप्रभु राज्यों या जनता के एक वर्ग या राष्ट्र पर लागू नहीं होता जो राष्ट्रीय एकता का सार है।

तीन राज्यों, जो पूर्व साम्राज्यवादी शक्तियाँ थे, प्रत्येक ने भारत के इस आरक्षण के प्रति विरोध जताया। जर्मन संघीय गणराज्य ने खास तौर पर भारत के आरक्षण के प्रति प्रतिक्रिया व्यक्त की। जर्मन संघीय गणराज्य ने यह कहते हुए भारत के आरक्षण का विरोध किया[30] : आत्म निर्णय का अधिकार को ... संघीय सरकार ऐसे आत्म–निर्णयन के अर्थ को उचित नहीं मान सकती जो प्रावधानों की स्पष्ट भाषा के विपरीत हो। इसके अतिरिक्त यह इस बात पर विचार करता है कि सभी राष्ट्रों पर उनके क्रियान्वयन की सीमा तय करना प्रतिज्ञा पत्रों के उद्देश्य और लक्ष्य के विरुद्ध है।

इसलिए, इस बात पर भी गौर किया जाना चाहिए कि शुरुआती स्तर पर हालांकि, बहुत से देश प्रतिज्ञा–पत्रों में आत्म–निर्णय के अधिकार को शामिल करने का विरोध कर रहे थे, लेकिन भारत के प्रतिनिधित्व को इसके लिए समर्थक के रूप में कहा जाता है, भारत ने कहा कि "यदि इस अधिकार का मतलब लोगों को अपने राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक मामलों में अपने लिये निर्णय लेना है तो ऐसे अधिकार को हर सच्चे लोकतांत्रिक राज्य में मान्यता दी गई।[31] इस शब्द की बाद वाली परिभाषा को भारत के कुछ भागों में एक प्रभुत्वशाली वैश्विक व्यवस्था की ओर चलन के संदर्भ में देखा जाता है, जहाँ इस तरह की मान्यता है कि प्रभुत्वकारी हस्तक्षेप से बचने के लिए अलाभान्वित देशों और लोगों को सामूहिक आत्म–निर्णयन की आवश्यकता है। लेकिन उन पीढ़ियों के लिए, जो देश की आजादी के संघर्ष में शामिल थीं, यह आत्म विश्वास की कमी चौंकाने वाली थी। ऐसा लगता है कि 1990 में इसी मामले पर फिर से पुनर्विचार की प्रक्रिया शुरू हुई। अक्तूबर 18, 1995 को भारत के बाह्य मामलों के मंत्री ने निर्गुट देशों के एक सम्मेलन के दौरान अपने वक्तव्य में कहा कि भारत को आत्म–निर्णय के अधिकार शब्द से कोई परेशानी नहीं है क्योंकि इसका मतलब संबंध–विच्छेद का अधिकार नहीं है।[32]

vkRe fu.k; vkj lc/k&foPNn dk vf/kdkj

जब अंतर्राष्ट्रीय कानून के एक प्राधिकारी[33] ने इस बात पर गौर किया कि हालांकि इस पर चर्चा की जानी चाहिए कि आत्म निर्णय के अधिकार को अंतर्राष्ट्रीय कानून में अधिकार का दर्जा प्राप्त हुआ है कि नहीं, ठीक उसी समय उन्होंने यह भी गौर किया कि विभिन्न दस्तावेजों और 1966 के मानव अधिकारों के दोनों प्रतिज्ञापत्रों से यह बात साफ हुई कि इसमें स्वतंत्रता के एकपक्षीय अधिकार के रूप में परिभाषित किए गए आत्म निर्णय के अधिकार को विउपनिवेशवाद के संदर्भ से बाहर लागू करना था। उसने यह भी कहा कि संयुक्त राष्ट्र के विभिन्न प्रस्तावों में और मानव अधिकारों पर दो अंतर्राष्ट्रीय प्रतिज्ञा पत्रों में आत्म निर्णयन को पूर्ण रूप से निरंकुशता से लागू किए जाने के बाद भी आत्म निर्णय को

कहीं भी कभी भी ऐसा निरंकुश अधिकार नहीं समझा गया, जिसे परंपरागत उपनिवेशवाद के सीमित संदर्भ के अलावा, दावों या अधिकारों की परवाह किये बिना ही क्रियान्वित कर दिया गया हो। यहाँ 1970 में संयुक्त राष्ट्र के सेक्रेटरी जनरल ने अपनी जो स्थिति पाई, उस पर भी ध्यान देना जरूरी है। "अंतर्राष्ट्रीय संगठन होने के नाते संयुक्त राष्ट्र ने कभी भी अपने सदस्य राष्ट्रों के संबंध–विच्छेद के सिद्धांत को स्वीकार नहीं किया और न ही यह इसे स्वीकार करता है और न ही भविष्य में कभी स्वीकार करेगा।"[34]

आगे की चर्चा, हालांकि आत्म–निर्णयन के अन्य रूपों से नहीं जुड़ी है। एक राज्य के रूप में, अपनी सरकार रखने वाले संगठित लोगों का अधिकार, जिसमें उनकी इच्छाओं की झलक दिखाई देती है, वे आत्म निर्णयन के अधिकार के आवश्यक हिस्से हैं। ये अधिकार सर्वव्यापक रूप से प्रभावी हैं और यह भी कि किसी भी राज्य ने जनता के आत्म निर्णय के अधिकार को स्वीकार नहीं किया है, यह भी सब पर लागू होता है। यह सही है कि लोगों के आत्मनिर्णय के अधिकार सर्व व्यापी रूप से लागू होते हैं और यह भी सत्य है कि लोगों के आत्म निर्णयन के अधिकार को किसी भी राज्य ने स्वीकार नहीं किया है, यदि कोई आत्म निर्णय को संबंध विच्छेद या आजादी के समान समझता है।[35]

1974 में भेदभाव निरोधक और अल्पसंख्यकों की सुरक्षा के लिए गठित संयुक्त राष्ट्र के उप–आयुक्त ने 'हेक्टर ग्रॉस एस्पील' द्वारा एक अध्ययन कराने का निर्णय लिया, जिसकी रिपोर्ट से यह सुनिश्चित हो जाता है कि आत्म–निर्णय का अधिकार सम्बन्ध–विच्छेद के अधिकार के अर्थ में केवल इस तथ्य तक सीमित है कि लोगों को उपनिवेशवादी शासन या किसी बाहरी विदेशी शक्ति से आज़ाद होने का अधिकार है। अपनी क्षेत्रीय एकता को बनाए रखना भी विचारपूर्ण है। पुरातन उपनिवेशवाद में उपनिवेशों में रहने वाले लोगों का आत्म–निर्णय का अधिकारए संप्रभु स्वतंत्र[36] होने के लिए संबंध विच्छेद के विचार को स्वीकार करता है।"

आत्म–निर्णय के विचार में विकास वादी पहलुओं पर संयुक्त राष्ट्र द्वारा कराये गये एक दूसरे अध्ययन की रिपोर्ट 1981 में प्रकाशित हुई थी। इसके लेखक क्रिस्टिस्कु ने 'आत्म–निर्णय' के विचार को एशिया, अफ्रीका और सागरीय क्षेत्र के प्राचीन विउपनिवेशवादी विशेष परिस्थितियों के ही चारों ओर निष्पक्ष रूप से रखा। पूर्ण आत्म–निर्णय की स्वीकृति और पुनः स्वीकृति के दावों के अध्ययन से यह सामने आया कि यह केवल बाहरी प्रभुत्व के अधीन रहने वाले लोगों तक ही सीमित था।[37]

ऐसा लगता है कि 1970 के प्रस्ताव 2625 में जिन बातों को अस्वीकार किया गया है, उन्हें दोनों ने ही ग्रॉस और क्रिस्टिस्कु ने ऐसे निरंकुश शब्दों का प्रयोग करते समय शायद नजरअंदाज कर दिया था। 20 सामाजिक वैज्ञानिकों के एक दल ने शिमला (भारत) में एक वक्तव्य जारी किया कि 'वैश्विक नैतिक व्यवस्था के बढ़ते हुए चरण में यदि कोई राज्य नरसंहार या लोगों को मारने के काम में शामिल होता है तो प्रभावित हुए लोगों के संबंध–विच्छेद का अधिकार नकारा नहीं जा सकता।"[38]

उदारवादियों के दृष्टिकोण के मुताबिक जो कुछ भी दावा किया गया है, उससे किसी भी विद्यमान राज्य से संबंध–विच्छेद करने के लिए निम्नांकित चार योग्यताओं का होना जरूरी है:[39]

1. अगर किसी क्षेत्र को मौलिक रूप से किसी राज्य में बलपूर्वक मिला लिया जाए, और उसमें रहने वाले लोग लगातार एकता का साथ दे रहे हों और बलपूर्वक शामिल किये जाने को नकार रहे हों, तो संबंध–विच्छेद को उचित ठहराया जा सकता है। क्योंकि इतिहास में एकता के लिए स्वीकृति के उदाहरण तो हैं लेकिन विरोध का एक भी उदाहरण नहीं है।

2. यदि किसी क्षेत्र के नागरिकों की सुरक्षा और बुनियादी अधिकारों की सुरक्षा करने में राष्ट्रीय सरकार, गंभीर रूप से असफल रहती है। और यह असफलता निरंतर बनी रहती है या फिर अगर निरंतर असफल नहीं रहती तो स्थिति इतनी भयानक हो जाती है कि कोई भी विवेकी व्यक्ति, उस क्षेत्र मे ंरहने वाला, अपनी स्वतंत्रता और सुरक्षा को लेकर भय महसूस करेगा।

3. अगर किसी देश की राजनीतिक व्यवस्था क्षेत्र के आर्थिक और वैध राजनीतिक हितों की सुरक्षा में असफल हो गई, क्योंकि कार्यकारी प्राधिकारियों ने उस प्रक्रिया के परिणामों पर सोचा ही नहीं। इस स्थिति में लागू होने के लिए यह दिखाना जरूरी होगा असफलता लम्बे समय से निरंतर जारी है; कि उससे क्षेत्र के लिए किसी प्रकार की हानि हो रही है और सत्ता में बैठे राजनीतिज्ञ विपरीत परिस्थितियों के लिए जिम्मेदार हैं।

5. यदि राष्ट्रीय सरकार ने शामिल होने वाले क्षेत्र के साथ हुए समझौते की उपेक्षा कर दी हो, किसी क्षेत्र के आवश्यक हितों की सुरक्षा के मद्देनजर ऐसा हुआ हो कि उसने स्वयं को राष्ट्रीय बहुसंख्यक स्वीकृति से बाहर पाया हो।

एक राज्य केंद्रित यथार्थवादी परिदृश्य में, संबंध विच्छेद की वैधानिकता के प्रति संदर्भ में ऊपर बताए गए मानकों के अनुसार सहमत न होना कठिन ही है। एक विद्वान द्वारा बताए गए विचारों को भी ध्यान में रखना जरूरी है। उनके शब्दों में, "यह आत्म–निर्णयन के लिए जरूरी है कि किसी दल के द्वारा जिन शक्तियों की मांग हो रही है उसे समान रूप से इस्तेमाल किया जाना चाहिए। और इसलिए जो अभिजात वर्ग शक्ति को निश्चित करता है, उसे पूरी तरह से दावेदार समूह द्वारा समर्थन दिया जाना चाहिए।"[40] किसी को भी इस बात पर हैरानी होगी कि प्रभुत्वशाली भूमंडलीकरण के भू–राजनीतिक संदर्भ और तथाकथित मानवतावादी हस्तक्षेप पर आधारित उभरती विश्व–व्यवस्था को क्या एक कमी के रूप में समझा जाना चाहिए और अगर ऐसा हो तो किस हद तक उसे इस अर्थ में देखा जाना चाहिए। वैश्विक स्तर पर शक्ति के ठेकेदारों द्वारा प्रभुत्वकारी कार्यों की संभावना को भी नजरअंदाज नहीं किया जाना चाहिए, जो ऐसी स्थिति पैदा कर सकते हैं, जिसमें इरिडैंटिस्ट (इटली के एक दल के सदस्य) 24 नवंबर, 1978 के संयुक्त राष्ट्र

आजादी और स्वतंत्रता प्रस्ताव 33/24 का फायदा उठाकर अपनी सशक्त गतिविधियों को भी वैध करार दे सकते हैं। शायद इस संदर्भ में 1990 के दशक की मध्यावधि में ईज्दे समिति ने यह स्वीकार किया है कि आत्म–निर्णय का अधिकार स्वतः ही संबंध विच्छेद करने का अधिकार नहीं है, बल्कि इसमें विशेष महत्व की आवश्यकता है आंतरिक और बाह्य आत्म–निर्णयन।

vkrfjd ,o ckg; vkRe&fu.k;

ऐसा लगता है कि इस प्रकार का भी एक नजरिया है[41] कि बाहरी आत्म निर्णयन और आंतरिक आत्म निर्णयन परस्पर अलग–अलग हैं। राज्य के रूप में संगठित लोगों का बाह्य प्रभुत्व से आजाद होना बाहरी आत्म निर्णयन का अधिकार है। किसी राज्य की जनता का सरकार से ऐसा अधिकार लेना, जिसमें उनकी इच्छाओं की झलक मिलती है, आंतरिक आत्म निर्णय का अधिकार है। जैसा कि पहले ही चर्चा की गई है, यदि 1960 के रेजोल्यूशन 1514 के पैरा–2 की व्याख्या की जाए तो गैर–स्वशासित क्षेत्रों के सभी लोगों के आत्म–निर्णय के अधिकार को यदि एक बार उस क्षेत्र के सभी लोगों द्वारा लागू कर दिया जाय तो वहाँ किसी भी अल्पसंख्यक का बाह्य आत्म निर्णय का अधिकार शेष नहीं रह जाता। लेकिन देशज लोग न केवल अल्पसंख्यक हैं बल्कि उनके विशेष क्षेत्रों और संप्रभु राज्य के भीतर के साधनों पर विशेष परंपरागत क्षेत्राधिकार के तहत अधिकार भी हैं। उनके मामलों में बाहरी आत्म निर्णयन के सिद्धांत के आधार को पूरी तरह खत्म नहीं किया जा सकता। देशज लोगों के अधिकारों पर संयुक्त राष्ट्र की घोषणा के प्रारूप पत्र (यू.एन.डा. ई/सीएन 4/सब. 2/1994/एड.1.20 अप्रैल, 1994) के अनुच्छेद 3 में कहा गया है कि देशज लोगों को आत्म–निर्णय का अधिकार है। इस अधिकार के आधार पर वे अपने राजनीतिक स्तर का आजादी से निर्णय कर सकते हैं, और अपना आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विकास भी आजादी से कर सकते हैं। ऐसा लगता है कि इसमें आंतरिक और बाह्य दोनों ही आत्म निर्णय के अधिकार को लिया गया है।[42] अनुच्छेद 4, 193 और 20 में भी आंतरिक और बाह्य आत्म–निर्णय के अधिकार को चयन की स्वतंत्रता से बाहर रखा गया है।[43] लेकिन घोषणा के अनुच्छेद 31 में देशज लोगों के आंतरिक आत्म–निर्णय के अधिकार को पूरी तरह से स्वीकार किया गया है। इसमें कहा गया हैः 'देशज लोगों को, आत्म निर्णय के अपने अधिकार को विशेष रूप में लागू करते समय, अपने आंतरिक और स्थानीय मामलों में स्वशासन की स्वायत्तता का अधिकार है .... इसमें कई सवाल उठ खड़े होते हैं, राष्ट्रीय संस्थानों के साथ देशज लोगों के स्व–शासन के संस्थानों का मेल और इस मामले में अगर कोई विवाद होगा तो क्या उसका निपटारा अंतर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार होगा। फिर भी घोषणा का प्रारूप और उससे उठे मुद्दे, ऐसा लगता है कि इसी बात को सुनिश्चित करते हैं कि संबंध–विच्छेद के अधिकार के रूप में आत्म निर्णय का अधिकार अपने आप में निरंकुश अधिकार नहीं है।[44]

vkRe&fu.k; d nkok d :ik dk lfuf'pr dju e lnHk

उत्तरी अमेरिका के देशी आंदोलन आत्म–निर्णयन को संप्रभुता के समान मानते हैं, उसके लिए वे प्रसंग के रूप में अमेरिका और मूल निवासियों के बीच हुई संधियों के इतिहास को लेते हैं। लातिनी अमेरिका के देशों के देशी आंदोलन इनसे ठीक विपरीत प्रस्ताव करते हैं कि विद्यमान राज्य के भीतर स्व–शासन ही उचित है, जो कि बहु–जातीय और बहु–राष्ट्रीय[45] हो जाएगा।

vkRe&fu.k; ,d ifØ;k d :i e%

तीन राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं से आत्म–निर्णय में बदलाव आता है। अंतर्राष्ट्रीय कानून के अंतर्गत एक अधिकार, 1966 के मानव अधिकारों पर दो प्रतिज्ञापत्रों के लागू होने के साथ ही स्वतः ही प्रक्रिया का परिणाम हो गया। विभिन्न प्रकार की भू–राजनीतिक सवालों और बाधाओं के बाद प्रक्रिया ने विभिन्न रूप भी अख्तियार किये। बहुत से देशों में, बहुत से समूह धार्मिक पहचान से जाने जाते हैं, जो वास्तव में यह महसूस करते हैं कि जब तक उन्हें पूर्ण स्वयत्तता या आजादी नहीं मिल जाती, इनका अपना कोई अस्तित्व नहीं हो सकता। शीत युद्ध के दौरान, संघर्ष के इन स्रोतों को महाशक्तियों या उनके मित्र राष्ट्रों द्वारा प्रबंधित किये जाने की जरूरत थी ताकि वे उन ध्रुवों के बीच शक्ति संतुलन को बिगाड़कर, अपना नेतृत्व न जमा लें।[46]

जब तक सोवियत संघ का विघटन नहीं हो गया, तब तक आत्म–निर्णय के अधिकार को सिर्फ उन्हीं लोगों ने अपनाया था जो उपनिवेशवादी शासन के अधीन थे, उन्होंने अपने भाग्य पर पूरा नियंत्रण पाने और साम्राज्यवादी शासन को राजनीतिकए आर्थिक और अन्य सभी अर्थों में उखाड़ने के लिए इस अधिकार का सहारा लिया। साम्यवादी शक्ति केंद्रों, जातीय दल (राष्ट्रवादी भी) के खत्म होने के साथ ही, राजनीतिक अधिकरों के दावों के साथ आत्म–निर्णय के अधिकार का आह्वान हुआ, जो आंतरिक स्वयात्तता से उठते–उठते संबंध विच्छेद के अधिकार तक फैल गया।[47]

बड़े ही मजे की बात है इस सब परिदृश्य पर एक विचारक कहता है कि आत्म निर्णय के विकास की प्रक्रिया एक ही दिशा में नहीं हुई। संयुक्त राष्ट्र द्वारा विउपनिवेशीकरण के संदर्भ में बनाया गया क्षेत्र आधारित आत्म निर्णय का सिद्धान्त, आत्म निर्णय के जातीय और भाषाई सिद्धांत में बदल गया। इसका स्पष्ट मतलब यह हुआ कि यह 1919 में विल्सन और अन्यों[48] द्वारा वकालत किए गए सिद्धांत का उल्टा है।

vkRe fu.k; d nko dk fldMrk jktuhfrd nk;jk

यदि आत्म निर्णय के दावों का केन्द्र क्षेत्रवाद से जातीयतावाद में बदल गया, तो फिर इसके सामाजिक अर्थ को भी स्पष्ट किया जाना चाहिए। आम तौर पर क्षेत्रीयतावाद राज्य भाव बंधा हुआ हैः जातीयतावाद आगे चलकर मानव भाव से जुड़ जाती है। संयुक्त राष्ट्र के नेतृत्व में विउपनिवेशीकरण पर जोर देने के साथ राज्य आत्म निर्णय वादे का मुख्य

केन्द्र था, लेकिन निजीकरण और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के स्वतंत्र प्रवाह और सूचना तकनीक की क्रान्ति के कारण राज्य जैसी संस्था अब खत्म होने की प्रक्रिया में है। चोटी की पांच बहुराष्ट्रीय कम्पनियों (एमएनसी–मल्टी नेशनल कम्पनीज) का अनुमानित व्यापार 132 राज्यों के व्यापार के बराबर है।[49] अधिक स्पष्ट रूप से कहें कि कमजोर राज्य की विश्व बैंक और आई एम एफ के साथ अपनी आर्थिक और सामाजिक नीतियों के लिए अनुबद्ध बहु राष्ट्रीय कम्पनियों के अधीन रहना पड़ता है। कुछ शक्तिशाली देशों के लिए, भूमंडलीकरण की वैश्विक प्रक्रिया में राज्य की सम्प्रभुता का खत्म होना केवल एक प्रक्रिया नहीं है बल्कि एक प्रोजेक्ट है।[50] इस संदर्भ में इरिदैटिस्ट यह समझने में नाकाम नहीं हो सकते कि नए राज्य की इच्छा उन्हें सुपर राज्य के प्रभुत्व के आगे दयनीय बना देगा। परम्परागत राज्य व्यवस्था के शक्ति अधिकार और राज्य सुरक्षा व्यवस्था का मानवीय सुरक्षा की आवश्यकता का अधिकार में बदलाव एक प्राकृतिक परिणाम है। मूल्यों की जहां तक बात है, मानव सुरक्षा एक ऐसी खुशहाल स्थिति है, जिसमें व्यक्ति और व्यक्तियों के समूह को मानसिक और शारीरिक हानि से सुरक्षा सुनिश्चित करती है और वे किसी भी भय और सांस्कृतिक पहचान से स्वतंत्र हो जाते हैं। विभिन्न स्तरों पर शक्ति संतुलन से उठने वाले संरचनात्मक स्रोतों और गैर राज्य कर्त्ता अथवा राज्य से प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से उनके लिए खतरे भी पैदा होते हें। इस सब परिदृश्य में, आत्म निर्णय के दावों[51] की आवाज उठाने वालों के राजनीतिक कार्यों काए राज्य अकेला लक्ष्य नहीं है। लेकिन वे न तो मानसिक और न ही रणनीतिक स्तर पर गैर राज्य स्रोतों से चुनौती का सामना करने को तैयार है – वे या तो पीछे से या सामने आकर काम करते हैं, लेकिन आत्म निर्णय का दावा करने वालों के लिए कार्यों के लिए राजनीतिक क्षेत्र लगातार सिकुड़ रहा है।

ekuookn h gLr{ki vkj vkRe fu.k; dk vf/kdkj dh fu;fr

संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के सातवें अध्याय के अनुच्छेद 39 में कहा गया है कि सुरक्षा परिषद को अधिकार है कि वह शान्ति के लिए किसी भी खतरे, या शान्ति के खिलाफ कोई भी आक्रमण किये जाने पर सुरक्षा का निर्णय ले सकती है ओर यह भी निश्चय कर सकती है कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बनाए रखने के लिए उचित कदम भी उठा सकती है। इन अनुच्छेदों में यह साफ किया गया है कि सैन्य हस्तक्षेप केवल तभी होना चाहिए जब गैर सैन्य कार्यवाही पर्याप्त रूप से कर ली गई हो। चार्टर का अध्याय आठ अधिकार देता है कि संयुक्त राष्ट्र द्वारा मान्यता प्राप्त क्षेत्रीय एजेंसियां स्थानीय विवादों के शान्तिपूर्व समझौते के लिए हर संभव प्रयास करेंगी। जबकि सुरक्षा परिषद स्थानीय विवादों के शान्तिपूर्ण समाधानों का इन क्षेत्रीय प्रबंधों के द्वारा प्रोत्साहन देगी, जहां कहीं भी उचित और उपयोगी हो, वहां सुरक्षा परिषद अपने प्राधिकार में आने वाले ऐसे क्षेत्रीय प्रबंधों या कार्रवाई के क्रियान्वयन के लिए एजेंसियों का प्रयोग करेगी। लेकिन सुरक्षा परिषद की अनुमति के बिना क्षेत्रीय एजेंसिया या क्षेत्रीय स्तर पर किए गए प्रबंध स्वतः ही कार्रवाई नहीं करेंगे। चार्टर के अध्याय 6 में विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान दिए गए हैं, ऐसे विवाद जो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को नुकसान पहुंचा सकें। (अनुच्छेद 33)। अनुच्छेद 36 में

कहा गया है कि सुरक्षा परिषद उचित प्रक्रिया या तरीके की, किसी भी स्तर पर अनुच्छेद 33 में बताई गई परिस्थिति के अनुसार, अनुशंसा करेगी।[52] अभ्यास में, उचित मानकों में सुरक्षा दल का प्रबंधन भी शामिल है।

यह ध्यान देने योग्य है कि एकपक्षीय मानववादी हस्तक्षेप संयुक्त राष्ट्र के अनुच्छेद 2(4) के विपरीत है। यह इस आधार पर है कि निकरागुआ में अमेरिकी हस्तक्षेप अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय[53] द्वारा असंगत ठहराया गया था। शीत युद्ध के अन्त के बाद तत्कालीन एक ध्रुवीय विश्व व्यवस्था में, महा शक्तियों द्वारा एक पक्षीय हस्तक्षेप, विशेष तौर पर सुरक्षा परिषद के तीन स्थाई सदस्यों– अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस, बढ़ रहा है। कोसावो के मामले में, यहां तक कि अमेरिका समर्थित क्षेत्रीय सैन्य मित्र नाटो ने भी सुरक्षा परिषद की अनुमति के बिना तथाकथित मानववादी हस्तक्षेप किया (रूस और चीन के वीटो के डर से), सर्विया द्वारा अल्बानियों के जातीय गुटों का सफाया करने की प्रार्थना पर। लेकिन दूसरे राज्यों में भी जातीय गुटों का सफाया किया गया, खास तौर पर खांडा और सोमालिया में। लेकिन अनचाहे शान्ति बहाल की कार्रवाईयों के बाद, नरसंहार को भी अनुमति दी गई। लेकिन इसकी आलोचना भी हुई है कि आलोचकों और राजनीतिक नेताओं ने इस सब समस्या को समाधान न करने के योग्य बताया, जब एक बार उन्हें जातीय घोषित कर दिया गया। अमेरिका, जिसके पास इन नरसंहारों को रोकने की क्षमता थी वह भी हस्तक्षेप नहीं कर पाया, क्योंकि उसने इस संघर्ष को आन्तरिक[54], माना और खास बात तो यह है कि उसके अपने राष्ट्रीय हितों पर इससे कोई नुकसान नहीं हुआ था।

जबकि अनधिकृत मानववादी हस्तक्षेप, कानूनी रूप से असंगत है, ऐसे हस्तक्षेप के लिए चुने गए संसाधन अनैतिक हैं।

इस वर्तमान चर्चा में महत्वपूर्ण बात है कि हालांकि ऐसी उम्मीद की जाती है कि अल्पसंख्यक दलों की आजादी के बाद उनके जमीनों पर कब्जा करने के लिए इच्छुक बलों से, हस्तक्षेप, वादी बलों द्वारा सुरक्षा प्रदान की जाएगी ताकि भविष्य में उनके लिए आत्म–निर्णय के सिद्धांत को लागू करके[55] केंद्रीय सरकार के, अत्याचार से बचा जा सके, अंतर्राष्ट्रीय समुदाय के पास उनकी इच्छाओं को पूरा करने की कोई व्यवस्था नहीं है। जैसा कि कोसोवो के मामले में यह साफ है कि न केवल सर्वियों ने, बल्कि अल्बानियों ने भी पीड़ा सही और मानववादी हस्तक्षेप के क्रम में आज भी सह रहे हैं। अगर युगोस्लाविया की स्थिति लड़खड़ा रही है तो कोसोवो में अल्बानियों के आत्म–निर्णय की इच्छाएं भी लड़खड़ाती स्थिति में हैं। ■

(Footnotes)

1 प्रो. बी. के. राय बर्मनए 1–1779 सी आर पार्क, नई दिल्ली– 110019

ईमेल इंडियन सोशल साइंस रिव्यू, वोल्यूम–6, संख्या 2, जुलाई–दिस. 2004

(Endnotes)

2 टी.डी. मुस्ग्रेव द्वारा 'सेल्फ डिटरमिनेशन एंड नेशनल माइनोरिटीज, क्लेयरडन प्रेस, ऑक्सफोर्ड, 1997 में संदर्भित लीग ऑफ नेशंस द्वारा आलांड द्वीप के 1920 में फिनलैंड से संबंध–विच्छेद पर विचार करने के लिए गठित आयोग की रिपोर्ट।

3 वी.एन.एम. त्रिपाठी द्वारा 1990 में, इलाहाबाद लॉ एजेंसी, इलाहाबाद (1999, प.113) में अपने एक फैसले में उद्धृत किया गया।

4 जैक्सन, रॉबर्ट, 1999, सोवरेनटी इन वर्ल्ड पॉलिटिक्स', इन (एड) जैक्सन रॉबर्ट सोवरेनटी एट द मिलेनियम, ब्लैकवेल, यू.एस.ए., उद्धृत द्वारा जसजीत सिंह, चैलेंज ऑफ सोवरेनटी, इंटरनेशनल कान्फ्रेंस ऑन स्टेट सोवरनेटी इन ट्वेंटी फर्स्ट सेंचुरी, इंस्टीच्यूट ऑफ डिफेंस स्टडीज एंड एनालिसिस (आईडीएसए), नई दिल्ली, 23–24 जुलाई, 2001 में आयोजित किया गया।

5 मुस्ग्रेव, सप्रा, पृष्ठ 141 और पृ.165 पर।

6 वही, पृ. 161

7 कॉस्केन्नलामी, मृति, 1996 'सेल्फ डेटरमिनेशन टुडे प्रॉब्लम ऑफ लीगल थियोरी एण्ड प्रैक्टिस' इन (इडी) एच जे. स्टीनर और पी.एलसन, इंटरनेशन ह्यूमैन राइट इन कांटेक्स्ट ऑक्सफोर्ड, क्लेयरडन प्रैस।

8 बर्मन, बी.के. रॉय, 1994, इन्डिजीनस एण्ड ट्राइबल पीपुल्स : गैदरिंग मिस्ट एंड न्यू होरिजन, पृष्ठ 7–5, नई दिल्ली, मित्तल पब्लिकेशन।

9 टाल्सुओ इनेड, 1999 'लिबरल डेमोक्रेसी एंड एशियन ऑरिएंटेशन, पृष्ठ 45, इन (इडी), जे.आर. बाउर एंड डी.ए. बेल – फास्टएशियन चैलेंज फॉर ह्यूमैन राइट्स, यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज।

10 एसुएस, डब्ल्यू.जे. 1994 'सेल्फ डिटरमिनेशन एंड द न्यू पार्टनरशिप, पृष्ठ 83 आई डब्ल्यू जी आई ए. और यूनिवर्सिटी ऑफ कॉपेनहेगन, डॉक्यूमेंट 76, पृष्ठ 83।

11 लास्की, हेराल्ड, 1960, 'ए ग्रामर ऑफ पॉलिटिक्स, जॉर्ज एलन एंड अनविन, लंदन।

12 क्रॉफोर्ड, जेम्स, 1998, द राइट्स ऑफ पीपुल्स, पृ. 127, ऑक्सफोर्ड, क्लेयरडन प्रेस।

13 'इंटरनेशनल ह्यूमैन राइट्स इन कॉन्टेक्स्ट (इडी) स्टीनर एंड एल्सटन, 1996, ऑक्सफोर्ड, क्लेयरडन प्रेस।

14 मुस्ग्रेव टी.डी., 1997, सेल्फ डिटरमिनेशन एंड नेशनल माइनोरिटीज, ऑक्सफोर्ड, क्लेयरडन प्रेस, पृष्ठ 15।

15 वही, पृष्ठ .16

16 वही, पृष्ठ .18

17 वही, पृष्ठ .23

18 इंटरनेशनल ह्यूमैन राइट्स इन कॉन्टेक्स्ट (इडी) स्टीनर एंड एल्सटन, 1996, ऑक्सफोर्ड, क्लेयरडन, प्रेस।

19 मुस्ग्रेव टी.डी. 1997, सेल्फ डिटरमिनेशन एंड नेशनल माइनोरिटीज, ऑक्सफोर्ड, क्लेयरडन प्रेस।

20 वही, पृष्ठ .34

21 वही, पृष्ठ .66

22 वही, पृष्ठ .64

23 वही, पृष्ठ .67

24 वही, पृष्ठ .68

25 वही, पृष्ठ .68

26 इंटरनेशनल ह्यूमैन राइट्स इन कॉन्टेक्स्ट (इडी) स्टीनर एंड एल्सटन, 1996, ऑक्सफोर्ड, क्लेयरडन, प्रेस।

27 वही, पृष्ठ – 974–5

28 वही, पृष्ठ – 975

29 वही, पृष्ठ – 976

30 वही, पृष्ठ – 976

31 'सेल्फ डिटरमिनेशन, ए पेरेनियल एंड प्रीपेरेटरी नोर्म ऑफ इंटरनेशनल लॉ', 1991, साउथ एशिया पब्लिशर्स लिमिटेड में ए. आर ताजपुर द्वारा उद्धृत।

32 प्रणव मुखर्जी, 18 अक्तूबर, 1995, द हिंदुस्तान टाइम्स प्रेस कॉन्फ्रेन्स।

33 हन्थुन हर्स्ट सप्रा, पृष्ठ 977

34 द थियोरी एंड प्रैक्टिस ऑफ ह्यूमैन राइट्स, लंदन, मौरिस टेम्पल स्मिथ, 1985, एल. बी. मैक्फारलेन द्वारा उद्धृत।

35 हन्नुन हर्स्ट, सप्रा, पृष्ठ 977

36 एस्पील ग्रॉस, 1980, 'द राइट टू सेल्फ डिटरमिनेशन इंप्लीमेंटन ऑफ यूनाइटेड नेशंस रेजोल्यूशन', 1998 में नाथिन गर्थ द्वारा उद्धृत : पीपुल्स एंड पोपुलेशन (इडी) जेम्स क्राफोर्थ सप्रा, पृष्ठ 12

37 एम.सी. लैम, 1990 द्वारा उद्धत, 'इन्डिजीनस हवाइअन ऑपशन फॉर सेल्फ–डिटरमिनेशन अंडर यू एस एंड इंटरनेशनल लॉ, प्रोसीडिंग ऑफ 5 6ठा इंटरनेशनल सिम्पोजियम, कमीशन फॉल्क लॉ एंड लीगल प्लूरलिज्म, वोल्यू.1, 14–18, ओटावा, कैन्डेला।

38 बर्मन, बी.के. रॉय, 1995, इन्डिजीनस एण्ड ट्राइबल पीपुल्स एंड द यू.एन. एंड इंटरनेशनल एजेंसीज, नई दिल्ली, राजीव गांधी इंस्टीच्यूट ऑफ कन्टेम्पोरेरी स्टडीज।

39 ब्रिच, एन्टनी, 1989, नेशनलिज्म एंड नेशनल इंटीग्रेशन, लंदन, अनविन हाइमन, आर वसुम द्वारा उद्धृत, 2001 इंडो – नागा कांफ्लिक्टः नई दिल्ली, इंडियन सोशल इंस्टीट्यूट।

40 सुजुकी, 1996, आर वासुम, सप्रा, पृ.816 द्वारा उद्धृत।

41 मुस्ग्रेव सप्रा, पृ.73

42 एसुएस, सप्रा।

43 बर्मन, बी.के. रॉय, 1998, यू.एन डेक्लरेशन एंड सेफ गार्डस् फॉर प्रोटेक्शन ऑफ राइट्स ऑफ ट्राइबल एंड इंडीजीनस पीपुल्स, इन (इडी) बी.के. बर्मन और बी.जी. बर्धीज, एडपाइरिंग टू वी कॉमनवेल्थ ह्यूमैन राइट्स इनिशिएटिव, कोर्णाक पब्लिशर्स प्रा.लि.।

44 हन्नुन, सप्रा, पृ.977

45 एसुएस, सप्रा, पृ.77

46 कोबोयाशी, सोनजी, 2001, "स्टेट सोवरेनटी, 21 सेंचुरी", इंटरनेशनल कान्फ्रेंस ऑन स्टेट सोवरनेटी इन द 21 सेंचुरी, बाई आईसीडब्ल्यूए और आईडीएसए, नई दिल्ली, 23–24 जुलाई, 2001

47 'इंटरनेशनल ह्यूमैन राइट्स इन कॉन्टेक्स्ट (इडी) स्टीनर एंड एल्सटन, 1996, ऑक्सफोर्ड, क्लेयरडन प्रेस।

48 हन्नुन, सप्रा., पृष्ठ– 977

49 पास्कल बोनिफेस, 2001, इन सोवरेनटी स्टिल ए वैलिड कंसेप्ट, आईसीडब्ल्यूए और आईडीएसए, सप्रा।

50 गर्बा, जे.एन. 2001, कंसेप्ट ऑफ सोवरेनटी, आईसीडब्ल्यूए और आईडीएसए, सप्रा।

51 दासगुप्ता, सुमाना और गोपीनाथ, मीनाक्षी, 2001, फ्रॉम कन्फ्लिक्ट टू रोडलैस, ट्रैवल, आईसीडब्ल्यूए और आईडीएसए, सप्रा।

52 नायडू, एम.बी., 2001 स्टेट सोवरेनटी, आईसीडब्ल्यूए और आईडीएसए, सप्रा।

53 अवाड, सोलीमन, 2001, सोवरेनटी एंड लीगल आस्पेक्ट, आईसीडब्ल्यूए और आईडीएसए, सप्रा।

54 मिल्स, ग्रेग, 2001, ब्रेकिंग द लॉजिक ऑफ अफ्रीकन कांफ्लिक्ट, आईसीडब्ल्यूए और आईडीएसए,सप्रा।

55 कोबोयाशी, सोनजी, सप्रा, पृष्ठ – 46

lfo/kku dh NBoh vuqlwph

lo/kkfud iko/kku

lfo/kku का अनुच्छेद 244 (2) छठवीं अनुसूची की व्यवस्था करता है जो असम, मेघालय, त्रिपुरा और मणिपुर राज्यों के जनजातीय क्षेत्रों के प्रशासन के प्रबंध पर लागू होगा।

संविधान का अनुच्छेद 275(1) भी छठवीं अनुसूची को आनुषांगिक संदर्भ देता है। अनुसूची का बीसवां पैरा छठवीं अनुसूची के अन्तर्गत आने वाले जनजातीय क्षेत्रों को तीन भागों में प्रस्तुत करता है। ये निम्नलिखित हैं–

अपने प्रथम गठन के पश्चात् जिला परिषदें या क्षेत्रीय परिषदें राज्यपाल की संस्तुति के बाद निम्न मामलों के संचालन के संदर्भ में नियम बना सकती हैं – (अ) अधीनस्थ स्थानीय परिषदों अथवा बोर्डों के गठन और उनकी प्रक्रिया तथा उनके क्रियाकलापों के संचालन में (ब) सामान्यतः जरूरत के हिसाब से जिला अथवा क्षेत्र के प्रशासन से होने वाले सभी प्रकार के कार्य व्यापार के मामलों में।

क्षेत्रीय परिषद् तथा जिला परिषद् के पास अपने–अपने न्यायाधिकार क्षेत्र में शक्तियाँ होंगी कि वे निम्न के नियमन के लिए कानून बना सकें– (अ) किसी भी ऐसी भूमि, जो कृषि या रिहायशी अथवा गैर कृषि कार्यों के हेतु आरक्षित वनक्षेत्र हो अथवा किसी गाँव या कस्बे के निवासियों के हितों को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से किया गया हो, इसके अलावा किसी भूमि के आवंटन, व्यवसाय या इस्तेमाल अथवा पृथक करने के संदर्भ में, यह भी उपबंध है कि इस कानून का कोई भी प्रावधान अधिकृत या अनधिकृत भूमि के अनिवार्य अधिग्रहण के संबंध में उस समय सार्वजनिक उद्देश्य हेतु राज्य सरकार द्वारा बनाये गए किसी भी कानून को बाधित नहीं करेगी। (ब) गैर–आरक्षित वनों के संदर्भ में, (स) कृषि कार्य के उद्देश्य हेतु किसी नहर या जल स्रोत के प्रयोग में, (द) कृषि कार्य में परिवर्तन के स्वरूपों के निर्धारण में, (प) परिषदों के ग्रामीण या कस्बाई समितियों की स्थापना तथा उनके शक्तियों के संदर्भ में, (फ) गाँव या कस्बा के प्रशासन से संबंधित किसी दूसरे मामलों में, जिनमें गाँव या कस्बे की पुलिस और सार्वजनिक स्वास्थ्य तथा स्वच्छता प्रबंध शामिल है, (ब) मुखिया या प्रमुख की नियुक्ति में, (भ) संपत्ति के उत्तराधिकार के मामले में, (म) विवाह एवं तलाक तथा (प) सामाजिक रीति रिवाज के संदर्भ में।

इस परिच्छेद के संदर्भ में बनाए गए सभी कानून पहले राज्यपाल के सामने लाए जाएँगे और जब तक वह अनुमति नहीं दें यह प्रभावी नहीं होंगे। इस परिच्छेद में उल्लिखित 'आरक्षित वन' से तात्पर्य ऐसे क्षेत्र से है जो असम वन अधिनियम 1891 अथवा उस समय प्रभावी किसी अन्य कानून के अन्तर्गत आरक्षित वन हों।

स्वशासी जिलों और क्षेत्रों में न्याय के शासन के मामले में क्षेत्रीय परिषद तथा जिला परिषद, अनुसूचित जनजाति के समुदायों के बीच के विवादों एवं मुकदमों (अनुसूची में उल्लिखित कुछ निश्चित श्रेणी के मामलों को छोड़कर) की सुनवाई के लिए अपने न्यायाधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत ग्रामीण परिषद् अथवा न्यायालय क्षेत्रीय परिषद् और जिला परिषद्, ग्रामीण परिषद या न्यायालय द्वारा सभी वादों एवं मुकदमों के फैसले पर अपीली अधिकार की शक्ति रखता है। उच्च न्यायालय समय–समय पर राज्यपाल द्वारा विशेषीकृत वादों एवं मुकदमों पर अपने न्यायिक अधिकार का प्रयोग कर सकेगा।

पाँचवा पैरा, क्षेत्रीय परिषद् और जिला परिषद् तथा वादों, मुकदमों एवं अभियोगों की सुनवाई वाले सभी न्यायालयों तथा अधिकारियों पर नागरिक आचार संहिता 1908, आपराधिक आचार संहिता 1898 की बाध्यता लगाता है।

राज्यपाल की पूर्वानुमति से किसी स्वायत्त जिले का जिला परिषद् जिले में प्राथमिक पाठशालाओं, औषधालयों, बाजारों, पशु–तालाबों, घाटों, मात्सयिकी, सड़कों तथा जलमार्गों की स्थापना, निर्माण या प्रबन्धन की व्यवस्था कर सकता है। इनके नियमन एवं नियंत्रण की व्यवस्था और विशेष रूप से जिले के प्राथमिक विद्यालयों में प्राथमिक शिक्षा प्रदान करने की पद्धति और माध्यम–भाषा का निर्धारण कर सकता है। इसके अतिरिक्त राज्यपाल चाहे तो सशर्त या बिना शर्त किसी भी जिला परिषद् की सहमति से कुछ मामलों में उस परिषद् या उसके अधिकारियों को नियम बनाने की संस्तुति दे सकता है। वे मामले हैं– कृषि, पशुपालन, सामुदायिक परियोजना, सहकारी समाज, सामाजिक कल्याण, ग्रामीण योजना अथवा उन सभी मामलों को जिन पर राज्य की कार्यकारी शक्ति विस्तारित होती है।

पैरा 7 प्रत्येक स्वशासी जिले के लिए एक जिला निधि तथा प्रत्येक स्वशासी क्षेत्र के लिए क्षेत्रीय निधि की स्थापना का उपबंध करता है जो संबंधित परिषदों द्वारा प्राप्त किए गए धन का आकलन करता है।

राज्यपाल इन निधियों के प्रबंधन की एवं परिषद् निधि में भुगतान की तथा वहाँ से धन की निकासी की या वहाँ धन की सुरक्षा अथवा ऊपर कहे गए मामलों से संबद्ध किसी भी मामले के संबंध में अपनाई गई प्रक्रिया से संबंधित नियम बना सकता है। जिला परिषद् एवं क्षेत्रीय परिषद् का लेखा उन्हीं प्रावधानों पर रखे जाएँगे जिन पर राष्ट्रपति की अनुमति से भारत का नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक रखता है। नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक के रिपोर्ट को राज्यपाल को सौंपा जाएगा जो उनको परिषदों के सम्मुख रखावायेगा।

पैरा 8, सामान्यतः राज्य में भूमि राजस्व के मूल्याँकन हेतु राज्य सरकार द्वारा उस अवधि के लिए बनाये गये नियमों के अनुसार क्षेत्रीय परिषदों एवं जिला परिषदों को राजस्व के मूल्याँकन एवं संग्रह के लिए शक्ति प्रदान करता है। इन परिषदों के पास अपने संबंधित अधिकार क्षेत्र में आने वाले व्यक्तियों पर कराधान और भूमिकर तथा इमारतों एवं चुंगी वसूलने का अधिकार है। इसके अतिरिक्त जिला परिषद् को निम्न में से सभी या

किसी पर कर लगाने और वसूलने की शक्ति है– (अ) व्यवसाय, वाणिज्य, व्यापार और रोजगार संबंधी कर (ब) जानवरों, वाहनों एवं नौकायान पर कर (स) विक्रय हेतु बाजार में सामानों के प्रवेश पर कर एवं व्यवसाय के लिए जाने वाले यात्रियों एवं माल पर चुंगी (द) विद्यालयों, चिकित्सालयों अथवा सड़कों की मरम्मत के लिए कर।

संबंधित परिषद् बताये गए किसी भी कर के संग्रह के संबंध में नियम बना सकती है तथा प्रत्येक नियम राज्यपाल के सामने रखी जायेगी और बिना उनके संस्तुति के प्रभावी नहीं होगी।

पैरा–9 (1) खादान ढूँढने या खनिज निकालने हेतु प्रतिवर्ष अनुज्ञा पत्र या ठेके पर देने से प्राप्त अधिकार शुल्क के निकासी पर राज्य सरकार की सहमति से भागीदारी प्रदान करता है। किसी स्वशासी परिषद् के अन्तर्गत इस प्रकार के क्षेत्र पर राज्य सरकार एवं जिला परिषद् के बीच राज्य सरकार की सहमति ही मान्य होगी। (2) यदि अधिकार शुल्क के बँटवारे से संबंधित कोई विवाद खड़ा होता है तो इसका विनिश्चय राज्यपाल द्वारा होगा तथा राज्यपाल उपपरिच्छेद 1 के अनुसार जिला परिषद् का देय रकम निर्धारित करेगा और इस प्रकार राज्यपाल का फैसला अन्तिम होगा।

त्रिपुरा और मिजोरम राज्यों के प्रार्थना पत्र पर पैरा 9 का संशोधन 1988 में हुआ जिसमें उपपैरा (3) भी शामिल है। राज्यपाल आदेश द्वारा इस पैरा के अन्तर्गत जिला परिषद् के अधिकार शुल्क के हिस्से को समझौते की तारीख से एक वर्ष के अन्दर जारी करने को कह सकता है जो उप पैरा (1) अथवा किसी मामले में उपपैरा (2) के अन्तर्गत किसी विनिश्चयानुसार हो।

पैरा 19 (d) यह प्रावधान कहता है कि कोई भी व्यक्ति जो जिले के अनुसूचित जनजाति का सदस्य नहीं है जिला परिषद् की ओर से जारी किए गए अनुज्ञापत्र के मामले को छोड़कर, जिले में थोक या फुटकर व्यापार नहीं कर सकेगा।

उपबंध यह भी कहता है कि ऐसे विनियम के बनने से पूर्व किसी साहूकार या व्यापारी के चलने वाले व्यापार के अनुज्ञापत्र को बाद में बने किसी नियम के तहत निरस्त नहीं कर सकता।

इस पैरा में किये गए सभी प्रावधान राज्यपाल के समक्ष रखे जाएँगे और उनकी अनुमति के बगैर प्रभावी नहीं होंगे।

सन् 1988 में पैरा 19 (d) में किए गए संशोधन के अनुसार त्रिपुरा और मिजोरम के स्वशासी जिला परिषदें यह प्रावधान करती हैं कि जिला परिषद् द्वारा जारी किये गए अनुज्ञापत्रधारी के अलावा कोई भी जिले का अनिवासी किसी भी प्रकार का व्यापार चाहे वह थोक हो या फुटकर नहीं कर सकता है।

जबकि असम में राज्यपाल सार्वजनिक उद्घोषणा द्वारा निर्देश दे सकता है कि पूर्व बताये गए किसी मामले के संदर्भ में संसद अथवा विधानसभा द्वारा बनाया गया कोई कानून

स्वायत्तशासी क्षेत्र या जिला या उसके किसी भाग में लागू नहीं होगा। मेघालय, मिजोरम और त्रिपुरा के मामले में प्रावधान भिन्न हैं।

मेघालय में पैरा 12A (a) यह अनुबंध करता है कि गैर जनजातीय समुदाय द्वारा सूदखोरी और व्यापार करने या उनसे भूमि राजस्व वसूल करने या उसका मूल्याँकन करने की जिला या क्षेत्रीय परिषद् की शक्ति यदि इस संबंध में मेघालय विधानसभा द्वारा बनाये गए किसी कानून से असंगत होती है तो जिला या क्षेत्रीय परिषद् द्वारा बनाया गया कानून असंगत की मात्रा तक शून्य होगी तथा मेघालय विधानसभा द्वारा बनाया गया कानून अभिभावी होगा। पैरा 12A (b) आगे यह उपबंध करता है कि राष्ट्रपति (असम में राज्यपाल के बजाय) संसद के किसी अधिनियम के अनुसार उद्घोषणा द्वारा यह निर्देश दे सकता है कि यह मेघालय के स्वायत्तशासी जिले या क्षेत्र पर लागू नहीं होगा।

पैरा 12A (b) यह अनुबंध करता है कि राज्यपाल सार्वजनिक उद्घोषणा द्वारा यह उद्घोषणा कर सकता है कि त्रिपुरा विधानसभा का कोई अधिनियम स्वायत्तशासी जिले या क्षेत्र पर लागू नहीं होगा। पैरा 12 B मिजोरम राज्य के लिए इसी तरह का प्रावधान करता है। इसके अतिरिक्त पैरा 12 B (B) विशेष रूप से छठवीं अनुसूची प्रकार्यों के उन्मोचन में राज्यपाल को विवेकाधीन – शक्तियाँ प्रदान करता है। मंत्रिपरिषद् से सलाह के बाद यदि वह आवश्यक समझता है तो अपने विवेक के अनुसार जिला–परिषद् या क्षेत्रीय–परिषद् से संबंधित ऐसे फैसले ले सकता है।

NBoh vu|lph dk ,frgkfld lnHk e vk'k;

छठवीं अनुसूची का पुनर्स्थापन दो संदर्भों में देखा जाता है– ऐतिहासिक–पारिस्थितिकी एवं भू–राजनैतिकी।

,frgkfld&ikfjfLFkfrdh; lnHk

जबकि अधिकांश भारत सामान्यतः द्वन्द्वात्मक रूप से जाति प्रथा से संबंधित सामाजिक मूल्यों को चाहे सकारात्मक रूप से या नाकारात्मक रूप से बाँटता है वहीं उत्तर पूर्वी भारत के अधिकतर हिस्से में जाति प्रथागत मूल्य इस तरह से नहीं बेधते हैं। पुनः जिस प्रकार शेष भारत इतिहास के किसी ना किसी चक्र में एक श्रृंखला की कड़ियों के रूप में सांस्कृतिक एवं राजनीतिक रूप से आपस में जुड़ते हैं। इनकी तुलना में उत्तरपूर्व का शेष देश से सीमित दायरे में समानताएँ सिमटी हुई हैं और इसके साथ ही इस क्षेत्र की सामाजिक संरचना का अधिकतर सूत्र इसके संलग्न दक्षिण–पूर्व तथा मध्य एशिया से जुड़ते हैं। मुख्यतः औपनिवेशिक राजनैतिक नियंत्रण के कारण ही यह संभव हुआ कि बिना अधिक सामाजिक और सांस्कृतिक तालमेल के भी शेष देश से जुड़ाव हो गया। यहाँ तक कि औपनिवेशिक राजनैतिक नियंत्रण भी अस्थिर ही रहा, जिसका यह साक्ष्य है कि पहाड़ी लोगों ने विरोध का स्वर उठाये रखा और समूचे 19वीं शताब्दी तथा 20वीं शताब्दी के प्रथम तीन दशक तक ब्रिटिश सेना उन पर दण्डस्वरूप जुल्म ढाती रही।

Hk&jktufrd lnHk

उत्तर–पूर्वी भारत की भू राजनैतिक महत्ता इसके दक्षिण, दक्षिण पूर्व और मध्य एशिया के बीच के संगम के रूप में अवस्थिति के कारण है। औपनिवेशिक काल के दौरान साम्राज्य का समूचा रणनीतिक हित वाणिज्यिक हित के कारण था। सत्ता के हस्तांतरण के अवसर पर संसाधन से समृद्ध उत्तर पूर्वी भारत इस भू–भाग का वाणिज्यिक हित और इसके संलग्न क्षेत्र पर्याप्त सक्षम कहे गये तथा साम्राज्य के समारिक हित वैश्विक पूँजीवादी तंत्र के सामरिक हित के रूप में उभरा। इस संदर्भ में रीड, एन्ड्रयू क्ला जैसे औपनिवेशिक प्रशासक तथा कूपलैण्ड जैसे औपनिवेशिक विद्वानों ने इस भूखण्ड को भारत से अलग करके ताज का उपनिवेश या इसी तरह की राजनैतिक संरचना खड़ा करने की वकालत की। यह और इसके साथ ही पहले बताए गए ऐतिहासिक पारिस्थितिकीय इस कल्पना को पकड़ते है जिसे क्षेत्र के नस्लीय समुदाय के अभिजन गढ़ते हैं। कुछ प्रकार की स्वायत्तता देने के कारण ही संविधान में छठवीं अनुसूची ने स्वरूप ग्रहण किया।

lemk; rFkk jkT; lc/k ,o NBoh vulph

भारत के संविधान में छठवीं अनुसूची के समावेशन के ऐतिहासिक संदर्भ से एक सवाल उठता है कि क्या इस अनुसूची के अन्तर्गत बनाए गए स्वायत्त परिषदें और अन्य संस्थाएँ संबंधित समुदायों से प्राथमिक रूप से नैतिक एकता प्रस्तुत करती है एक तरफ उनके नैतिक सत्त्व से घोषणा किए बगैर राज्य के आलोचना साधन को मुखर करती है। दूसरी तरफ राज्य की प्रक्रिया को जोखिम में डाले बगैर अथवा क्या छठीं अनुसूची से संबंधित संस्थाएँ राज्य की केवल अधीनस्थ अंगिकाएँ हैं। कोई भी इस सवाल का जवाब अनुभव के स्तर पर साथ ही साथ अवधारणात्मक स्तर भी चाहता है।

अनुभवात्मक स्तर पर, उत्तर पूर्वी सीमान्त (असम) में संवैधानिक सभा की जनजाति एवं वर्जित क्षेत्र उपसमिति (बारदोली समिति) के प्रतिवेदन के परीक्षण में यह तथ्य सामने आता है कि सामुदायिक प्रक्रिया और राज्य प्रक्रिया दोनों की सत्ता अपने–अपने क्षेत्रों में बिना किसी टकराव के अलग –अलग होती हैं। फिर भी लम्बे अन्तराल के बाद इस पर दोतरफा प्रतिपुष्टि का सामना करना पड़ता है। लेकिन बाहरी तौर पर छठीं अनुसूची के वास्तविक प्रावधान बने रहते प्रतीत होते हैं किन्तु मूल भावना का अभाव दिखता है। सामुदायिक प्रक्रिया आकार लेते तो दिखती है किन्तु छठीं अनुसूची के अन्तर्गत बने संस्थाओं पर राज्य नियंत्रण का प्रभाव होता है। इस दौरान वे अपनी वैधता मुख्यतः राज्य प्रक्रिया से प्राप्त करने का प्रयास करते हैं ना कि सामुदायिक प्रक्रिया से।

समुदाय का क्षरण तथा तदनन्तर स्वायत्तता की क्षरण राज्य की अवधारणा, विचारधारा एवं प्रकार्यों में गुंफित है। गाँधीजी ने एक संस्था के रूप में राज्य की बहुलवादी दृष्टिकोण की वकालत की थी। जिसमें एक नैतिक सत्ता के रूप में समुदाय स्वयं में परिपूर्ण होकर वैश्विक समुदाय की चरम परिणति में पहुँचने का प्रयास करेगी। दूसरे शब्दों में वे चाहते थे कि संपूर्ण मानव समुदाय नैतिक अनुराग द्वारा साथ बँध जाय।

उनकी अवधारणानुसार राज्य न्यूनतम बाध्यकारी शक्ति वाला एक संयोजक एजेन्सी हो। वस्तुतः वह राज्य को एक बुराई की संस्था मानते थे। हालाँकि जिसको पूरी तरह नकारा नहीं जा सकता है। दूसरी तरफ पश्चिमी उदारवाद विशेषकर इसका उपयोगितावादी संस्करण भारतीय संविधान को राज्य के चरित्र के आधार पर मूल रूप से ऐकिक मानते हैं यद्यपि संघवाद की इसकी औपचारिक संरचना को लक्षित किया जा सकता है और परिधीय मामलों को देखने के सामरिक आवश्यकता के कारण इसे विकेन्द्रीकृत भी घोषित करते हैं।

स्वप्रबंधन की माँग को पूरा करने के लिए छठीं अनुसूची में अपर्याप्त रूप से समुदायों से सरोकार रखने वाले दो मामलों और राज्य से माँगों के जवाब में अन्य दो प्रकारों का वर्णन है। एक तरह का जवाब तो भारत की राजनीति में वैकल्पिक राजनैतिक प्रशासनिक व्यवस्था की बात है। स्वशाासी राज्य बनाने का जनजाति बहुल राज्य, असम में बोडोलैण्ड, पश्चिम बंगाल में गोरखालैण्ड, सिक्किम के विधानसभा में धार्मिक सामुदायिक संस्थाओं के प्रतिनिधित्व का विशेष प्रावधान के बारे में प्रयोग करने की बात। किन्तु पश्चिम के राजनैतिक दर्शन और स्थानीय ज्ञान मीमांसा को राजनीति से स्वतंत्र करने की अपेक्षा ऐसी माँगें अपने ही समुदायों को और अधिक उलझा देती हैं।

एक दूसरे तरह की प्रतिक्रिया लामबंदी के रूप में होती है जो शीघ्र ही भारत की नीति से अलगाव के लिए हिंसक हो जाती है। आत्म नियंत्रण की अवधारणा जिसमें अलगाव का अधिकार भी शामिल है, इस तरह के कार्यों को वैचारिक उद्वेलन प्रदान करता है। इसके लिए 1948 में संयुक्त राष्ट्र के तत्त्वाधान में मानवधिकारों का सार्वभौमिक घोषणापत्र प्रायः सचेत करता है। किन्तु ऐसे प्रतिक्रिया इस तथ्य को अनदेखा करते हैं कि सार्वभौमिक पारस्थितिकी सरोकारों के संदर्भ में, अधिकांश मामलों में राज्य शक्ति को उन्मूलित करने में बहुराष्ट्रीय एकाधिकार तंत्र के उभार में, तथा भूतपूर्व औपनिवेशिक शक्तियों के प्रमुख उत्पादक संघ की स्थापना में, स्वयं के राजनीतिक प्रकार्य की स्वतंत्र संरचना बनाने के अर्थ में आत्मनिर्णयन की अवधारणा अपनी बहुत हद तक प्रासंगिकता खो चुकी है। इसके अलावा इसे सामुदायिक शक्ति से राज्य शक्ति की तुलना के दृष्टिकोण में उसी तरह की अपूर्णता का सामना करना पड़ता है जैसा पहले प्रकार की अनुक्रिया वाले मामले में।

राज्य की अनुक्रिया भी समान रूप से अपूर्ण और/अथवा त्रुटिपूर्ण होती है। प्रायः प्रतिक्रिया की तरह जैसे ही समुदाय राज्य से असंतुष्ट होकर सड़क पर आती है राज्य की पहली अनुक्रिया बलमूलक प्रकार्यों के प्रयोग की होती है। जब राज्य को किसी समझौते को स्वीकार करने के लिए बाध्य किया जाता है तो वह बिना सहानुभूति के उसे आधे–अधूरे हृदय से स्वीकार करती है जैसा कि नागालैण्ड (कानून और व्यवस्था से संबंधित मामले में राज्यपाल को विशेष शक्ति देकर) के मामले में हुआ है।

वैधानिक ज्ञान मीमांसा में क्रमबद्ध परिवर्तन किये बगैर संस्थानिक व्यवस्था और प्रशासनिक एवं विकासात्मक रणनीति समग्रता में मुश्किल से ही ग्रहण की जायेगी।

NBh vuqlph e] iko/kku d vuqlkj jkT;iky d fun'kkRed fl)kr ,o 'kfDr d ckj e fookn

जब बारदोली समिति के प्रतिवेदन पर संविधान सभा में बहस हुई तो तीन दृष्टिकोण बिन्दु अभिव्यक्त हुए–

(अ) असम के राजनीतिक व्यवस्था में पूर्ण आत्मीकरण

(ब) प्रादेशिक सरकार या राज्यपाल का छठीं अनुसूची से कोई लेना–देना नहीं होगा। यह केन्द्रीय प्रशासन के तत्त्वाधान में होगी।

(स) अ और ब का सम्मिश्रण हो तथा संविधान में दर्ज मामलों में जनजातियों को स्वायत्तता का अधिकार हो।

इस तीसरे प्रस्ताव को स्वीकार किया गया। लेकिन कई मामलों में इसका परिणाम अस्पष्टता एवं संदिग्धता ही रहा। उनमें से एक उस अनुसूची के मुख्य उपबंध से संबंधित है जो दूसरे उपबंधों की व्याख्या में निर्देशन का काम करेगा। दूसरा राज्यपाल की शक्ति के स्वरूप से संबंधित है। सर्वोच्च न्यायालय में चले बारेह बनाम असम राज्य (ए.आई.आर. 1966 सर्वोच्च न्यायालय 1220) के मामले में अन्य साथी न्यायाधीशों से भिन्न मत रखते हुए न्यायाधीश हिदायतुल्ला विचार रखते हैं कि स्वायत्तशासी शब्द का तात्पर्य स्व–शासन के अधिकार रखने से है जैसा कि अनुसूची की प्रावधानों का मुख्य बिन्दु है। इस स्थिति के परिणामी क्रियात्मक पेंचों को बताना यहाँ आवश्यक नहीं है। किन्तु यह ध्यान देने की बात है कि उत्तरपूर्वी क्षेत्र (पुनर्गठन) अधिनियम 1971 एक ऐसी स्थिति का संकेत करता है जो न्यायाधीश हिदायतुल्ला के विचारों को खारिज करता है। स्पष्ट रूप से यह उस समाज के नेतृत्व द्वारा लिया गया राजनीतिक फैसला था जब भारत के स्वतंत्रता संघर्ष की मूल प्रकृति काफी कुछ नष्ट कर दी गई थी।

हालाँकि अधिनियम 1971 ने छठीं अनुसूचित क्षेत्र में राज्यपाल की शक्ति के प्रकृति के विवादों को विराम नहीं दिया गया। 19 नवंबर 1978 में गुहावटी के अपने तृतीय अन्दाराम बरूआ विधि व्याख्यान में न्यायाधीश हिदायतुल्ला पुनिरीक्षण करते हैं– "मंत्रि परिषद् से सलाह लेना राज्यपाल के लिए अनिवार्य नहीं है। वह ऐसा कर सकता है किन्तु वह ऐसा करने के लिए बाध्य नहीं है और ना ही वह उनकी सलाह स्वीकार करने के लिए बाध्य है। इस समूचे क्षेत्र क इतिहास तथा शेष संविधान से स्वतंत्र संविधान के रूप में छठीं अनुसूची के गठन का विचार स्पष्ट रूप से इसको स्थापित करता है। इस अवसर पर न्यायाधीश हिदायतुल्ला का निरीक्षण एक न्यायिक उद्घोषणा नहीं था बल्कि यह क्षेत्र में सामाजिक संबंधों के इतिहास की तरफ ध्यान खींचकर एक श्रेष्ठ व्यक्तित्व द्वारा भारतीय नीति की न्यायिक व्याख्या थी। एक वैधानिक बहस में भाग लेते हुए एवं इसको आधार बनाते हुए न्यायाधीश हंसारिया, न्यायाधीश हिदायतुल्ला से अपनी पूर्ण असहमति व्यक्त करते हैं। संविधान (संशोधन) अधिनियम 1988 द्वारा छठीं अनुसूची के पैरा–9 में 'उनके

विवेकानुसार’ शब्दों के शामिल होने से न्यायाधीश हंसारिया का कद बढ़ा प्रतीत होता है। जिसमें यह भी प्रावधान है कि उन दूसरे परिच्छेदों के व्यवहार्य में जहाँ ये शब्द लागू नहीं होते राज्यपाल मंत्रालय के निर्देशों का ही पालन करेगा।

जबकि वैधानिक स्थिति अब बिल्कुल स्पष्ट हो चुकी है, उभरते हुए विश्व अनुक्रम में इस परिक्षण का यह सर्वोच्च समय है कि क्या यह सर्वाधिक न्याय संगत है।

वास्तव में उत्तरपूर्वी भारत के बाहर भी देश के बहुत सारे जनजातीय इलाकों में स्वप्रबंधन और विनियम बनाने का अधिकार तथा संसाधनों के नियंत्रण एवं प्रबंधन का प्रश्न इन वर्षों में राजनीतिक मुद्दों में सर्वाधिक महत्त्व के हो गए हैं। ये नये विकास निम्न के परिणामस्वरूप हैं– (अ) उत्तर–औपनिवेशिक काल में नस्लीय–ऐतिहासिक शोध (ब) सम्पूर्ण संसार में औपनिवेशिक न्यायशास्त्र का सुधार एवं कई देशों में आरंभिक न्यायिक सम्बोधनों का निरसन। (स) जनजातीय जनता के मध्य शिक्षित अभिजात्य वर्ग का उदय होना तथा उसमें भी दो परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों का उभरना। पहला, नव–औपनिवेशिक और आन्तरिक औपनिवेशिक बलों के लिए स्थानीय विक्रयभिकर्त्ता की भूमिका निभाता है। दूसरा, स्थानीय जरूरतों को पूरा करने हेतु प्राथमिक निवेश के लिए अधिशेष के संग्रहण में सक्रिय अभिकर्ता की भूमिका निभाता है। (द) वैश्विक दूरसंचार के जाल के विस्तार से पुनः दो तरह के विचार आते हैं– पहला नव औपनिवेशिक ताकतों के प्रभुत्व नियंत्रण को बढ़ाता है और बल प्रदान करता है। दूसरा, स्वातंत्र्यवादी ताकतों को एकीकृत भवन निर्माण में सहायता करता है ना केवल सांस्थानिक व्यवस्था के द्वारा अपितु मानवीय आवश्यकता के भौतिकता और आध्यात्मिकता के आधारभूत सोचों पर सवाल के द्वारा भी। वह नैतिक मुद्दों के बारे में प्रगति एवं विकास के मानदण्डों के बारे में भी सोचता है।

NBoh vu|l|ph vk|j l|fo/kku dk 73ok| l|'kk/ku

73वाँ संविधान संशोधन पंचायती राज संस्थाओं से संबंधित है। यह दिसम्बर 1992 में संसद द्वारा पारित होकर ग्याहरवीं अनुसूची के रूप में संविधान में जुड़ा। इसमें 29 विषय सूचियाँ हैं जो पंचायत समिति के क्षेत्राधिकार में आती है। ये विषय इस प्रकार हैं– (1) कृषि जिसके अन्तर्गत कृषि–विस्तार है। (2) भूमि विकास, भूमि सुधार का कार्यान्वयन, चकबंदी और भूमि संरक्षण। (3) लघु सिंचाई, जल प्रबंध और जल विभाजक क्षेत्र का विकास (4) पशुपालन, डेरी उद्योग और कुक्कुट पालन (5) मत्स्य उद्योग (6) सामाजिक वानिकी और फार्म वानिकी (7) लघु वन उपज (8) लघु उद्योग, जिनके अंतर्गत खाद्य प्रसंस्करण उद्योग भी हैं। (9) खादी, ग्रामोद्योग और कुटीर उद्योग (10) ग्रामीण आवासन (11) पेय जल (12) ईंधन और चारा (13) सड़कें, पुलिया, पुल, फेरी, जलमार्ग और अन्य संचार साधन (14) ग्रामीण विद्युतीकरण जिसके अंतर्गत विद्युत का वितरण है। (15) अपारंपरिक ऊर्ज स्रोत (16) गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम (17) शिक्षा, जिसके अंतर्गत प्राथमिक और माध्यमिक विद्यालय भी हैं। (8) तकनीकी प्रशिक्षण और व्यावसायिक शिक्षा (19) प्रौढ़ और अनौपचारिक शिक्षा (20) पुस्तकालय (21) सांस्कृतिक क्रियाकलाप (22) बाजार और

मेले (23) स्वास्थ्य और स्वच्छता, जिनके अंतर्गत अस्पताल, प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र और औषधालय भी हैं। (24) परिवार कल्याण (25) महिला और बाल विकास (26) समाज कल्याण, जिसके अंतर्गत विकलांगों और मनासिक रूप से मंद व्यक्तियों का कल्याण भी है। (27) दुर्बल वर्गों का और विशिष्टतया; अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों का कल्याण (28) सार्वजनिक वितरण प्रणाली (29) सामुदायिक अस्तियों का अनुरक्षण।

इस संविधान के प्रावधान के अनुसार राज्य विधान मंडलों को यह विधायी शक्ति है कि वे पंचायतों को ऐसी शक्ति और प्राधिकार प्रदान करें जिससे वे स्वशासी संस्थाओं के रूप में कार्य कर सकें। उन्हें जो उत्तरदायित्व सौंपें जा सकते हैं उनमें हैं (अ) आर्थिक विकास और सामाजिक न्याय की योजनाएँ तैयार करना, (ब) 11वीं अनुसूची में दिए गए विषयों में समाहित आर्थिक विकास और सामाजिक न्याय की स्कीमों का क्रियान्वयन। 73वां संशोधन आगे यह उपबंध करता है कि प्रत्येक 5 वर्ष बाद राज्य सरकार पंचायतों की वित्तीय स्थिति का पुनर्विलोकन करने और राज्यपाल को निम्नलिखित के बारे में सिफारिश करने के लिए एक वित्त आयोग की स्थापना होगी। अर्थात् (अ) सिद्धांतों का निर्धारण (ब) राज्यों और पंचायतों के बीच राज्य द्वारा उदग्रहणीय और उनके बीच विभाज्य कर, शुल्क, पथकर और फीस के शुद्ध आगमों का वितरण और पंचायतों के विभिन्न स्तरों में उसका आबंटन।

(स) कौन से कर, शुल्क, पथकर और फीस पंचायतों को दिए जा सकते हैं इसका निर्धारण

(द) राज्य की संचित निधि से पंचायतों को सहायता अनुदान। (प) पंचायत की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए अपनाए जाने वाले मापदण्ड। (फ) पंचायतों की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ करने के लिए गवर्नर द्वारा वित्त आयोग को सौंपा गया कोई भी मामला।

73वें संशोधन द्वारा पंचायत समितियों को प्रदत्त शक्तियाँ, प्रकार्य एवं शक्ति के अनुप्रयोग की वित्तीय सहायताओं और उत्तरदायित्वों की तुलना छठीं अनुसूची के अंतर्गत स्वशासी परिषदों से करने पर यह देखते हैं कि स्वशासी परिषदों की कई नियामक शक्तियाँ राज्य के प्राधिकार में हैं। पंचायत समितियाँ विकासात्मक प्रकार्यों में अधिक उच्चतर स्थिति में है। वस्तुतः विकासात्मक प्रकार्य के क्रियान्वयन में स्वशासी परिषदें राज्य सरकार की दया पर आश्रित हैं। दूसरी तरफ 11वीं अनुसूची यह सुनिश्चित करती है कि बहुत अधिक संख्या में विकासात्मक कार्य पंचायत समितियों के अधिकार क्षेत्र में आते हैं। कुछ मामलों में तो क्रियान्वयन का स्तर पंचायत समितियों का उच्चतर होता है। उदाहरण के लिए स्वशासी जिला परिषद् जहाँ पर प्राथमिक विद्यालयों की ही स्थापना, निर्माण व व्यवस्था कर सकते हैं वहीं पंचायत समितियों का क्षेत्राधिकार उच्च माध्यमिक विद्यालयों तक है। इसी प्रकार, स्वशासी जिले जहाँ औषधालय की ही स्थापना कर सकते हैं वहीं पंचायत समिति के अधिकार में चिकित्सालय एवं प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र भी आते हैं।

जहाँ तक कागज पर लिखित अधिकार का मामला है स्वशासी जिला परिषदों के लिए वित्त के स्रोत काफी विस्तृत हैं। लेकिन वास्तविकता में राज्य के हस्तक्षेप की भूमिका

के कारण, आमतौर पर उनके पास वित्त की कमी रहती है जबकि दूसरी और पंचायत समितियाँ एक समान वित्त आयोग के गठन से इस प्रकार की समस्या से सुरक्षित रहती है।

एक दूसरा महत्वपूर्ण मामला इन समितियों के विघटन से संबंधित है जहाँ पंचायत समितियों को स्वशासी परिषदों से ज्यादा फायदा है। 73वां संशोधन यह प्रावधान करता है कि किसी भी व्याप्त कानून के तहत यदि समिति का विघटन होता है तो ऐसे विघटन के दिन के 6 माह के भीतर चुनाव कराये जाएँगे। लेकिन छठवें अनुसूची का 166 (1) यह प्रावधान करता है कि अनुसूची के पैरा 14 के अंतर्गत नियुक्त आयोग के सिफारिश पर लोक अधिसूचना द्वारा जिला या प्रादेशिक परिषद् के विघटन की घोषणा कर सकता है और (अ) परिषद के पुनर्गठन के लिए तुरंत ही नये चुनाव का निर्देश दे सकता है अथवा (ब) राज्य के विधानमंडल के पूर्व अनुमोदन से ऐसी परिषद् के प्राधिकार के अधीन आने वाले क्षेत्र का प्रशासन बारह मास से अधिक अवधि के लिए अपने हाथ में ले सकेगा अथवा ऐसे क्षेत्र का प्रशासन ऐसे आयोग को जिसे उक्त पैरा के अधीन नियुक्त किया गया है या अन्य ऐसे किसी निकाय को जिसे वह उपयुक्त समझता है; उक्त अवधि के लिए दे सकेगा।

परंतु जब इस पैरा के खंड–अ के अधीन कोई आदेश किया गया है तब राज्यपाल प्रश्नगत क्षेत्र के प्रशासन के संबंध में, नया साधारण निर्वाचन होने पर परिषद् के पुनर्गठन के लम्बित रहने तक इस पैरा के खंड ब में निर्दिष्ट कार्रवाई कर सकेगा।

जिला परिषद् या प्रादेशिक परिषद् को राज्य के विधान मंडल के समक्ष अपने विचारों को रखने का अवसर दिये बिना इस पैरा के खण्ड ख के अधीन कोई कार्रवाई नहीं की जाएगी।

2. यदि राज्यपाल को किसी समय यह संज्ञान हो जाता है कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमें स्वशासी जिले या स्वशासी प्रदेश का प्रशासन इस अनुसूची के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है। तो वह यथास्थिति, जिला परिषद् या प्रादेशिक परिषद् में निहित या उसके द्वारा प्रयोक्तव्य सभी या कोई कृत्य या शक्तियाँ, लोक अधिसूचना द्वारा छह मास से अधिक अवधि के लिए अपने हाथ में ले सकेगा और यह घोषणा कर सकेगा कि ऐसे कृत्य या शक्तियाँ उक्त अवधि के दौरान ऐसे व्यक्ति या प्राधिकारी द्वारा प्रयोक्तव्य होंगी जिसे वह इस निमित्त विनिर्दिष्ट करे।

परंतु राज्यपाल आरंभिक आदेश का प्रवर्तन, अतिरिक्त आदेश या आदेशों द्वारा एक बार में छह मास से अधिक अवधि के लिए बढ़ा सकेगा।

इस पैरा के उपपैरा 2 के अधीन किया गया प्रत्येक आदेश, उसके लिए जो कारण हैं उनके सहित, राज्य के विधान मंडल के समक्ष रखा जाएगा और वह आदेश उस तारीख से जिसको राज्य विधान मंडल उस आदेश के किए जाने के पश्चात प्रथम बार बैठता है, तीन दिन की समाप्ति पर प्रवर्तन में नहीं रहेगा उस अवधि की की समाप्ति से पहले राज्य विधान मण्डल द्वारा उसका अनुमोदन नहीं कर दिया जाता है।

शर्तों और उपशर्तों के अंतर्गत उलझाकर किसी का रास्ता तैयार करना परिषद् की स्वायत्तता पर प्रत्येक संभव रास्ते पर बाड़ लगाने जैसा है तथा यह स्वायत्तता के मूल अस्तित्व का मजाक उड़ाना है।

इस विकृत तस्वीर में और भद्दापन लाने के लिए छठीं अनुसूची के पैरा 16 में संविधान सुधार अधिनियम 1988 के तहत त्रिपुरा और मिजोरम राज्य के लिए संशोधन किया गया है – क. उप–पैरा में (i) शब्दों – 'राज्य विधानमंडल के पूर्व अनुमति का विषय का उपबंध किया गया (ख) और दूसरा प्रावधान निष्काषित किया गया। (ख) उप–पैरा के लिए (3) निम्नलिखित वाक्य प्रतिस्थापित किये गये – 'उप पैरा के अंतर्गत प्रत्येक आदेश (i) अथवा उप पैरा, इस पैरा का इस प्रकार कारण के साथ राज्य विधान मण्डल के प्रमुख रखे जाएँगे।'

समय–समय पर संशोधन किए जाने वाले संविधान की अनुसूची की सचेत रूप से तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि स्वशासी परिषदों पर राज्य शक्ति की दुधारी तलवार लटकती रहती है। जबकि पंचायत समिति के संदर्भ में उदारवादी प्रक्रिया धीरे–धीरे गतिमान हो रही है।

एक अन्य महत्वपूर्ण वजह से भी छठीं अनुसूची एवं 73वें संशोधन का तुलनात्मक अध्ययन आवश्यक है। 73वें संशोधन के अनुसार अनुच्छेद 243 (ड) (5) के अनुसार (i) – इस भाग की कोई बात अनुच्छेद 244 के खंड (i) में निर्दिष्ट अनुसूचित क्षेत्रों और उसके खण्ड–2 में निर्दिष्ट जनजाति क्षेत्रों को लागू नहीं होंगी।

अनुच्छेद 243(ड)–2 इस भाग की कोई बात नागालैंड मेघालय और मिजोरम राज्य – (ब) मणिपुर राज्य में ऐसे पर्वतीय क्षेत्र जिनके लिए तत्समय प्रवृत्ति किसी विधि के अधीन जिला परिषदें विद्यमान हैं।

अनुच्छेद 243(ड) 3 – इस भाग की कोई बात जिला स्तर पर पंचायतों के संबंध में पश्चिमी बंगाल राज्य के दार्जिलिंग जिले के ऐसे पर्वतीय क्षेत्रों को लागू नहीं होंगी जिनके लिए तत्समय प्रवृत्त किसी विधि के अधीन दार्जिलिंग गोरखा पर्वतीय परिषद् विद्यमान हैं।

(ख) किसी बात का यह अर्थ नहीं लगाया जायेगा कि वह ऐसी विधि के अधीन गठित दार्जिलिंग गोरखा पर्वतीय परिषद के कृत्यों और शक्तियों पर प्रभाव डालती है।

अनुच्छेद 243(ड)–4 – इस संविधान में किसी बात के होते हुए भी (क) खण्ड–2 के उपखण्ड (क) में निर्दिष्ट किसी राज्य का विधान–मंडल, विधि द्वारा इस भाग का विस्तार, खण्ड (1) में निर्दिष्ट क्षेत्रों के सिवाय, यदि कोई हों, उस राज्य पर उस दशा में कर सकेगा जब उस राज्य की विधान सभा इस आशय का एक संकल्प उस सदन की कुल सदस्य संख्या के बहुमत द्वारा तथा उस सदन के उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों के कम से कम दो–तिहाई बहुमत द्वारा पारित कर देती है।

(ख) संसद, विधि द्वारा, इस भाग के उपबंधों का विस्तार, खंड (1) में निर्दिष्ट

अनुसूचित क्षेत्रों और जनजाति क्षेत्रों पर, ऐसे अपवादों और उपान्तरणों के अधीन रहते हुए, कर सकेगी, जो ऐसी विधि में विनिर्दिष्ट किए जाएँ और ऐसी किसी विधि को अनुच्छेद 368 के प्रयोजनों के लिए इस संविधान का संशोधन नहीं समझा जाएगा।

1992 के 73वें संवैधानिक संशोधन के प्रावधानों के कारण दो तरह की समस्याएँ उठती हैं। जैसा कि तुलनात्मक रूप से पहले ही संकेत किया गया है कि पंचायती व्यवस्था की तुलना में स्वशासी जिला परिषदें अल्प विकास एवं निचले स्तर के कल्याणकारी प्रकार्यों का अधिकार रखती हैं। यदि संशोधन अधिनियम के तहत पंचायत समितियाँ छठीं अनुसूची पर (एवं पांचवीं अनुसूची क्षेत्र में भी जहाँ व्याप्त पंचायतों को विकासात्मक कार्यों को करने का अधिकार कम है) लागू नहीं होती तो ये क्षेत्र शेष देश की तुलना में स्वशासन (विकासात्मक पहलू में) की शक्ति का आनंद कम उठा सकेंगे। वहीं दूसरी तरफ 73वें संवैधानिक संशोधनों के तहत स्थापित 11वीं अनूसूची में सूचीबद्ध मामलों पर कानून का अधिकार यदि छठीं अनुसूची के क्षेत्र में प्रवेश कराया जाता है तो ये राजनीतिक असंगतता उत्पन्न कर सकती है चाहे यह संबंधित राज्य सरकार द्वारा कुछ परिषदों को सीमित मात्रा में ही क्यों न उपलब्ध कराया गया हो। यदि ये अधिकार भी उनसे ले लिए गए तो उनके पास केवल नियामक प्रकार्य ही बचेंगे। उनके पास अपने प्रभाव को बनाए रखने के लिए ज्वलंत राजनीति की संकीर्ण धारा के अलावा कोई विकल्प नहीं होगा।

सातवीं पंचवर्षीय योजना में छठीं अनुसूची की स्व–प्रबंधन को देश में सभी अनूसूचित क्षेत्र तक बढ़ाने पर जोर दिया गया था। हालांकि इसका मतलब ये नहीं होगा कि सभी अनुसूचित क्षेत्रों तक एक याँत्रिक तरीके से छठीं अनुसूची का विस्तार हो। जैसा कि छठी अनुसूची का यह प्रावधान है कि इसके दायरे में आने वाले सभी क्षेत्रों में यह समान रूप से नहीं है।

मिजोरम और त्रिपुरा राज्य में परिषदों के क्रिया–कलापों में बहुत हद तक राज्य हस्तक्षेप करता है। मेघालय में राज्य के हस्तक्षेप की संभावनाएँ कम हैं एवं असम में उससे भी कम।

73वें संवैधानिक संशोधन अधिनियम 1992 ने किसी भी दूसरी चीज की अपेक्षा छठी अनुसूची के अंतर्गत स्वशासन की अत्यंत सीमित शक्तियों की व्यवस्था की। नियामक शक्तियों और विकासात्मक निर्णयन क्षमता शक्ति को पूर्णतः अलग करके पूरी व्यवस्था में विसंगति पैदा कर दी। जबकि छठीं अनुसूची स्वाधिकार की अधिकामना की पहचान के लिए जनजाति संघर्ष के लंबे इतिहास का परिणाम है। भारतीय राज्यों की मनोभावना पर गंभीर प्रश्नचिह्न लगाए बिना इसको निरस्त नहीं किया जा सकता है। छठीं अनुसूची एवं 73वें संवैधानिक संशोधन अधिनियम 1992 के सांस्थानिक व्यवस्था एवं प्रक्रियात्मक विस्तार के अंतःआख्यात्मक वाले संपूर्ण मुद्दे को बहुत सावधानीपूर्वक परीक्षण करना होगा और इस प्रकार से दोनों के सकारात्मक पहलुओं को संयोजित करके परिवर्तित छठीं अनूसूची का विकास करना होगा।

dk;l: i e NBh vulph

यह पहले ही बताया जा चुका है कि स्वशासी परिषदें संवैधानिक रूप से वित्तीय स्वायत्तता का आनंद नहीं ले पाती हैं। वित्तीय आवंटन के मामले में उन्हें अपने संबंधित राज्य सरकारों पर निर्भर रहना पड़ता है जो उनके प्रदर्शन क्षमता को बहुत हद तक घटा देती है या बाधित कर देती है। ए.डी.सी. के वित्त का एक स्रोत किसी स्वशासी जिले के भीतर के किसी क्षेत्र में राज्य की सरकार द्वारा खनिजों के निष्कर्षण के प्रयोजन के लिए दी गई अनुज्ञप्तियों या पट्टों से प्रति वर्ष प्रोद्भूत होने वाले स्वामित्व का अंश जिला परिषद् को देना स्वीकार करने पर है। सन् 1989 में खासी पहाड़ी जिला परिषद् ने यह आरोप लगाया कि सन् 1972–73 से उनके हिस्से का स्वामित्व उन्हें नहीं दिया गया। आगे भी उसी जिला परिषद् ने आरोप लगाया कि बराबर भागीदारी के लिए राज्य ने इस कार्य की सुविधा के लिए वाहन कर वसूल किया था। राज्य सरकार अपने पचास प्रतिशत कृषक अंश ले लेती है। शेष पचास कृषक में चालीन कृषक कर वसूल करने के एवज में लेकर केवल दस कृषक जिला परिषद् को देती है। इस प्रकार उदाहरणार्थ यदि एक वर्ष में वाहन कर के रूप में साठ लाख वसूली हुई तो स्वशासी जिला परिषद केवल छः लाख ही पाते हैं। जिला परिषदों के आय का दूसरा स्रोत भारत के संविधान के अनुच्छेद 275 में उल्लिखित अनुदान सहायता राशि है। वर्षों 1985–86 से 1987–88 के दौरान मुख्यमंत्री ने राज्य विधान मण्डल में मेघालय जिला परिषद् को प्राप्त हुई राशि का ब्यौरा प्रस्तुत किया। वह ब्यौरा निम्न हे –

वर्ष	अनुच्छेद 275 के अंतर्गत राज्य द्वारा प्राप्त की गई राशि (रु. लाख में)	खासी पहाड़ी जिला परिषद् द्वारा प्राप्त राशि (रु. लाख में)
1985–86	3438.98	8.46
1986–87	2464.81	9.80
1987–88	3327.59	9.40

जिला परिषदों के अध्यक्षों के सम्मेलन में दूसरे स्वशासी जिला परिषदों के लिए भी इसी के समान फीके आंकड़े उपलब्ध कराए गए। उन्होंने आरोप लगाया कि निधि उपलब्ध कराने में संबंधित राज्य सरकारों द्वारा बाधक रवैया अपनाने के कारण ही प्राथमिक विद्यालयों, औषधालयों जैसे संवैधानिक बाध्यताओं को पूरा करने हेतु निधि जुटाने के लिए उन्हें अनुचित व्यवहारों को अपनाने पर बाध्य होना पड़ रहा है। उन अनुचित व्यवहारों में एक यह है कि पारिस्थितिकी प्रबंधन की सीमाओं के बावजूद भी लकड़ी का निष्कासन जारी है। एक दूसरा यह है कि समुदाय के अधिकारों को बाधित कर तथा प्रत्येक सदस्य के उचित हिस्से के सिद्धांत का उल्लंघन करके बड़े पैमाने पर भूमि को निजी व्यक्तियों को आवंटित की जा रही है राज्य सरकार द्वारा निधि उपलब्ध कराने की अनिच्छा के कारण कार्बी अलांग जिला परिषद न्यायालय स्थापित नहीं कर सकी।

जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, संविधान स्वशासी जिला परिषदों को बहुत कम विकासात्मक कार्य सौंपती है। यद्यपि कुछ ऐसे उपबंध हैं जिससे राज्य सरकार उन्हें ऐसे कार्यों की शक्ति प्रदान कर सकती है। सन् 1971 में उत्तरी–पूर्वी भारत में राज्यों के पुनर्गठन के अवसर पर राजनैतिक स्तर पर एक प्रकार की समझ देखने को मिली जिसके परिणामस्वरूप कार्बी आलांग एवं उत्तर कछार पहाड़ी के स्वशासी जिला परिषदों में बहुत सारे विकासात्मक कार्य करने की शक्ति निहित पाई गई तथा उन प्रदेशों के राजनीतिक नेताओं ने अपने स्वार्थ के लिए उन्हें नहीं दबाया। लेकिन बाद के अनुभव बताते हैं कि यह एक अल्पकालिक व्यवस्था थी। वैधनिक सहायता के अभाव में स्वशासी जिला परिषदों को राज्य नेतृत्व के बदलते हुए राजनैतिक संबंधों पर निर्भर रहना पड़ता है। और इसीलिए हमेशा दबाए जाने का भय बना रहता है जो बड़ी उदारतापूर्वक कई बार प्रयुक्त किया जा चुका है। कार्बी अंनलांग में स्वशासी राज्य मांग आंदोलन प्रारंभ में इसी प्रकार के कष्टकारी अनुभव से उपजी थी।

छठीं अनुसूची की कुछ अस्पष्टताओं ने आगे परिस्थिति को और अधिक जटिल बना दिया। अनुसूची का पैरा 3(एफ) स्वशासी जिला परिषदों एवं प्रादेशिक परिषदों की मुखिया या प्रधान की नियुक्ति की शक्ति का उपबंध करता है किंतु यह स्पष्ट नहीं करता है कि क्या ऐसी संस्था के मुख्य–पद से निरसन की भी शक्ति यह रखता है ? सन् 1954 में असम विधान मण्डल में अध्यक्ष–पद से हटाए जाने के लिए और अध्यक्ष के नियंत्रण वाली भूमि को मुक्त करने के लिए एक अधिनियम पारित किया गया था। जब मिजोरम को एक केंद्रशासित राज्य बनाया गया और बाद में एक अलग राज्य तो लुसाई पहाड़ी जिला निरसित कर दिया गया तथा भूमि राज्य के प्रत्यक्ष नियंत्रण में आ गई। यद्यपि वहाँ भूमि पर गांव के पारंपरिक राजनीतिक–आर्थिक न्यायाधिकार की व्याप्ति है फिर भी प्राधिकरण सरकार के महज अभिकर्ता के रूप में काम करता है।

क्या भूमि स्वशासी जिला परिषद् के अधिनियम से अधिगृहित की गई है ? शायद भूमि बिना राज्य की मध्यस्थता के ग्रामीण समुदाय के नियंत्रण के अंतर्गत रखी गई है जैसा कि नागालैंड में है।

जनजातीय प्रभुत्व वाले राज्य में, स्वशासी जिला परिषदों को भिन्न प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ता है। मेघालय, में खासी पहाड़ी जिला परिषद्, जयन्तिया पहाड़ी जिला परिषद् एवं गारो पहाड़ी जिला परिषद् नामक तीन जिला परिषदें हैं। खासी और जयन्तिया एक ही प्रकार की जनजाति है। गारो भाषिक रूप से एवं नस्लीय इतिहास में भी भिन्न है ? लेकिन ये तीनों जनजातियाँ राज्य स्तर पर शक्ति संरचना में कमोबेश संतुलित ही रहते हैं। शायद इसी को ध्यान में रखते हुए जब मेघालय को एक अलग राज्य बनाया जा रहा था तो छठीं अनुसूची में संशोधन करके एवं उपपैरा 12(क) को प्रवेश कराके स्वशासी जिला परिषदों के अधिकार क्षेत्र में भी राज्य के विधानमंडल द्वारा बनाई गई विधि ही अभिभावी होगी। वैधानिक दृष्टिकोण से संशोधन की संवैधानिक वैधता पर मेघालय में प्रभावी राजनैतिक नेताओं साहित एक सम्मानित नागरिक वर्ग ही सवाल खड़ा कर सकता

है। किंतु वैधानिक बिंदु से इतर, यहाँ पर अधिक आधारभूत प्रश्न राज्य–समुदाय संबंधों की है। इस मुद्दे को पहले ही उठाया जा चुका है लेकिन इस समस्या के मूल में जाकर देखने की जरूरत है।

एक दूसरे जनजातीय प्रभुत्व वाले राज्य मिजोरम में स्वशासी जिला परिषदों की स्थिति भिन्न है। इसके तीनों स्वशासी जिलों में तीन जनजातियों का प्रभुत्व है। जो न केवल संख्या में अल्पसंख्यक हैं अपितु इनका ऐतिहासिक रूप से इस राज्य के प्रभुत्वशाली मिजो जनजाति से अच्छे ताल्लुकात नहीं थे तथा राजनैतिक रूप से ये हाशिये पर हैं। छठीं अनुसूची में विशेषित मामलों पर विधान मंडल की व्यक्तियों के अनाधिकार प्रवेश के खिलाफ स्वशासी जिला परिषद् के विशेष प्रावधान बने रहते हैं। किंतु यह राज्य में अंतर्नस्लीय संबंधों में सुधार में योगदान करती नहीं दिखती। वस्तुतः नए–नए विरोधाभास उभर कर सतह पर आते हैं।

दो महत्वपूर्ण कारक जो जिला परिषद् के स्वशासी प्रकार्यों को उच्छेदित करती हैं उन पर विशेष ध्यान देना अपेक्षित हैं। यह पहले ही बताया गया है कि स्वशासी जिला परिषदों को विधेयक लागू करने से पहले या कानून पर बल प्राप्त होने से पहले राज्यपाल की सहमति आवश्यक है। प्रारंभिक तौर पर विधायी प्रक्रिया संबंधित जिले के उपायुक्त द्वारा शुरू की जाएगी। वे जिला परिषदों के अधिकारी नहीं है तथा वे ही कानून व्यवस्था के प्रभारी हैं। इसके अतिरिक्त वे इसको संयोजित करते हैं ना कि परिषदों में विकासात्मक प्रकार्य को सौंप देते हैं। इस प्रकार से जिला स्तर पर संरचना में दोहरे प्राधिकार में स्वायत्तता का मजाक बनाने के बजाय महत्वपूर्ण शक्ति रखते हैं।

पुनः वही बात कि जिला–परिषद् द्वारा बनायी कोई विधेयक राज्यपाल की सहमति पर लागू होगा। जिसका वास्तविक अर्थ यह है कि राज्य सरकार स्वायत्तता के प्रयोग पर अवरोध की तरह काम करते हैं। वास्तव में, परिषदों द्वारा पारित विधेयक का अर्थ राज्य सरकार द्वारा किए गए सिफारिशों के ठुकराने से ज्यादा नहीं है। कार्बी आंग्लांग में यह देखा गया कि भू–सर्वेक्षण एवं चक–बन्दोबस्ती के दौरान सारैखिक सर्वेक्षण तो राज्य सरकार द्वारा किया गया, मालगुजारी विषयक सर्वेक्षण स्वशासी जिला परिषद् द्वारा किये जाने के लिए छोड़ दिया गया। किंतु जिला परिषद् ने शेष राज्य के लिए निर्धारित नियमों के आधार पर ही मालगुजारी विषयक सर्वेक्षण कराया लेकिन जमीनी हकीकत के मुताबिक नहीं। स्वशासी जिला परिषद् की तरफ से यह सफाई दी गई कि शेष राज्य के लिए बनाए गए नियमों के अलावा राज्य सरकार ने किसी वैकल्पिक नियमों की अनुमति नहीं दी। यह आरोप राज्य सरकार के समरूपता की प्रतिबद्धता को दिखाता है और स्वशासी जिले द्वारा आसानी से किया गया समर्पण स्वायत्तता का माखोल बनता है।

स्वशासी जिले की दुर्गति का एक दूसरा पहलू भी है। स्वशासी जिला परिषद के वरिष्ठ अधिकारी उनके संबंधित राज्य से नियोजन पर आते रहते हैं। इस प्रकार वे दोहरे श्रेणीतंत्र के अंतर्गत आते हैं। उनके द्वारा झेले जाने वाले तकलीफों की कल्पना आसानी से

की जा सकती है। लेकिन उनमें से अधिकांश कुछ भी न करके बचाव का रास्ता अख्तियार करते हैं ताकि राज्य कैडर में उनके हितों पर कोई आंच ना आए। जिसके परिणामस्वरूप अपने अभियानों में स्वशासी जिला परिषद हमेशा अप्रभावी रहता है। निर्वाचित पदाधिकारी शेषपूर्ण रहते हैं, जनता आलोचनात्मक रूख अपनाती है तथा कर्मचारी उदासीन हो जाते हैं।

बहुत वादे के साथ दी गई स्वायत्तता अत्यंत सीमित हो गई है। इसके लिए, छठीं अनुसूची की अस्पष्टता के अलावा राज्य स्तर के अभिजात्य वर्ग का इस भाग पर राजनीतिज्ञता का अभाव एवं छठीं अनुसूचित क्षेत्रों में राजनैतिक अभिजात्य द्वारा अवसरों को भुनाने की असफलता भी समान रूप से उत्तरदायी है।

यहाँ तक कि राज्य सरकार और राजनैतिक एवं प्रशासकीय अभिजात्य में इस भाग के प्रति उत्साह का अभाव साफ दिखता है। चाहे वह जिला परिषद के लिए समन्वित विकास नियोजन का मामला हो अथवा आर्थिक आवागमन के ढांचे को निर्धारित करने में विकास की अवरुद्धता हो। आम जनता की आधारभूत आवश्यकताओं के संतुष्ट करने के उद्देश्य में लगे छठे अनुसूचित क्षेत्र के प्रभावी अभिजात्य अपने प्रकार्य के लिए छठीं अनुसूची को लोकतांत्रिक तरीके से पर्याप्त लागू करने में अक्षम रहे। छठी अनुसूची सामाजिक जड़ता का एक अन्य बहाना बन गया।

मिजोरम में स्वतंत्रता के पहले भी भूमियों पर अपने अधिकार की मांग करते हुए औपनिवेशिक शासन के खिलाफ जमीनी स्तर पर आंदोलन चलाए गए थे। इस संदर्भ में स्वतंत्रता के बाद जब स्वशासी जिला परिषदों का गठन हुआ तब मुखिया पद के निरसन की सिफारिश की गई तथा राज्य विधानमण्डल ने आवश्यक कानून पारित कर दिया। लेकिन जिला परिषद् एवं प्रतिनिधि द्वारा राज्य की तरफ से ना कि समुदाय की तरफ से केवल ग्रामीण प्राधिकरण ही भूमि का संरक्षक हो गया।

खासी एवं जयन्तिया पहाड़ी में परंपरागत मुखिया (सीएम) हैं जो अंग्रेजों द्वारा किए गए समझौते के तहत विशेषाधिकार का आनंद उठाते हैं। कुछ वैधानिक व्यवधानों की वजह से वो हटाए नहीं गए और जिला परिषद की ओर से अब वे आधिकारिक शक्तियों का भरपूर प्रयोग करते हैं। कुछ मामलों में वे अपने संबंधित क्षेत्रों में सामान्य भूमि पर अपने अधिकार का दावा करते हैं। लेकिन स्थानीय निकाय द्वारा इस दावे को विभिन्न परिप्रेक्ष्य में देखा जाता है और इस भूमि के प्रबंधन के बारे में फैसला सियाम परिषद द्वारा लिया जाता है, किंतु मुखिया के सामंती दावे को राजनैतिक रूप से हल करने में छठीं अनुसूची के उपबंध कुछ मदद नहीं कर सकते। गारो पहाड़ी में जिला परिषद् ग्रामीण संरक्षक मुखिया के साथ मिलकर भूमि को परिषद् के नियंत्रण में लाने की व्यवस्था करता है। यह व्यवस्था कुछ ही समय के लिए है लेकिन ऐसा लगता है कि यह अब संतोषजनक रूप से कार्य नहीं कर पा रही है। त्रिपुरा में चुने गए पंचायत हैं जिनमें छठीं अनुसूची के कुछ क्षेत्र आते हैं। तथा कुछ छठीं अनुसूची के बाहर के भी भाग हैं। ऐसे मामलों में पंचायत समिति स्वशासी जिला परिषद् के निर्देश के बगैर कार्य करती है।

कार्बी आंगलांग और उत्तरी कछार पहाड़ियों में पंचायत समितियाँ नहीं गठित की गई हैं। वहाँ कुछ परंपरागत अभिजात्य हैं जो प्रति वर्ष समारोही सर्वोच्चता प्राप्त करते है।। लेकिन स्वशासी जिला परिषद् के कार्यकारी मामलों में उनको शामिल नहीं किया जाता। जमीनी स्तर पर स्वशासी जिला परिषदें, औपनिवेशिक समय से चले आ रहे मनोनित गांव–खुरा के माध्यम से जनता तक पहुंचती हैं। किंतु, जिला स्तर पर स्वायत्तता जमीनी स्तर के गैर लोकतांत्रिक अथवा सामाजिक रूप से आधारहीन सांस्थानिक व्यवस्थाओं द्वारा संरक्षित नहीं रखी जा सकती है। यदि राज्य स्तर के अभिजात्य स्वशासी जिला परिषदों को दबाने की अपनी ढ़िठाई दिखाते रहे तो जिला परिषदों की कमजोर लोकतांत्रिक आधारशिला उनके लिए आसान मार्ग प्रशस्त करेंगी।

स्वशासी जिला परिषद् के एक अन्य नकारात्मक पहलू को भी उल्लिखित करने की आवश्यकता है। विशेषरूप से असम में छठी अनुसूचित क्षेत्र में अच्छी–खासी संख्या में नस्लीय अल्पसंख्यक रहते हैं। लेकिन बहुत मुश्किल से ही उन्हें परिषद् में प्रतिनिधित्व मिलता है चाहे चुनाव के माध्यम से हो या नामांकन के द्वारा वास्तव में कुछ स्वशासी जिला परिषदों पर तो इन अल्पसंख्यकों के सामाजिक एवं सांस्कृतिक उत्प्रेरकों के प्रति असंवेदनशीलता का आरोप लगता रहा है। ऐसा लगता है कि समुदायों के आत्म–नियामक धाराओं को श्रृंखलाबद्ध करने के लिए स्वशासी जिला परिषद को सांस्थानिक स्वरूप देने की बजाय आज यदि घटाकर राज्य का आनुषांगिक बनाया जाय, राज्य की संस्था का पूरक बनाया जाय तो छठीं अनुसूचित क्षेत्र के अभिजात्यों की जिम्मेदारी दूसरे स्तर के अभिजात्यों से रत्ती भर भी कम नहीं होगी।

tutkfr;k e ifjorlu vkj ,d lkekftd thou dk fuek.k

मानव शास्त्र साहित्य में जनजाति शब्द सामान्यतया 'आदिम' शब्द के बराबर माना जाता है। लुईस मेडिनिक के 1960 में करंट एन्थ्रोपोलोजी में छपे एक लेख का संदर्भ देते हुए मॉरिस गोडलियर[1] ने लक्षित किया कि आदिम शब्द से सकारात्मक और नकारात्मक गुणों के दो समूह बनते हैं। नकारात्मक स्वभाव जिसका तात्पर्य सकारात्मक स्वभाव का अभाव है पश्चिमी समाज में पाये जाते हैं निरक्षर, असभ्य, विकास में बाधक, औद्योगिकीकरण रहित, शहरीकरण से दूर, अर्थशास्त्र की विशिष्टता का अभाव अथवा निम्न मात्रा में इन गुणों की उपस्थिति (कम सभ्य, तकनीकी उपलब्धि का निम्न स्तर, पारंपरिक साधारण औजार, छोटा पैमाना) दोनों मामलों में आदिम समाज निचले दर्जे का माना जाता है। दूसरी तरफ उनके सकारात्मक गुण वे माने जाते हैं जो सभ्य समाजों से अनुपस्थित हैं उनके अनुसार विचार करा जाता है। दूसरे शब्दों में, यह वह समाज है जिसमें सामाजिक संबंध मुख्यरूप से खून के रिश्तों पर आधारित होते हैं सारे धार्मिक व्यापकता के साथ जिसमें कि सामान्य उद्देश्य के लिए सहयोग नित्य है।

चूंकि 'जनजाति' 'आदिम' से तुलना की गई है, गोडलियर द्वारा प्रस्तुत किये गये दृष्टिकोण को स्पष्ट रूप में कहते हुए यह कहा जा सकता है कि तकनीकी विकास, ज्ञान

और प्राकृतिक शक्ति को नियंत्रण में करने की क्षमता, तथा उसे संप्रेषण की विधि मनुष्य का मनुष्य और प्रकृति के साथ संबंध का अनुमान और सामाजिक समूहों के संगठन की मात्रा शब्द विकास की तकनीक है। लेकिन आदम संबंधी विचार से बिना किसी संदेह के जरूरी संबंध जोड़े बिना यह उन समाज का हवाला देता है जहाँ परिवार, वास्तविक और कल्पना के बीच नैतिक संबंध मुख्य रूप से संगठित है। जो कि रचनात्मक ताकतों और निश्चित क्षेत्र में विशिष्ट विशेषाधिकार रखती है जहाँ ऐसे विशेषाधिकार अपने समय में ना केवल दबावयुक्त ताकत के बल पर वैध होते हैं बल्कि मनुष्य और प्रकृति के बीच संबंध पर भी जिसका अनुकरण मनुष्य और मनुष्य के बीच संबंधों में होता है।

जनजाति की संकल्पना के इस दोहरेपन में ऐतिहासिक और विश्लेषणात्मक दोनों दृष्टियों से एक उलझाव है।

जनजाति की समझदारी के दोहरेपन में एक मुख्य समस्या है। विश्लेषणात्मक और ऐतिहासिक रूप से मनुष्य और मनुष्य तथा मनुष्य और प्रकृति के बीच साझा और अलगाव के वैश्विक दृष्टिकोण (प्रतिद्वंद्वता और जबरदस्ती लड़ाई–झगड़े के स्थान पर) को दिखाना संभव है कि यह जनजातीयता के परिणाम से अलग किया जा सकता है। इस तरह एक जनजाति अपनी जनजातीयता को पीछे छोड़कर भी अपने सामाजिक चहारदीवारी और अपनी पहचान के आवश्यक लक्षणों को बरकरार रख सकता है।

जो लोग जनजातियों को केवल आदिम के रूप में देखते हैं, वह जनजातियों को बदलने के बिंदु पथ पर केवल भौतिक विश्व के बनाए दृष्टिकोण के अनुसार ही दृष्टि डालते हैं। वह जनजातियों को ज्यादातर पिछड़ा किसान या आसपास की सभ्यता का कमजोर भाई समझते हैं। उदाहरणस्वरूप, भारतीय संदर्भ में जी.एस. घुरिये[2] पिछड़े हिंदुओं को जनजाति मानते हैं। दूसरी ओर लाकरा, मुन्ज और मीज़र[3] मानते हैं कि हिंदूकरण जानजातीयता की समस्याओं का समाधान नहीं करती। बल्कि और बढ़ा देती है और उन्हें न्यूनतम गिरोह बना देती है जो न जनजाति ही रह जाती है न कोई जाति।

जनजातियों की तब्दीली के बिंदु पथ का व्यवस्थित अध्ययन के लिए किसानों और जनजाति का जाति में बदलने से जुड़ी धारणाओं पर दृष्टि डालना आवश्यक है।

कारोबार[4] ने 1948 में पाया कि 'किसान हर हाल में ग्रामीण होते हैं, फिर भी उनका बाजारी शहरों से संबंध होता है : वह एक बड़ी आबादी में छोटी श्रेणी बनाते हैं जिसमें शहरी केंद्र और कभी–कभी महानगरीय केंद्र भी होते हैं। वह सभ्यता के अंश के साथ सामाजिक अंश बनाते हैं। 'रेड़फिल्ड'[5] के अनुसार किसान ग्रामीण होता है जिसका बहुत दिनों से स्थापित जीवन शैली शहरों से बहुत प्रभावित होता है।

इस तरह करोएबर और रेडफिल्ड दोनों ने किसानों के जीवन की सभ्यता का बाहरी दुनिया से संबंधों की व्याख्या की। जबकि ऐरिक वोल्फ[6] निवासियों के सरकार के साथ राजनीतिक और प्रशासनिक संबंध की किसानों की व्याख्या में अहम बिंदु मानता है। लेकिन मार्कसवादी दृष्टिकोण के अनुसार गोडेलियर कहता है कि ऐरिक वोल्फ ने

'उत्पादन के तरीकों' को नजरअंदाज किया है जिसका कुछ हद तक अर्थ' पुनः उत्पादन की शक्तियों और उत्पादन के विशेष सामाजिक संबंधों का मिश्रण जो कि ऐतिहासिक निर्धारित समाज के अंतर्गत वस्तुओं के उत्पादन के तरीके का स्वरूप और सामानों का बंटवारा निर्धारित करता है।'

मौजूदा उद्देश्य के लिए 'उत्पादन के तरीके' की विवाद में पड़े बिना, किसानों के बारे में क्षणिक धारणा दोनों तरह से अर्थात् शहरों के साथ संबंधों के सभ्यतात्मक दृष्टिकोण और सरकार के साथ प्रशासनिक और राजनैतिक संबंधों के अनुसार समझी जा सकती है।

जहाँ तक कि किसान 'सभ्यता के अंश के साथ समाज' के अंश हैं, क्या भारत की बहुत सारी जनजातियाँ इस श्रेणी में आयेंगी? यहाँ तक कि जनजातिय क्षेत्रों में भी शहरों की उत्पत्ति हुई है और इन शहरों में जनजातियों की छोटी आबादी रहती है। लेकिन क्या जनजातिय समुदाय भी बड़े पैमाने पर यह श्रम करते हैं कि शहरों के लोगों के नियमित जीवनशैली के अनुसार ही उनकी क्रमबद्ध मान्यताएं हैं? जनजातीय समुदाय की गतिशीलता का अध्ययन परंपरागत स्रोतों की सहायता से लगातार होने वाले अतिरिक्त प्रभाव को दर्शाते हैं। जैसा कि गौतम[7] ने संक्षिप्त रूप से बताया है 'आधुनिकता की शक्तियों ने इस कार्य को गति प्रदान की है और सक्षमता की षर्त रखी है एवं अप्रचलित प्रयोग की वैधता पर प्रश्न उठाया है तथा परंपराओं को पुनः प्रारंभ किया है। जब कभी भी आधुनिकता, एकता जाहिर करने का कोई साधन बताता है तो वे इसको स्वीकार कर लेते हैं और अपनी सभ्यता में इसको मिला लेते हैं।' साथ ही लेम्बर्ट[8] का अध्ययन दर्शाता है कि बहुत सारे गुण जैसे गुण–कथन और विशिष्टतावाद, कारखाने की परिस्थिति में व्यवहार के तरीके में प्रतिबिम्बित होते हैं। जनजातियों ने इस प्रभाव के अनुसार तबदीली, बाजारी संगठन को सामाजिक संगठन का विस्तार मान कर किया है। सुकुमार बनर्जी[9] बताते हैं कि संथाल कोयला खानों में काम करने वालों ने उद्योगों के कानून को नहीं अपनाया है। दूसरी तरफ 1969 में संथालों में शिक्षित संथाल और खानों के मजदूरों ने संथाली रिवाजों और कानूनों को लागू करने और अपने कला और संगीत को बढावा देने की सौगंध खाई।

स्वस्थिति मूल्य की निर्धारण के साथ ही इस बात का ध्यान रखना भी आवश्यक है कि इन जनजातियों का व्यावसायिक आधार हमेशा खेती बाड़ी में तब्दील नहीं होता। किसानों के संबंध में तमाम विरोधी परिभाषाएं इस मत पर सहमत हैं कि उनका बुनियादी व्यवसाय खेती बाड़ी ही है। प्राचीन विश्व में शिकारियों के लिए उन्नत तकनीकी की ओर यह केवल संभव कदम था। आज के समय में शिकार – एकत्रित करने वाले जनजाति उदाहरणतः चेनचू या मालापयरम या कदर एकत्रित करन के अर्थ प्रबंधन के साथ साथ खेतिहर मजदूर के रूप में भी काम करते हैं। एक बिरहोर रस्सी बनाने वाले के जीवन यापन का मुख्य स्त्रोत महानगरों के व्यवसाइयों को जंगलों से प्राप्त सामानों के बेचने से प्राप्त आय है। कभी कभी जनजाति समुदाय अपने आप को बहुकेन्द्रित उत्पादन की स्थिति में सम्मिलित कर सकता है ताकि उसकी पहचान बची रहे। यह तब आदिकालीन नहीं रह जाता बल्कि मिरांडा जनजाति की तरह 'उत्तर–आदिकालीन जनजाति'[10] के रूप

में उभरता है।

अगर कभी हम खेतिहर समाज का वर्गीकरण वर्गीय समाज में करें भी और उन्हें वो समाज जो खेती में सीधे तौर पर हिस्सा नहीं लेते, उनके द्वारा शोषित, आर्थिक, राजनीतिक व सभ्यात्मक रूप से नियंत्रित दर्शाएं, तब भी बहुत सारे जनजातीय समुदाय खेती बाड़ी करने वाले श्रेणी के अंतर्गत नहीं आएंगे। निस्संदेह, उनके परंपरागत अधिकारों के अंतर्गत साधनों की तब्दीली का अन्धाधुंध कार्य हो रहा है। लेकिन यह तब्दीली सरकार की राजनैतिक और प्रशासनिक दखलंदाजी से हो रही है न कि बाजार की क्रिया विधि के अनुसार जनजातीय समुदाय इससे सचेत हैं, लेकिन उनके लिए हर चीज का फैसला लेने में राज्य ही सर्वव्यापी अधिकार नहीं है। उत्तर पूर्व भारत और मध्य के बहुत सारे जनजातियों का साधनों और समुदाय के संबंधों के बारे में अपनी समझदारी है। राज्य के विरोध में आए बिना ही वह उनका पालन नैतिक आधार पर करता है। पुनः वे जनजातियाँ जिनको साधनों तक पहुंचने से वंचित कर दिया गया है, यहाँ तक कि अनौपचारिक प्रबंधन जो उनके यहाँ पर मौजूद हैं, उनके नाम पर भी, उनका अपना पौराणिक काल्पनिक राजशाही होता है जिस पर वह भरोसा करते हैं।[11] यह उत्तर आदिकालीन की निदान का लक्षण है ना कि किसानों का।

अगर जनजाति का किसान में तब्दीली को अनुदानित न माना जाए तो भारतीय संदर्भ में जनजातियों की जातियों में तबदीली को भी अनुदान या निश्चित नहीं माना जा सकता।

जनजातियों का जाति व्यवस्था में संयुक्ति के दो महत्वपूर्ण प्रारूप हैं। एक एन.के. बोस[12] का प्रारूप 'जनजातियों की संयुक्ति का हिंदू प्रणाली' है। वह कहते हैं कि जाति व्यवस्था में, बहुत सारी जातियों के उत्पादन कार्य की रक्षा दूसरी जातियों की प्रतिद्वंद्विता से की जाती है। इसलिए हिंदू समाज में सम्मिलित होने पर नीचा स्थान मिलने के बावजूद, इसने बहुत लोगों को आकर्षित किया। साथ ही नीची जाति की वजह से लागों को रोजमर्रा के जीवन में जो कड़वाहट थी, उससे संन्यास की संस्था ने मनोवैज्ञानिक आराम दिलाया। बोस के प्रारूप पर बहुतेरे आधार पर प्रश्न किया गया। विशेष रूप से यह देखा गया कि अधिकतर हिंदूवादी जनजाति या तो खेत जोतते हैं या भूमि रहित मजदूर हैं। इन व्यवसायों में सम्मिलितों की मुश्किल से ही सुरक्षा प्रदान करती है। दूसरा प्रारूप जो कुछ समय तक वैध रहा उसका नाम संस्कृतिकरण है। श्रीनिवास[13] ने पाया कि नीची जातियों में किसी क्षेत्र में नियंत्रण रखने वाली जातियों की नकल की प्रवृति पाई जाती है जबकि ताकतवर जातियों का झुकाव पूरे भारत में स्वीकारित कानून की ओर होता है। इस स्पर्धा के कारण नीची जातियाँ जाति व्यवस्था की सीढ़ी में उपर उठ जाते हैं। इस बात का ध्यान रखा जाए कि श्रीनिवासन ने संस्कृतिकरण का जिन अर्थों में व्याख्या की है वह उपनिवेशवाद के समय की प्रक्रिया है। उससे पूर्व राजा और उनके आसपास के लोग ऊंची जाति के कायदे कानून को अपनाया करते थे ताकि श्रेष्ठ जनगण से संबंध स्थापित हो सके। यह श्रेष्ठ जनगणों के सामाजिक आधार के समस्तर फैलाव के कौशल का प्रयोग था।[14] उसी

समय, जीते गए लोगों की जाति व्यवस्था में नीची जाति की हैसियत से संयुक्ति की जाती थी। लेकिन उपनिवेशवादी राज के समय में, एक लम्बवत गतिशील आंदोलन के रूप में संस्कृतिकरण संभव और अपरिहार्य दो आधार पर हो पाया। पहला, हिंदु धार्मिक किताबों और ब्राह्मण पंडितों के द्वारा बनाए गए कानून के आधार पर हिंदू कानून का कोडीकरण होने के बाद, इसको कानूनी मंजूरी मिल गई। दूसरे, एक ओर धर्मनिरपेक्षतावाद का विस्तार और दूसरी ओर राष्ट्रीय स्वतंत्रता सग्राम के मूल्यों ने ऊँची जातियों के द्वारा इस पूर्वग्रसित बात का विरोध कि नीची जाति के लोग उनकी नकल की प्रवषत्ति रखते हैं, को समाप्त कर दिया। आज सांस्कृतिक आंदोलन के विरोध में जनजातियों में पूरे भारत में आंदोलन एक सच्चाई है, जबकि संस्कृतिकरण ने अपनी गति खो दिया है, इस बात के साक्ष्य हैं कि जनजाति अब भी हिंदू जीवन शैली अपना रही है। एफ.जी. बेली[15] के अनुसार कोंध के आर्थिक विकास ने उनकी ऊँची जाति की दावेदारी जिससे वे जुड़े हुए नहीं हैं, उसमें बहुत सहायता नहीं की ताकि उड़िया व्यवहार के अच्छे मानक के अनुसार हो सकें। बाउज़्ल[16] ने इसी कार्य को संथाल के हवाले से समझाने की कोशिश की है। वे किसी जातीय मुकाम का दावा नहीं करते सके। संथाल हिंदू समाज की नकल इसलिए करते हैं ताकि हिंदू समाज उसकी अपने अंदर खपा न ले। वे हिंदूवाद का एक संभव प्रतीक के रूप में प्रयोग करते हैं ताकि अपने समाज को पुनर्व्यवस्थित कर सकें। संथाल में विकास की प्रवृति की जाँच के इस ढांचे को गौतम ने संथालिकरण का नाम दिया है। उसके शब्दों में इसका अर्थ 'जाति व्यवस्था से मुक्ति और आजाद नस्ली प्रतिष्ठा' होता है।

यह विश्लेषण 'नस्ली समूह' और 'संजातीय स्वरूप' के बारे में अवधारणाओं के केंद्रों की जांच पड़ताल को आवश्यक बना देता है।

कोई आनुवांशिक गिरोह जिसके मूल्य, जीवन यापन का तरीका, एकांतिक पहचान का प्रतीक और चेतना समान हों, उसे नस्ली समूह कहा जा सकता है। एक नस्ली समूह स्पष्ट रूप से जनजातीय सामाजिक संगठन की बहुत सारी विशेषताओं का भागीदार होता है। लेकिन हर नस्ली समूह आदिवासी हो यह आवश्यक नहीं है। आमतौर पर आदिवासी समुदाय का उत्पादन के साधनों से कुछ हद तक ऐतिहासिक जुड़ाव होता है। लेकिन, एक नस्ली समूह का ऐसा जुड़ाव हो भी सकता है, नहीं भी। साथ ही, जबकि आदिवासी समाज बंद समाज होता है, लेकिन नस्ली समुदाय उस हद तक बंद नहीं होता।

नस्ली गिरोह के साथ राष्ट्रीय समाज और राष्ट्रीयता का भी ध्यान रखा जाना चाहिए। राष्ट्र के विचारधारा से, राष्ट्रीय पहचान के प्रतीक का प्रश्न, साधनों पर नियंत्रण, राज्य शक्ति के संगठन का निहित प्रवृत्ति जुड़े होते हैं जो कि अंततः दमन करने की शक्ति के प्रयोग को जन्म देता है। राष्ट्रीयता का अर्थ पहचान के प्रतीक का निश्चित करना, साधनों के प्रति ऐतिहासिक प्राधिकार, लेकिन कोई निहित प्रवृति या राज्य की शक्ति के संगठन की चाह नहीं होती है। एक ओर राष्ट्र और राष्ट्रीयता और दूसरी ओर नस्ली समूह के बीच महत्वपूर्ण विभिन्नता यह होती है कि पहले वाले में अपनी इच्छानुसार सदस्यता ली जा सकती है जबकि दूसरे में सदस्यता जन्मानुसार मिलती है। साथ ही बुनियादी तौर पर

नस्ली समूह की नैतिकता बांध रखती है न कि दमन का डर। इसी के आधार पर किसी नस्ली समूह के सदस्यों में नस्लीय चेतना से जुड़ी होती है। यह नैतिकसमुदाय के रूप में एकत्रित होने की विचारधारा से भी जुड़ी होती है न कि राज्य की दमन की शक्ति को उकसाने वाले के रूप में। आधुनिक समझदारी में, एक राष्ट्र समाज जो कि राष्ट्र राज्य से भिन्न हैं, वे नस्लीय की बहुत सारी विशेषताओं को दर्शाते हैं और आदिवासी समुदाय में विभिन्न किस्म के सामाजिक क्रियाओं को जन्म भी दे सकते हैं, जो कि राष्ट्रीय आंदोलन के दायरे में आता है।

प्रभावकारी संचार के विस्तार और लगभग सभी क्षेत्रों में व्यक्तिगत कल्याणकारी राज्य और कुछ क्षेत्रों में स्थानीय उत्पादों के व्यापारीकरण के कारण, आदिवासी समुदायों के सामने नयी 'चुनौती और प्रतिक्रिया' जैसी स्थिति उत्पन्न हो गयी है। उनका मानना है कि वह अलग अलग रह कर एक दबाव वाला समूह नहीं बना सकते और अंततः अपने लाभों की रक्षा नहीं कर सकते। वह लगभग एक प्रतिक्रियात्मक कार्य के रूप में अपने दरमियान एकता बनाए रखते हैं। विशेषकर उत्तरपूर्व भारत में, सभ्यता के परंपरागत मूल्यों और एकत्रित पहचान के लिए पुनः व्याख्या, पुनरावृत्ति और विस्तार के लगातार प्रयास को देखा जा सकता है। पहचान के विस्तारीकरण के इस कार्य को अपराष्ट्रवाद का नाम दिया जा सकता है, जब परंपरागत विशिष्ट जन संचार के परंपरागत कार्यप्रणाली का उपयोग आधुनिक आवश्यकताओं की पूर्ति में करें और वे इसका प्रचार प्रसार करें। लेकिन एक अवस्था वह भी है जब उद्देश्यात्मक शक्ति और पहचान की विस्तार की दिशा, आधुनिक किस्म के औपचारिक संगठन के द्वारा शिक्षित विशिष्ट जन मुहैया कराएँ। इस तरह के कार्य को आदर्श राष्ट्रवाद कहा जा सकता है। छोटानागपुर का झारखंड आंदोलन या गुजरात का आदिवसिस्तान आंदोलन आदर्श राष्ट्रवादी आंदोलन है।[17] विशिष्ट जन की प्रकृति और संचार के साधन में विभिन्नता के अलावा, अपराष्ट्रवाद और आदर्श राष्ट्रवाद के आंदोलनों में और भी कई विशेषताएं होती हैं। अपराष्ट्रवादी आंदोलनकारों का संविधान बुनियादी तौर पर उनसे जुड़े साधनों के ऊपर परंपरागत नियंत्रण को ही केवल ध्यान में नहीं रखता बल्कि उन साधनों का परंपरागत प्रणाली के अनुसार उपयोग को भी बनाए रखना चाहता है। वह बुनियादी तौर पर नैतिक प्रतीक है। वह राष्ट्र–राज्य की शक्ति की कार्यप्रणाली से सचेत है, लेकिन इसके प्रति उनका उत्तर नैतिक है राजनीतिक नहीं। दूसरी ओर, आदर्श राष्ट्रवादी केवल अपने परंपरागत साधनों के आधार को बरकरार रखने के लिए ही प्रयत्नशील नहीं दिखते बल्कि कल्याणकारी राज्य के द्वारा विकसित सेवाओं और साधनों में अपनी हिस्सेदारी को सुनिश्चित करना चाहते हैं। साथ ही, स्वतंत्र शक्ति के लिए प्रयत्न किए बिना, वह राज्य की शक्ति में हिस्सेदारी चाहते हैं। आदर्श राष्ट्रवाद की हस्तियाँ वर्ग और सामाजिक महत्व के समूहों की ताकत का राष्ट्रीय स्वरूप प्रस्तुत करना चाहती हैं जिसमें राष्ट्र–राज्य वैश्विक तंत्र का एक ऐसा भाग हो जो अधिकतम लाभ के उसूलों पर आधारित हो और निरंतर विभिन्नता पर बल उस की विशेषता हो। ■

ukV l

1. 'मार्क्सवादी मानव विकास और उसके इतिहास का दृष्टिकोण, 1977

2. 'अनुसूचित जनजाति', 1969

3. एम. के. गौतम द्वारा उद्धृत किया हुआ – 'दक्षिण एशिया में जनजातिय जीवन के पहलू', 1978

4. 'मानव विकास और उसका इतिहास', 1948

5. 'प्राचीन विश्व और उसका परिवर्तन 6, 1953

6. 'किसान', 1966

7. वही

8. 'मजदूर, कारखाने और सामाजिक परिवर्तन', 1963

9. 'जनजातिय आबादी पर औद्योगिकीकरण का प्रभाव', ए.एस.आई. पांडित्यपूर्ण लेख, 7052, 1981

10. बी.के. रॉय बर्मन, 'छोटानागपुर का आदिकालीनोत्तर, सामाजिक आंदोलन में।

11. बी.के. रॉय बर्मन, 'जनजातीय भारत की चुनौतियाँ और प्रतिक्रिया', 29–5–2 (संपा.), एम.एस.ए. राव, 1980

12. 'जनजाति को तल्ली करने का हिंदू प्रणाली', विज्ञान और सभ्यता, खंड–7, 1941

13. 'दक्षिण भारत के कूरगों मे ंधर्म और समाज', 1952

14. बी.के. रॉय बर्मन, 'पूर्व उत्तर भारत में सामाजिक परिवर्तन', सामाजिक परिवर्तन का आयाम', एम.एन. श्रीनिवास, 1974

15. 'जाति और आर्थिक सीमांत'

16. 'असंस्कृति अथवा/या उपभाषा : दक्षिण एशियाई भारत में जनजातीय जीवन के पहलू', इथनोलोजिका बर्ने, 1978

17. बी.के. बर्मन, 'उत्तर पूर्व भारत में स्वरूप', 1965

dk;l ck/ku] x|.k fun'k iMkl h n'k&phu] FkkbyM] cek vkj ckXykn'k e tutkfr vkj n'kt 0;fDr

l{ki %

y[kd ने चीन, थाईलैंड, म्याँमार (बर्मा) और बांग्लादेश के जनजातियों और देशज व्यक्तियों के बारे में चर्चा की है। नस्लीय संरचना, प्रवास, उत्पत्ति और इस भौगोलिक क्षेत्र के लोगों के इतिहास की चर्चा की गयी है जिनका भारत से प्राचीन समय में बहुत घनिष्ठ संबंध था।

अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन ने 1957 में अपने 107वें अधिवेशन में 'देशज' (स्थानीय रहवासी) को अमेरिका और ओसमानिया का देशज कहा है। भारत ने इसका समर्थन किया था। वर्तमान में देशज जनसंख्या पर संयुक्त राष्ट्र के कार्यकारी समूह ने निश्चय किया है कि 'देश' शब्द के अंतर्गत जनजाति व्यक्ति भी आते हैं। स्पष्टतया यह एशिया के देशों को स्वीकार नहीं है, यह कहना संभव नहीं है कि अकेले जनजाति दूसरों का अपवर्जन देशज है। हम यहाँ जनजाति और देशज शब्दों पर चर्चा करेंगे, जब कुछ देशों का मानना है कि जनजाति शब्द का अर्थ स्पष्ट नहीं है। लेकिन 19वीं शताब्दी तक यह शब्द कोई स्पष्ट अर्थ नहीं रखता था। साम्राज्यवादियों ने इसे अपनी रुचि के अनुसार प्रयोग किया। कुछ जनजातियाँ विशेषतया उत्तर–पूर्वी भारत के सीमा पार जुड़े हुए देशों बर्मा, चीन, लाफोस, कम्यूचिया, बांग्लादेश जैसे देशों के साथ अपने प्रतिरूप रखती हैं। उसी प्रकार से बंगाल के दार्जिलिंग जिले की कुछ जनजातियाँ, उत्तर प्रदेश, हिमाचल और कश्मीर में सीमा के पार अपने प्रतिरूप रखती हैं। हम मुख्यतया बर्मा (म्याँमार), चीन और बांग्लादेश के जनजातियों पर ध्यान केंद्रित करेंगे। थाईलैंड म्याँमार के संदर्भ में वर्णित करेंगे क्योंकि यह थाईलैंड से जुड़ा हुआ है। वास्तव में पूरा दक्षिण–पूर्व एशिया भारतीय स्थिति पर निर्भर है।

चीन के बारे में बात करने से पहले उत्तर और उत्तरपूर्व चीन के मंगोलों के बारे में कुछ कहना जरूरी है क्योंकि मध्य युग के इतिहास में उनकी उपस्थिति उत्तर भारत के नस्लीय संघटन एवं नस्लीय प्रक्रियाओं के इतिहास से जुड़ती है।

phu] cek vkj ckXykn'k e uLyh; ljpuk %

phu %

हान चीनी चीन के मुख्य लोगों में शुमार होते हैं जो जनसंख्या में 93 प्रतिशत तक हैं और बाकी राष्ट्रीय अल्पसंख्यक कहे जाते हैं। राज्य सांख्यिकीय ब्यूरो द्वारा प्रस्तुत

चीन के तृतीय जनगणना आंकड़ों के अनुसार चीन में 55 राष्ट्रीय अल्पसंख्यक देश की जनसंख्या में 7 प्रतिशत है। तिब्बतियों को छोड़कर (3.4 मिलियन) उनमें जिंगफो, लिशो, जो कि उत्तरी–पूर्व भारत में पाये जाते हैं, कारेन (जिनका निवास अण्डमान समूह के द्वीप में है।) सूचीबद्ध राष्ट्रीय अल्पसंख्यक के अलावा चीन में बड़ी मात्रा में नस्लीय समूह जैसे कि मिशमीज जिनका प्रतिरूप भारत में पाए जाते हैं।

वो अल्पसंख्यक जिनकी संख्या 1957 में एक मिलियन से अधिक थी जिनमें चुआंग यूहार, हुई (चाइनीज मुस्लिम) यी (लोलो) तिब्बत माओ, मंचूरियन, मंगोलियन, पायी और कोरियन। इन व्यक्तियों के साथ एक मिलियन जनसंख्या जिसमें कि तुग, याओ, पाई, तूचिया और कजाख भी सम्मिलित हैं। चिंग–पो (गोग्फा) जो कि अरुणाचल के सिंघों की तरह मिलते हैं की संख्या लाखों में है।

सन् 1967 में यह सूचित किया गया कि राष्ट्रीय अल्पसंख्यक देश में भौगोलिक क्षेत्र के 60 कृषक भाग का उपयोग करते हैं। सन् 1987 में यह भाग घटकर 50 कृषक रह गया। यद्यपि अल्पसंख्यकों के निवास का क्षेत्र कम होना वास्तविक था। इस मामले में यह स्पष्ट नहीं था कि यह बंटवारे के ढांचे में हटाना था या फिर क्षेत्र को कानूनी मान्यता प्राप्त थी। यहाँ यह सबसे महत्वपूर्ण है कि आबादी की तुलना के हिसाब से अल्पसंख्यक क्षेत्र चीन के संरक्षित जंगलों के समूह और महत्वपूर्ण खनिज संसाधनों से परिपूर्ण था। इसके अतिरिक्त उत्तर और पश्चिम में मंगोलिया, झिगियान और तिब्बत के आंतरिक भाग के निवासी पारंपरिक पषुपालक और ग्रामीण बंजारे थे। दक्षिण में पहाड़ी व्यक्ति पहाड़ी खेती में शामिल थे।

1960 के प्रारंभ में, मुश्किल से पूरे देश में 8 मिलियन अथवा 20 कृषक राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों ने शहर, गांव और नगर में अपना स्थाई निवास स्थान बनाया था। इसके अतिरिक्त अल्पसंख्यकों के बहुत से सदस्य दूसरे समूहों के साथ रहते थे। उदाहरण के तौर पर 'हुई' 1600 से अधिक स्थानों (काउन्टीज) में रहते थे जो कि देश की 70 कृषक से ज्यादा स्थानों पर बसी हुई थी।

'युन्ना' जो कि भारत से एक पतले रास्ते द्वारा बर्मा की धरती से अलग है 55 राष्ट्रीय अल्पसंख्यक में से 24 का निवास स्थान है। यह नस्लीय और सांस्कृतिक रूप से पूर्वी एशिया का सबसे समृद्ध क्षेत्र है। इसके साथ ही इसकी तिब्बत, शेष चीन, म्यामार, लाओस और वितयतनाम के साथ इसकी साझा सीमा है। चीन के इस भाग में शत्रुता की कोई खबरें नहीं हैं।

24 नस्लीय समूह सरकारी तौर पर राष्ट्रीय अल्पसंख्यक के रूप में 'भाषिक, सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक' आधार पर मान्यता प्राप्त हैं। इन गुणों के आधार पर यह युन्नान की 34 कृषक जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करते हैं यह अकारण ही नहीं है कि वास्तविक कृषक ज्यादा है जैसा कि जनगणना चीनी सरकार द्वारा 1950 में जारी किया गया था, में 240 से ज्यादा नस्लीय समूह युन्नान क्षेत्र में पंजिकृत थे।

सांस्कृतिक क्रांति के दौरान इन समूहों पर आपस में एक होने का भारी दबाव था। यह लोग जनसामान्य में अपनी भाषा के प्रयोग, अपनी खास वेशभूषा को पहनना और अपनी परंपराओं को मनाना भूल गये।

राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों के प्रति चीन की वर्तमान नीतियाँ जबरदस्त विरोध की नहीं बल्कि समझाने–बुझाने की नीति पर है। यह नीतियाँ दूसरी चीजों के साथ–साथ अल्पसंख्यकों के लिए संस्थानों या विश्वविद्यालयों द्वारा चलाई जाती हैं। खासतौर से अल्पसंख्यकों के लिए विश्वविद्यालय हैं विशेष रूप से उन सदस्यों के लिए जो नस्लीय अल्पसंख्यक हैं। अल्पसंख्यक को एक करने का दबाव अत्याचार पर आधारित था और प्रत्यक्ष बल प्रयोग ने उसे बहुत ज्यादा घटा दिया था।

चीनी कम्युनिस्ट के प्रारंभिक शासन काल में अल्पसंख्यकों से संबंधित सभी क्षेत्र बिना किसी आकार के स्वायत्तशासी क्षेत्र कहे जाते थे। सन् 1954 ई. में संविधान के प्रचार प्रसार के बाद राष्ट्रीय क्षेत्र भागों में बंट गये थे। स्वायत्तशासी चे और स्वायत्तशासी हसेन।

क्षेत्र, चे और हसेन एक सूबे के बराबर, विशिष्ट जिला और काउन्टी के बराबर था। सन् 1960 में यहाँ 5 स्वायत्तशासी राज्य, 29 स्वायत्तशासी चे और 65 स्वायत्तशासी ह्वेन थे।

वर्तमान में स्वायत्तशासी क्षेत्रों का शासन संस्कृति के संदर्भ में कुछ बहुलवादियों के हाथों में है। यद्यपि आपस में एक होना आज भी सूक्ष्म तरीकों से जारी है जैसे कि उदाहरण के लिए सामाजिक जीवन के ऊपर उठाने की तकनीक और शिक्षा के मार्ग द्वारा ऊपर उठाना।

Fkkbyl.M

थाइलैंड की अनुमानित जनजाति जनसंख्या 5 लाख है, जिसे इस प्रकार बांटा जा सकता है।

जनजाति	कुल जनजाति जनसंख्या	थाइलैण्ड में जनसंख्या	दूसरे देश जहाँ यह पर्याप्त मात्रा में पायी जाती है
हेमोंग मियो	6000,000	58,000	चीन, वियतनाम, लाओस
केरन	3000,000	200,000	बर्मा
याओ	8000,000	19,000	चीन, वियतनाम, लाओस
लिसू	400,000	10,000	चीन, बर्मा
लेहू	200,000	18,000	चीन, बर्मा, लाओस
अखा	100,000	9,000	चीन, बर्मा, लाओस
खा			
खातिन		23,200	
खा मु		4,150	
लावा (लुआ)		800	

थाईलैंड और दक्षिणपूर्व एशिया में कहीं भी जनजाति और अल्पसंख्यक जनसंख्या की एक निश्चित परिभाषा और गुणों का निर्धारण करना मुश्किल है। ना ही भाषा, ना ही साक्षरता, और ना ही परिवेश अनुमान के लिए प्रभावी तरीका है व्यक्तियों की जिंदगी और केंद्र सरकार के साथ उनके संबंध निर्धारण के। साक्षरता का मापदण्ड कभी–कभी जनजातियों को अल्पसंख्यकों से अलग करने के लिए प्रयोग किया जाता है। लेकिन यहाँ भिन्नताएँ करना भी है क्योंकि बहुत से याओ और मिओ चीनी भाषा में साक्षर हैं और मेरस मिशनरियों द्वारा अविष्कृत की गयी लिपि का सैकड़ों वर्षों से प्रयोग करते आ रहे हैं। इसी प्रकार परिवेश और अर्थव्यवस्था पर आधारित मापदण्ड भी जनजातियों को दूसरी जनसंख्या से अलग करने में सहायक नहीं होती हैं। थाइलैंड के कुछ भागों में थाई लोग पहाड़ों पर रहते हैं और पहाड़ों पर सूखी खेती करते हैं ना कि सिंचाई खेती। धर्म इसमें कोई भूमिका नहीं निभाता है। ईश्वर की पूजा कुछ थाई समुदायों में बौद्ध धर्म से ज्यादा महत्वपूर्ण है और जनजाति व्यक्ति जैसे लुआ दावा करते हैं कि वह शताब्दियों से बौद्ध हैं।

यह देखा गया है कि विकास संबंधी गतिविधियों ने थाई के जनजाति व्यक्तियों के जीवन की स्थितियों को बुरी तरह से प्रभावित किया है। सन् 1960 में सड़कों का जाल संसाधनों की लूट के उद्देश्य के साथ–साथ पहाड़ी क्षेत्रों में और विद्रोह के दौरान जल्दी पहुंचने के लिए बिछाया गया था। थाई विदेशी खनिज कंपनियाँ सड़क निर्माण के लिए स्थापित की गई थी। बल्कि जनजातीय भूमि पर अतिक्रमण करने के लिए। इस विकास का बुरा प्रभाव यह हुआ कि अनेक थाई परिवारों का आगमन, उनके प्रवाह का प्रदूषण और भूमि क्षरण हुआ। डूबती अर्थव्यवस्था के आधार पर गरीबी और कुपोषण बहुत सी पहाड़ी जनजातियों खासतौर से केस फैलने लगा। बहुत से संप्रदाय अपनी आवश्यकतानुसार (चावल का उत्पादन नहीं कर पाते और युवा व्यक्ति खानों और चाय के बागानों में नौकरी के लिए भटकने लगे और पारिश्रमिक मजदूर हो गये होंगे। ओपियम बागों में जहाँ वे कहीं के नहीं व्यक्ति नाम से जाने जाते। कुछ युवा औरतें भी गांव को छोड़ने के लिए मजबूर हुईं और रोजगार की तलाश में नगर गयीं और कुछ सेक्स–पर्यटन के लाभदायक धंधे में वेश्या बन गयीं। जब केरन और दूसरी पहाड़ी जनजातियाँ थाई समुदायों में लौटीं तो फिर उनके साथ भेदभाव किया गया, उन्हें कम मजदूरी दी गयी उनसे सबसे निकृष्ट कार्य कराया गया। नैतिक पतन की भावना ने बहुत से केरन्स को प्रभावित किया।

होंग, आखा, लिशु और लाहु ने समूहों का स्वर्णिम त्रिभुज रहने का निवास स्थान बनाया, होंग जो कि संख्या में 50,000 थाइलैण्ड में, लेकिन 5 मिलियन से ज्यादा चीन में थे, पिछले सौ वर्षों के दौरान वर्तमान निवास थाईलैण्ड में प्रवास कर गये थे। इन सब पहाड़ी जनजातियों से संबंधित बहुत से व्यक्ति अफीम के पौधों की खेती से जुड़े हुए थे।

E;kekj

1989 तक म्याँमार बर्मा के नाम से जाना जाता था। मई 1989 में सैनिक शासन ने घोषित किया कि औपचारिक नाम वर्मा जिसका अर्थ वर्मन जाति तक सीमित है। जबकि म्याँमार, देश की सभी जातियों को सूचित करता है। यह देश में सभी विभिन्न नस्लीय जातियों के बीच प्रतीकात्मक पहचान का सूत्र है।

सन् 1992 में म्याँमार की कुल जनसंख्या 43.7 मिलियन थी। बर्गर (87) ने अनुमानित किया कि कुल जनसंख्या की 30 प्रतिशत जनसंख्या जनजातियों से संबद्ध है।

पहाड़ी क्षेत्र जो कि अब बांग्लादेश, भारत, चीन, लाओस और थाईलैण्ड के साथ अंतर्राष्ट्रीय सीमा के रूप में है, उन लोगों के हिस्से में है जो बोलचाल में बर्मा के नहीं हैं तथा वह संस्कृति के बहुत से मामलों में भी भिन्न हैं।

म्याँमार के सरकारी संस्करण के अनुसार 'म्याँमार संघ' आठ मुख्य 'राष्ट्रीय जातियों' से मिलकर बना है जिसे 135 'राष्ट्रीय जातीय समूहों' में उपविभाजित किया जा सकता है। बर्मन, षान, केईन (केरन), राखीन (अराकनी) मोन, चिन, कचिन और काया मुख्य राष्ट्रीय जातियाँ हैं। इसके अतिरिक्त सरकारी तौर पर यह कहा जाता है कि यह राष्ट्रीय जातियाँ सामान्य मंगोलियन समूह की देशज राष्ट्रीय जातियाँ हैं।

भाषा विज्ञानियों ने लक्षित किया है कि म्याँमार के बहुसंख्यक व्यक्तियों की भाषा तिब्बत–बर्मन, ताई–चीनी और मोन–खमेर समूहों से उत्पन्न हुई हैं। कुछ बर्मा के विद्वान दावा करते हैं कि उनके मंगोलियन पूर्वज 2000 ईसा.पू. के अंत में मध्य एशिया से म्याँमार पहुँचने लगे थे। यद्यपि इस मामले पर अभी तक कोई सामूहिक सहमति नहीं हो पाई है। लेहमैन (67) का मानना है कि इतिहास हमें पहाड़ी और मैदानी दोनों के निवासी व्यक्तियों को दिखाता है जो बहुत सी शताब्दियों की विचारणीय दूरी तय करके दक्षिण पश्चिम चीन और उत्तर पूर्व एशिया के क्षेत्र में अपने वर्तमान तक पहुँचे हैं। बर्मा में बहुत से तिब्बत–बर्मन भाषियों के बीच प्रत्यक्ष भाषागत संबंध साफ दिखाते हैं कि ज्यादा पहले नहीं इन विभिन्न भाषाओं वागा और चिन के पूर्वजों ने एकिन भाषिक समूह के बीच एक संबंध स्थापित किया था। इस बात के कागजी साक्ष्य मौजूद है कि ऐतिहासिक बर्मन राष्ट्र एकत्रित व्यक्तियों के बीच से निश्चित हुआ है जो बर्मा के आधे उत्तरी पहाड़ी और मैदानी भागों में स्थित थे।

लीच (63) ने बर्मा को 6 भागों में बांटा है। भाग ए मुख्य इरावदी घाटी है जिसे मुख्य बर्मा का हृदय कह सकते हैं जिसका ध्यान अवा और बाद में मंडल पर था जो कि एक स्वतंत्र अस्तित्व के रूप में सन् 1885 तक रहे थे। इस क्षेत्र में देश की जनसंख्या की 66 प्रतिशत जनसंख्या निवास करती है। 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में देश के दक्षिणी भाग को ब्रिटने ने नाटकीय ढंग से अपने कब्जे में कर लिया था।

अराकान पश्चिमी समुद्र किनारे स्थित क्षेत्र है। क्षेत्र ए में स्थित अरकानी अल्पसंख्यक

मुस्लिम हैं। शान राज्य और केरनी (अब कोया राज्य) क्षेत्र सी में स्थित है। उपनिवेश काल के दौरान यह क्षेत्र ब्रिटिश सरकार से संधि संबंधों रिश्तों के कारण बहुत बड़ी संख्या में मामूली छोटे–छोटे राज्यों में निहित था। इनमें से अधिकांश राज्यों में राज करने वाले राजकुमार और जनसंख्या का बड़ा समूह शान थे, लेकिन यहाँ बड़ी मात्रा में पहाड़ी व्यक्ति भी थे जो अपने बर्मी नाम टौंगथू (पहाड़ी आदमी) जैसे पलाउर्ग समूह के रूप में देखे जा सकते थे। युन्नान में चीनी शान की जातीय संस्कृति म्यॉंमार के शान से अधिकांशतः मेल खाती थी। लाओस में मांग घाटी के सुदूरपूर्व लोगों के भी समान थी। एक तरफ दक्षिण पूर्व के लोगों में कोई सांस्कृतिक विभिन्नता और नई नस्ली सीमा नहीं थी दक्षिणी शान राज्यों और केरन्नी और दूसरी तरफ थाइलैंड के उत्तर पश्चिम क्षेत्र (चिपांगमी) में हाल ही में बर्मा प्राधिकरण ने चीनी सहयोग से इरावड़ी क्षेत्र में समुद्री अड्डा बनाया है। कचिन राज्य भाग डी में स्थित है। यहाँ पर पहाड़ी आदमी (कचिन) घाटी के व्यक्तियों (शान) के मुकाबले ज्यादा प्रभावशाली है। ब्रिटिश शासन के दौरान इनमें से अधिकांश क्रिश्चियन बन गये थे। कचिन क्षेत्र के पश्चिम में भाग ई है जहाँ पर कचिन की जगह 'चिन' और 'नागा' रहते हैं। भाग एफ देश की एक पेटी है जिसमें समुद्री तट और उसका पिछला इलाका पहाड़ी देश का भाग स्थित है। यह केअन का गृह प्रदेश है और भाग ए में जाने का छोटा रास्ता है। कचिन और चिन की तरह इन पर भी ईसाई मिशनरी का तीव्र प्रभाव पड़ा है। पूर्व ब्रिटिश–पूर्व नियम में भाग एफ बर्मीज जनसंख्या जो तलाईंग्स के नाम से जानी जाती थी का गृह प्रदेश और यूरोपियनों का जो मान्स नाम से जाने जाते थे। ऐसा दिखता है कि वे और बौद्ध केरन्स एक जैसे थे। विभिन्न नस्लीय समूहों में कृषक का बंटवारा 1931 के आंकड़ों के आकलन पर आधारित था। और उनकी अनुमानित संख्यात्मक शक्ति 1662 के सरकारी आंकड़ों पर आधारित थी। बर्मीज शान में उनके धर्म नीचे दिये गये हैं।

तकनीकी भाषाविद् नीचे दी गई सारणी के वर्गीकरण से सहमत नहीं हैं –

uLyh; lewg	—"kd ¼1931½	tula[;k yk[kksa eas ¼1962½	/kel
बर्मीज	68.6	13.40	बौद्ध
अरमानीज	7.7	1.55	0.5 लाख मुस्लिमबौद्ध
शान	8.7	1.75	बौद्ध
केरन	7.7	155	1.25 बौद्ध, 0.25 क्रिश्चियन
मान	2.4	0.45	बौद्ध
चिन, कचिन	5.5	1.10	क्रिश्चियन और पागान
पलेंग	.....	.....	
	100.00		

लीच (63) का मानना है कि वर्तमान में प्रयोग की जानेवाली यह श्रेणियाँ केरन,

कचिन, चिन ब्रिटिशों की देन है। बर्मीज अपने सभी गैर–बौद्ध पड़ोसियों को अपमान जनक शब्द का–यिन जिसका अर्थ 'असभ्य गुलाम' कहते थे। केरन कचिन चिन इसी शब्द के बोलीगत भेद के अंग्रेजी संस्करण हैं।

सारणी में समूह अथवा भाषा के नाम के प्रयोग में मानकीकरण का अभाव है। एक ही समूह के लिए अलग–अलग मानदण्ड प्रयोग किये जाते हैं (जैसे– लाल केरन या केरन्नी के लिए काया)। आगे विभिन्न दृष्टिकोणों के संदर्भ में इस शब्द का लोगों द्वारा जनसंख्या की विभिन्न स्थितियों पर लागू किया जाता है। तई–दई, बर्मी शान्स के द्वारा प्रयोग किया जाता है कामती शान के संदर्भ में और अहोम शान के लिए। लेकिन समान शब्द दूसरे तई प्रवक्ता के द्वारा बर्मी शान के संदर्भ में प्रयोग किया जाता है।

तकनीकी भाषाविद भी भाषा के वर्गीकरण से सहमत नहीं है। यद्यपि सिनो–तिब्बत भाषा का सबसे बड़ा परिवार समूह और तिब्बत–बर्मन शाखा जिससे कि सामान्यतया बर्मा भाषा को संबद्ध स्वीकार किया जाता है। विषय तथा परिवार के साथ उप–समूह, विवाद का मामला है। उदाहरण के लिए, मियाओ–याओ और तई कुछ प्राधिकरणों द्वारा शिनो–तिब्बत की शाखा माना जाता है जो कि चीनी और तिब्बत–वर्मा के बराबर है, जबकि दूसरे प्राधिकरण उसे उससे असंबद्ध मानते हैं। मियाओं को कभी–कभी मोन–खमेर (भाषा) से जोड़ा जाता है। सारांश में यह कहा जा सकता है कि जहाँ कुछ विद्यार्थी चीनी, तई और मियाओं के अलग–अलग परिवार से जोड़ते हैं वहीं दूसरे विद्यार्थी मिया–याओ और तई को शिसो तिब्बत परिवार में शामिल करते हैं।

ckXykns'k

बांग्लादेश विश्व का सबसे घनी आबादी वाला देश है। जिसका जनसंख्या घनत्व 969 प्रतिवर्ग कि.मी. जो शेष विश्व के 63 प्रतिवर्ग किमी. घनत्व के मुकाबले सबसे ज्यादा है।

मैलोनी (74) ने लक्षित किया है कि अगर ज्यादा नहीं तो कम से कम दस लाख, (1 मिलियन) जनजाति बांग्लादेश में हैं। उसके अनुसार देश में 4 भाषायी श्रेणी जनजातियाँ हैं। अ. तिब्बत–बर्मा – (i) कुकी–चिन चिटगांव पहाड़ी क्षेत्र बर्मा के समतुल्य 2. बाड़ा (बोड़ा) चिटगांव पहाड़ी क्षेत्र और बांग्लादेश के उत्तरी पूर्व में और जैसे गारो, कहारी, और त्रिपुरी। (ब) आस्ट्रो – एशिया और मोन–खमेर – (i) सिलहट में खासी बनजिस मेघालय की सीमा से सटी हुई (ii) बांग्लादेश में स्थित मुंडा समूह और सिलहट में चाय बागान श्रमिक और राजशाही मंडल में कृषक (स) द्रविड़ियन – इस भाषा के बोलने वाले मुख्यतः ओरियन हैं जो ज्यादातर चाय बागान श्रमिक के रूप में आए थे। (द) इंडो आर्यन – जैसे– पलुआ, जलिया, काईबार्तो आदि व्यक्ति। जो भारतमें अनुसूचित जनजाति मानी जाती है उन्हें मैलोनी ने जनजाति के रूप में सूचीबद्ध किया है। आखिरी समूह के रहने तक, बांग्लादेश की जनजाति जनंसख्या कुछ विद्वानों द्वारा लगभग 0.5 मिलियन अनुमानित की जाती है।

सन् 1974 में निम्नलिखित समूह बांग्लादेश में भाषायी आधार पर जनजातीय में वर्गीकृत किये गये थे – 1. बांजागी 2. चकमा, 3. गारो, 4. खासी, 5. क्यांग, 6. खुई, 7. कुकी, 8. लुशाई, 9. मरमा और महा, 10. मुरुगर और म्रो, 11. पांखु, 12. रियाँग, 13. संताल, 14. तांचंग्या, 15. तिपेराह

चटगांव पहाड़ी क्षेत्र में रहने वाली चकमा जनजाति सबसे ज्यादा प्रचलित समूह है। इनकी अनुमानित संख्या 220,000 है यह माना जाता है कि यह ज्यादा कुकी चिन भाषा नहीं बोल सकते हैं। यह चिटगांग बोली का भ्रष्ट रूप बोलते हैं। मैलोनी ने यद्यपि बर्मा में लिखा उनका साहित्य पाया था। यह एक समान वर्ग के बौद्धिस्ट हैं जो म्याँमार में पाये जाते हैं।

चकमा लोग विकास के नाम पर सताये गये लोग हैं। 1960 के प्रारंभ में बहुत से लोग कापतई बांध के निर्माण के चलते यहाँ से चले गये थे। जिन्होंने भारत में शरण ली बाद में वे अरुणाचल में बस गये। जो वापिस लौटे उनका सही प्रकार से पुनर्वास नहीं हो पाया। दूसरी तरफ अंग्रेजों ने स्वेच्छा से चकमा प्रमुख के साथ 1900 में जो विशिष्ट प्रावधान बनाया था, उसे वापस ले लिया। उनमें से बहुतों ने जीवित रहने के लिए राज्य के दमन के बावजूद आरक्षित वनों पर अतिक्रमण कर लिया। इसके फलस्वरूप थोड़ी बगावत फैल गयी। उन्हें नियंत्रण में रखने और जनसंख्या का भार कम करने के लिए बंगाली कृषक पहाड़ी क्षेत्र के छोटी घाटियों में नीची जमीनों से बस गये, जिससे बगावत अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया। बहुत से चकमा भारत में बस गये, जिससे भारत में नई सामाजिक–राजनीतिक कठिनाइयाँ तथा बांग्लादेश और भारत के बीच राजनीतिक समस्याएँ भी उत्पन्न हुईं।

exkfy;u fojklr

चीन, थाईलैण्ड, बर्मा और बांग्लादेश के पहाड़ी क्षेत्र में जैसा कि मैंने लक्षित किया है ज्यादातर व्यक्तियों में मंगोलों के वंशानुगत गुण है। प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष के अतिरिक्त वह मंगोलों द्वारा शुरू की गयी ऐतिहासिक प्रक्रिया से भी प्रभावित है।

10वीं शताब्दी के प्रारंभ से लेकर तांग वंश के खत्म होने तक चीन का उत्तरी सूबा विदेशी सम्प्रदायों द्वारा राज्य किया गया जो कि स्वयं में झूठा दावा करके खुदं को चीन को सम्राट घोषित करते थे। इन वंशों में पहला वंश लियाओगृह (916–1125 ई.) खितोग (केतर) वंश का था। खिते को सामान्यतया तुंगुज से उत्पन्न माना जाता है लेकिन तर्कों से पता चलता है कि वे मंगोल थे। लियाओगृह के प्रारंभिक शासकों ने मंचूरिया, मंगोलिया, और उत्तरी चीन पर मजबूती से अपना प्रभुत्व जमाया था जहाँ वे चीनी संस्कृति से प्रभावित थे। खिते का भाग ओरा खिते (बैक खिते) पश्चिमी एशिया की तरफ गये लेकिन वहाँ काशगढ़ के राजा ने उन्हें हरा दिया था। सबसे ज्यादा सकल अभियान उत्तरी रास्ते में तीन शान के उत्तर में था। वे चु घाटी में बस गये और राजा ने गुरखान (खानों के खान) की उपाधि धारण की। 12वीं शताब्दी के मध्य गुरखान ने समरकंद के खान और खुरासन के सुल्तान को अपने अधीन कर लिया और उनके राज्य को भी। 12वीं शताब्दी के अंत में कुछ समय

के लिए ख्वारिज्म क्षेत्र में एक मजबूत राजनीतिक केंद्र के रूप में उभरा। लेकिन शासक अति उत्साही और अत्याचारी थे। जिसकी वजह से राजनीतिक अव्यवस्था फैल गयी। इस समय से भी रिच और खसधरिया में तेमुजिन जिसे चंगेज खान के नाम से जाना जाता है कि वे नेतृत्व में तावर बाजारों का एक समूह प्राप्त हुआ।

बर्थोल्ड (62) का मानना है कि चंगेज खान द्वारा स्थापित किया गया साम्राज्य राजनीतिक लड़ाइयों का ही परिणाम नहीं था बल्कि प्रचलित तत्वों और निरंकुश शासन के बीच वर्ग संघर्ष का भी परिणाम था। चंगेज खान ने सामंती प्राधान्य की पहल की अपेक्षा अन्य जनसंख्या के प्रमुख वंशों के बीच जागीरदारी प्रथा का प्रारंभ किया।

तुर्किस्तान के समतल मैदानों में मंगोलिया के तातार प्रभावी हो गये थे। तातार उस समय मंगोलो का प्रसिद्ध नाम था और बाद में चीनी, मुस्लिम और यूरोप वालों ने इसे मंगोल आक्रमणकारियों को संबोधित करने के लिए प्रयोग किया।

सांकृत्यायन (64) के अनुसार चंगेज खान ने कुतलुक कागन से अलग दिखाने के लिए स्वयं अपनी जाति का पुनःनामकरण किया था।

मंगोलो में पहले अध्यापक और राज्य के सरकारी आदमी यूगर्स थे। इसके बाद चंगेज ने अपना साम्राज्य चीन और मुस्लिम देशों तक फैला दिया था। उसने यूगर्स को अपने न्यायालय और कार्यालय में काम पर बनाए रखा। करैत और यूगर्स में अधिकांश बहुसंख्यक बौद्ध थे। बौद्ध धर्म मंगोलो के राष्ट्रीय स्वाभिमान का प्रतीक था और आज तक स्वाभिमान है।

चंगेज खान के साम्राज्य के अंतिम दिनों में मैदान में दो तीव्र राजनीतिक विरोध के रुझान दिखाई देने लगे थे। पहला उन लोगों द्वारा प्रतिनिधित्व किया जा रहा था, जिन्हें सैनिक पार्टी कहे जाते थे। जो कि पराजित लोगों को लूटना और उन्हें नष्ट कर देना चाहते थे और उनकी कृषि भूमि को चरागाह में बदल देना चाहते थे। दूसरे समूह की मान्यता थी कि साम्राज्य के पराजित लोगों के साथ नियमित संबंध होंगे और राजतंत्र नौकरशाही में बदल जायेग चीन के मॉडल जैसा। इस दृष्टिकोण के अनुसार दूसरे समूह के पास जो राजसता था वही चंगेज खान के साम्राज्य के पतन का मुख्य कारण था।

सन् 1210 में चंगेज खान ने पेकिंग को जीत लिया। सन् 1235 में चंगेज खान की मौत के आठ साल बाद मंगोलों ने दक्षिण के संग साम्राज्य पर आक्रमण कर दिया। लेकन यहाँ उनकी प्रगति धीमी थी। मंगोल मूलरूप से आवारा घुड़सवार थे और दक्षिण चीन में पहाड़ों को काटकर जंगलों और जलमार्ग को काटकर बनाया गया देश घुड़सवार फौज के लिए उपयुक्त जगह नहीं थी। जबकि मंगोल सालों साल युद्ध में व्यस्त थे लगभग 40 साल तक जब तक संग राज्य दक्षिण चीन में नहीं मिल गया। 1279 में पूर्ण रूप से खत्म कर दिये गये एक समुद्री युद्ध में वर्तमान हाँग–कांग के समुद्री तट पर। मंगोलो द्वारा चीन को जीतने के तथ्य की ओर हुडसन नदी ध्यान दिलाती है जिसके फलस्वरूप बड़े पैमाने पर दक्षिण–पश्चिम चीन के जनजाति व्यक्ति भी निर्वासित हुए। खासतौर से चंगेजखान के

पोते कुबलई खान के युन्नान राज्य के कब्जे में करने के बाद बहुसंख्यक जनजाति व्यक्तियों के केंद्रीय स्थान ने तब आंदोलन ने अपने आप ही जनसंख्या विवरण (मृत्युदर–जन्मदर) और राजनैतिक ढांचा उत्तरी–पूर्वी का बदल दिया।

सभी पूर्वी असमान मंगोल आक्रमणकारियों की तरह जिन्होंने एशिया के विस्तृत भू–भाग पर राज्य किया था, चीनी विद्वानों को सरकारी नौकरी नहीं दे सके। उन्होंने अपने विषय में दूरवर्ती देशों से सहायता प्राप्त करने को प्रमुखता दी, और उनके बाद विदेशियों द्व ारा नौकरी की गई। इसलिए चीन पर पारसी, मध्य एशिया के मुस्लिम और दूसरे विदेशियों जिसमें वियतनामी मार्को पोलो जो कि मंगोल साम्राज्य में राज्य अधिकारी था बीस साल तक उसके द्वारा शासन किया गया। पीकिंग को स्थायी राजधानी बना दिया गया था।

मंगोल शासकों ने तिब्बत के बौद्ध भिक्षुओं को संरक्षण प्रदान किया, जिन्होंने चीन में बौद्ध धर्म का लामा रूप प्रतिष्ठित किया था। इसलिए यह स्वाभाविक था कि चीनी मंगोल वंश को अजनबी और असभ्य समझते रहे तथा समापन तक लड़ते रहे। सन् 1249 ई. में कुबलई खान की मौत के बाद मंगोल वंश में कोई उपयुक्त उत्तराधिकारी शासक नहीं बना। चारों और अकुशलता और भ्रष्टाचार एवं बगावत फैल गयी तथा सन् 1368 ई. में एक नये राजवंश का उदय हुआ। ■

n[k x, lnHk xFk

बर्थोल्ड, वी.वी. 1962 फोर स्टडीज ऑन न हिस्ट्री ऑफ सेन्ट्रल एशिया (वी. एवं टी. मिनोर्स्की द्वारा रूसी से अनूदित) भाग–1, ई.जे.ब्रिलःलीडेन

बर्गर जुलियन 1987, रिपोर्ट फ्रॉम द पन्टियर जेड बुक्स लि. लंदन और न्यू जर्सी

कुन्स्टेन्डर, पीटर 1967, साउथ ईस्ट एशियन ट्राइब्स, माइनारिटीज एण्ड नेशन्स प्रिंसिटन यूनिवर्सिटी प्रेस

लीक. ई. आर., 1963 द पोलिटिकल फ्रयूचर ऑफ वर्मा (संपा.) बर्ट्रेन्ड डी. जुवेनेल, फ्रयूट्रीबः द्रोज जिनेवा

लेहमैन, के. 1967, एथनिक कैटेगरीज़ इन बर्मा (संपा.) कुन्स्टेडर पीटर सुप्रा

मेलोनी, क्लारेंस 1974, पीपुल्स ऑफ साउथ एशिया, होल्ट, रीनहार्ट और विन्स्टन, इंकः न्यूयार्क

सांस्कृत्यान, राहुल, 1964, हिस्ट्री ऑफ सेन्ट्रल एशिया, न्यू एज़ पब्लिशर्स प्राइवेट लि. कलकत्ता

of'od ifjç{; e tutkrh; ykx

lkgfyUl जनजाति को नियोलिथिक युग से चल रही नृजातीय विरासत मानते हैं (साहलिन्स 1968 : 7)। उसके अनुसार जनजातीय लोग और संस्कृतियां शिकारियों की सांस्कृतिक क्षमता की उद्‌भवजनित अग्रगति से परे हैं। जनजाति निर्माण में सगोत्रता केंद्रीय भूमिका निभाती है, लेकिन यह सगोत्रता पर पूर्णतः आधारित नहीं होता। धर्म, आयु–श्रेणी–संघ तथा सैन्य संगठन इससे प्रायः संबंधित होते हैं। जनजातीय समाज के वस्तुनिष्ठ संगठन को 'अंतर्निहित अराजकता का दमनकारी रूपांतरण' कहा जा सकता है। भूभागीय अधिकार क्षेत्र जनजातियों से संबंधित हैं, लेकिन समाज के संगठन का आधार होने के मामले में भूभाग के बजाय आंचलिकता समाज में सन्निहित है (उक्त : 4)।

गोदेलियर के अनुसार जनजाति नामक सामाजिक निर्मिति की पहचान दो भिन्न तरीकों से होती है : पहला, समाजों के उद्‌भव के इतिहास में एक चरण के रूप में, और दूसरा, कौटुंबिक बंधनों के आधार पर संगठित समाज के रूप में जो इसे बहुकार्यी समूह होने में स़क्षम बनाती है (मैरिन 1978)।

जनजातियों की संकल्पना में इस द्वैत का एक महत्वपूर्ण निहितार्थ है। विश्लेषणात्मक औरं ऐतिहासिक तौर पर यह कल्पना करना संभव है कि मानव और प्रकृति के बीच सहभागित्व और पारस्परिकता (प्रतिस्पर्धा और उत्पीड़न के बजाय) को आदिमता से अलग किया जा सकता है। इस लिहाज से एक जनजाति अपनी आदिमता बढ़ाती जा सकती है और अपनी सामाजिक सीमा को, जो उसके अस्तित्व की एक अनिवार्य विशेषता होती है, बरकरार रख सकती है (राय बर्मन 1983)। इस विश्लेषणात्मक अभिविन्यास के साथ राय बर्मन ने सत्तर के दशक में उत्तरआदिमता की संकल्पना सूत्रबद्ध की (राय बर्मन 1978)।

जांबिया और मध्य अफ्रीका के जनजातीय धार्मिक आंदोलन, लेंसिया चर्च की परिघटना अत्यंत भिन्न परिघटना है। इस चर्च की शुरुआत एलिस लेंशिया नाम की एक अफ्रीकी महिला द्वारा 1953 में की गई थी जो चर्च के मतानुसार मरने के बाद जादू–टोना और बीमारियों से अफ्रीकी लोगों को बचाने के लिए ईश्वरीय आदेश से जीवित हो गई थी। हाल के वर्षों में विभिन्न जनजातीय क्षेत्रों से अधिकाधिक साक्ष्यों का अभिलेखन किया गया हैं जो सोवियत विद्वान इस्मागिलोवा के इस तर्क का समर्थन करते हैं कि औपनिवेशिक अविधि के अध्ययन के प्रति समर्पित कार्यों में अजनजातिकरण का परिमाण अतिरंजित किया हुआ लगता है (1978)। सांस्कृतिक क्षेत्र में ही नहीं, औद्योगिक संगठनों में भी पारंपरिक रीति–रिवाज और जीवनयापन के तरीके उनकी ओजस्विता और जीवक्षमता दर्शाते हैं। आरोपण और विशिष्ट कारणवाद जैसे लक्षण कार्य जगत के व्यवहार पैटर्न में भी प्रतिबिंबित होते हैं (लैंबर्ट 1963)। भारत में संताल कोयला खनिकों ने औद्योगिक प्रणाली के आदर्शों

को आत्मसात नहीं किया है। दूसरी ओर, 1969 में शिक्षित संतालों और संताल कोयला खनिकों ने अपने प्रथागत विधियों को लागू करने और अपनी कला–संस्कृति को बढ़ावा देने का संकल्प लिया (बनर्जी 1981)।

मूल्य अभिविन्यास के अलावा, इस पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए कि इन जनजातीय लोगों का पेशागत आधार किसानी में हमेशा रूपांतरित नहीं हो रहा है। किसान के संबंध में तमाम परस्पर विरोधी परिभाषाओं में स्वीकार किया जाता है कि उनका पेशा प्राथमिक तौर पर कृषि क्षेत्र पर ही आधारित है। प्राचीन जगत में शिकारियों और संग्रहकर्ताओं के लिए उन्नत प्रौद्योगिकी की दिशा में यही एकमात्र संभव कदम था। आज चेन–चू, मालापंडारम या कादर जैसी पारंपरिक शिकारी एवं संग्रहकर्ता जनजाति अपनी संग्रहण अर्थव्यवस्था के साथ–साथ वनरोपण में मजदूर के रूप में भी काम कर सकती है। एक रस्सी बांटने वाला बिरहोर मुख्यतः महानगरीय व्यवसायी के करिंदे को प्रसंस्कारित वनोत्पाद बेचकर जीवनयापन कर सकता है। दूसरी ओर, प्रशासनकर्मी महाविद्यालय, हैदराबाद द्वारा किया गया एक अध्ययन दर्शाता है कि कुछ स्थायी तौर पर बसी कृषिजीवी जनजातियों में बाजार में बिक्री के लिए लघु वनोत्पादों का संग्रह आय के मुख्य स्रोत के रूप में उभरा है (भारत सरकार 1982)। एक जनजातीय समुदाय अस्तित्वरक्षा की रणनीति के रूप में खुद को बहुकेंद्रीय उत्पादन परिस्थितियों में संलग्न कर सकता है। इससे 'आदिम' होना समाप्त हो जाता है।

कृषक समाजों को भी अगर वर्ग–विभाजित समाजों के अंग के बतौर चिन्हित किया जाता है जिसमें कृषक तबका उत्पादन में प्रत्यक्षतः भाग लेना बंद कर चुके वर्ग के आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक वर्चस्व वाले शोषित समाज का निर्माण करता है, तो भी अनेक जनजातीय समुदाय कृषकों की श्रेणी में नहीं आते हैं। निस्संदेह, उनके पारंपरिक नियंत्रण के अंतर्गत संसाधनों के अंतरण की कठोर प्रक्रिया होती है, लेकिन यह अंतरण राज्य के राजनीतिक एवं प्रशासनिक हस्तक्षेप के जरिए संपन्न होता है, न कि बाजार तंत्र के जरिए। जनजातीय समुदाय इसके प्रति सचेत होते हैं, लेकिन उनके लिए राज्य का सर्वव्यापी अस्तित्व नहीं होता जो हर चीज का निर्णय करे। उत्तर–पूर्व और मध्य भारत की अनेक जनजातियों में समुदायों और संसाधनों के बीच संबंधों का उनका अपना बोध होता है। राज्य के साथ टकराव में गए बिना, पारस्परिक नैतिक समझौते के बतौर वे अपने बोध द्वारा निर्देशित कार्यदिशा का अनुसरण करते हैं। पुनः, अपने बीच मौजूद अनौपचारिक प्रणाली के मामले में भी संसाधनों तक अपनी पहुंच से वंचित हो चुके समुदाय भी अपने पुरखों के मिथकीय राज्यों का सहारा लेते हैं। कनाडा में देशज आबादी (इंडियन या अमेरिकी इंडियन) ने हाल के वर्षों में अपनी पहचान के दावे के रूप में अपने केंद्रों की स्थापना की है। ऐसे ही एक केंद्र कैनीनल केहाका राओटिटिश्क्वा सांस्कृतिक केंद्र की स्थापना काह्नावेक में 1978 में की गई थी। 'ए हिस्टोरिकल स्केच ऑफ काह्नावेक' के अपने प्राक्कथन में ब्रायन डीयर ने लिखा है, ''सांस्कृतिक केंद्र में हम विश्वास करते हैं कि तब तक हम जनता की तरह, अभिज्ञेय समुदाय की तरह और राष्ट्र (मोहॉक) के अंग की

तरह जीवित नहीं रह सकते, जब तक हम अपने उस इतिहास को जान और व्यवस्थित न कर लें जो हमारे आध्यात्मिक, सामाजिक और राजनीतिक विकास को अच्छी तरह प्रदर्शित करता हो। हम नहीं जान सकते कि हम 1980 के दशक में और उसके बाद बाद कहां जा रहे हैं, न हम अपना भविष्य तय कर सकते हैं, जब तक हम यह न जान लें कि हम कहां रहे हैं।'' पारंपरिक रूप से मोहॉक मृदा क्षरण एवं समापन रोकने हेतु समय–समय पर गांवों में घूमने वाले स्वीडन के (स्लैश एवं बर्न) कृषिविद थे। बीसवीं सदी के आरंभ में काह्नावेक के लोगों ने इस्पात संबंधी कार्यों में विशेषज्ञता हासिल करनी शुरू की। तथापि, औद्योगिक पेशे ने समुदायों को विखंडित नहीं किया। 29 अगस्त, 1907 को काह्नावेक के 33 मोहॉक लौहकर्मी एक दुर्घटना में मारे गए। उनके शवों को दफन करने के लिए समुदाय में लाया गया और श्रद्धांजलि देने के लिए पूरे अमेरिका और कनाडा के लौहकर्मी काह्नावेक पहुंच गए। 1925 में काह्नावेक के एक लौहकमी के अवैध ढंग से कनाडा–अमेरिका सीमा पार करने के मामले में न्यायालय ने निर्णय दिया कि मोहॉक 'साम्राज्य के अंदर परमसत्ता', राष्ट्र के भीतर एक राष्ट्र हैं और इसलिए उन्हें कनाडा–अमेरिका सीमा की मनमानी के जरिए बाध्य नहीं किया जा सकता (ब्लैंचर्ड 1980)।

मई 1979 में ब्रिटिश कोलंबिया इंडिया चीफ के अध्यक्ष (यूबीसीआइसी 1979) ने अपनी जनता के लिए अपने संदेश में महसूस किया कि :

''हमें अपने वरिष्ठ जनों के लिए उचित स्थान, इंडियन संगीत, इंडियन कला, सब कुछ फिर से हासिल करना ही होगा; इंडियन कविता को सामने लाना होगा। इंडियन भाषा बहुत महत्वपूर्ण है। इसे पुनः प्रचलन में लाना है जिसके बिना हमलोग गैर–इंडियन लोगों जैसे हैं। जो चीज हमें अनन्य बनाती है, यह उसी का अंग है। .... जो चीज हम सचमुच चाहते हैं, वह है अपना जीवनयापन करने की ताकत; सरकारों के नियंत्रण से रहित समूहों की हैसियत संघीय अथवा प्रांतीय सरकारों के समकक्ष होगी। हम उनके साथ बराबरी के आधार पर बातचीत करेंगे।''

कनाडा की देशज सरकार क्या है और क्या हो सकती है, उसका वर्णन उसी साल रॉबर्ट मैनुएल (1979) ने इस प्रकार किया :

जब हम इंडियन सरकार की बात करते हैं, तो हम न तो संघीय अथवा प्रांतीय सरकारों के अर्थ में बात कर रहे हैं, न उनके काम के तरीके और मूल्यों व परंपराओं के बारे में, जिनके आधार पर उनकी स्थापना हुई है। हम अपने 'इंडियनपन', अपनी परंपराओं और अपनी संस्कृति पर आधारित पूर्णतः नए समाज की बात कर रहे हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम पीछे चले जाएं और ठीक उसी तरह जिएं जैसे पहले जीते थे। .... इंडियन सरकार का अर्थ यह है कि हम अपने उत्तरदायित्व का पालन कर सकते हैं। हमारा इंडियन विवेक, हमारा ज्ञान, आज के दिन और युग में कुछ सृजित करने की हमारी कल्पना ही है जो हमारे जीवन और हमारी जमीन को एक बार पुनः गौरव और सम्मान प्रदान करेगी। ...इंडियन सरकार में हमारे जीवन का हर पहलू शामिल है; हमारे खेल, हमारे

कलाकार, हमारे पेशाकर्मी और प्रबुद्ध जन, शैक्षिक गतिविधियां और कल्याणार्थी – इसमें सभी सम्मिलित हैं। इसमें हर कुछ शामिल है।''

स्पष्ट है कि यह उत्तरआदिम लोगों की आवाज है, आदिम जनों की नहीं। लेकिन उनके प्रवक्ता जब अपनी सरकार की, अपने अधिकार क्षेत्र में अपने जीवन के प्रबंधन के अधिकार बात करते हैं, तो राजसत्ता की बल प्रयोग की शक्ति प्रदान करने की आशा नहीं की जाती; आशा की जाती है ऐतिहासिक सामाजिक निर्मिति के नैतिक बंधुत्व की : 'नियंत्रित अराजकता, जो गगनिका नियंत्रण (साइक्लोरामिक कमांड) में तो तल्लीन हो लेकिन उसमें उत्तरआदिम जनों की मानवीय आकांक्षाओं को जीवन के कठोर यथार्थ की सुरक्षा उपलब्ध हो।

कनाडा में नोवा स्कॉटिया की निबंधित अमेरिकी–इंडियन आबादी में 1977 में 50 से 80 प्रतिशत बेरोजगारी का अनुमान किया गया था जबकि प्रांत की जनसंख्या में यह महज 4 से 5 प्रतिशत था। 1976 में शैक्षिक क्षेत्र में दूसरी से बारहवीं कक्षा के बीच अमेरिकी–इंडियन छात्रों की प्रतिधारण (टिके रहने की) दर महज 19.2 प्रतिशत थी जो संपूर्ण आबादी के लिए 75.2 प्रतिशत थी। 1973 से 79 के बीच अमेरिकी–इंडियन लोगों में प्रति 1000 आबादी पर यक्ष्मा के औसतन 1.3 मामले थे जबकि सामान्य आबादी के लिए मात्र 0.1 प्रतिशत (सिगनर 1982)। कनाडा की निबंधित इंडियन आबादी की जनसांख्यिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों के विहंगावलोकन के आधार पर सिगनर ने 1979 में सूचित किया कि इंडियन आबादी सामान्य आबादी के मुकाबले अब भी सुविधावंचित स्थिति में है (पूर्वोक्त : 45)। मेडिकल जर्नल ऑफ ऑस्ट्रेलिया के अनुसार क्विंसलैंड के बड़े आदिवासी सुरक्षित क्षेत्र में संक्रामक रोग जनित मृत्यु दर राज्य के औसत से 90 गुनी ऊंची थी (आइडब्ल्यूजीआइए 1981:3)। दिएगो गार्सिया में लिवा के रूप में ज्ञात 1,800 लोग 1965 तक जीवित थे और द्वीप में नारियल रोपण मजदूर तथा मछुआरों के रूप में काम कर रहे थे। अब द्वीप को आणविक अस्त्र क्षमतायुक्त अमेरिकी बहुद्देश्यीय नौसैनिक अड्डे में बदल दिया गया है। पूर्व में दिएगो गार्सिया मॉरिशस का एक भाग था और इसके विरुद्ध संयुक्त राष्ट्र के संकल्प के बावजूद ब्रिटेन ने दिएगो गार्सिया को मॉरिशस से अलग कर दिया और इसे नवगठित उपनिवेश 'ब्रिटिश हिंद महासागरीय क्षेत्र' (बीआइओटी) में शामिल कर दिया। बाद में दिएगो गार्सिया को प्रतिरक्षा के मकसद से अमेरिका को लीज पर दे दिया गया। ब्रिटिश हिंद महासागरीय क्षेत्र का निर्माण करने और द्वीपवासियों को हटाने के लिए अमेरिका ने ब्रिटेन को 1.15 करोड़ अमेरिकी डालर अदा किए क्योंकि वह नौसैनिक अड्डे के लिए जनशून्य द्वीप चाहता था। दिएगो गार्सिया के निवासियों को 1965 से 1972 के बीच उनकी मातृभूमि से हटा दिया गया और मॉरिशस भेज दिया गया। कहा जाता है कि मुक्त विश्व के रणनीतिक उद्देश्यों को बढ़ावा देने के लिए ब्रिटिश सरकार ने असहाय द्वीपवासियों के साथ धोखाधड़ी और चालबाजी भरा बर्ताव किया (आइडब्ल्यूजीआइए 1983)।

एक लैगुना सिउ इंडियन कवयित्री और देशी अमेरिकी अध्ययन की अनुदेशक पाउला गुन एलेन (1983) ने अमेरिका में अपने लोगों के बारे में लिखा :

पूरे गोलार्ध में अमेरिकी इंडियन महिलाओं को जिस केंद्रीय मुद्दे का सामना करना पड़ता है, वह है सांस्कृतिक और जैव–वैज्ञानिक, दोनों स्तरों पर शब्दशः जीवित रहना। अंतिम जनगणना के अनुसार अमेरिका में अमेरिकन इंडियन लोगों की जनसंख्या 10 लाख से थोड़ी ही अधिक है। कुछ शोधकर्ता हमारी संविदापूर्व जनसंख्या 4.5 करोड़ से अधिक बताते हैं, तो दूसरे दो करोड़ के आसपास। अमेरिकी सरकार ने लगभग 200 वर्षों के लिए 4.5 लाख की काल्पनिक संख्या का उपयोग किया है। जैसा कि कुछ शोधकर्ता जोर देते हैं कि अगर अमेरिका में लगभग 25 प्रतिशत इंडियन महिलाओं और 10 प्रतिशत इंडियन पुरुषों को उनकी सहमति के बिना संतानोत्पत्ति में अक्षम बना दिया गया है, अगर अभी उपलब्ध सर्वोत्तम शोध के मुताबिक हमारी औसत जीवन संभाव्यता 45 वर्ष है, अगर हमारी शिशु मृत्यु दर राष्ट्रीय मानकों से काफी ऊपर बनी हुई है, अगर हमारी आबादी के सभी खंडों की औसत बेरोजगारी दर 60 से 90 प्रतिशत के बीच है, अगर अमेरिकी सरकार ने समाप्ति, सीमा पुनर्निर्धारण, स्थानांतरण और समावेशन के साथ–साथ बियाबान, भूमि आरक्षण और उसके संसाधनों को नुकसान पहुंचाने तथा शिकार करने, मछली मारने, इमारती लकड़ी काटने और पानी के उपयोग के अधिकारों में भारी कटौती की अपनी नीति जारी रखती है, तो जनजातियां अभी भी विलुप्ति का खतरा झेल रही हैं।

भारत में अनेक संवैधानिक रक्षा उपायों के बावजूद 5 करोड़ से अधिक आबादी वाली अनूसूचित जनजातियां शिक्षा, पेशा (राय बर्मन 1981) तथा स्वास्थ्य की स्थिति के मामले में आम आबादी से पिछड़ रही हैं (राय बर्मन 1986 क)।

विश्व के विभिन्न भागों में जनजातियों और उत्तरआदिम समुदायों के वर्तमान सामाजिक–आर्थिक अभिलक्षणों और निगमित चेतना के त्वरित मूल्यांकन से सुनिश्चित होता है कि समसामयिक जगत में जनजातियां गियोवानी अराइट (1982) के विश्लेषणात्मक ढांचे के अनुरूप प्रस्थितिमूलक वर्ग (स्टेटस क्लास) का निर्माण करती हैं। अर्थव्यवस्था और समाज के बारे में मैक्स वेवर के दृष्टिकोण में राजनीतिक समुदायों में सत्ता के बंटवारे के सिर्फ दो संभव तरीके हैं : राजनीतिक समुदाय के अंदर सत्ता का वर्ग आधारित वितरण प्रस्थितिमूलक समूह आधारित वितरण से महज एक अभिशासी मामले में अलग है कि वस्तुओं और सेवाओं का वितरण बाजार के संबंधों से प्रभावित होता है या गैर–बाजार संबंधों से। हालांकि अराइट का सोचना है कि वर्गों के बीच सीमा वर्ग और प्रस्थितिमूलक समूह की आदर्श परिकल्पनाओं के बजाय कल्पित है। यह खास तौर पर जनजातीय और उत्तरआदिम सामाजिक संरचनाओं के मामले में मान्य लगता है जो यथार्थ अथवा अनुमानित संबंध पर आधारित प्रस्थितिमूलक समूहों के गठन में बाजार और गैर–बाजार, दोनों तरह के संबंधों के जरिए होने वाली असमानताओं से प्रभावित होते हैं।

तथापि, उत्तरआदिम लोगों को सिर्फ 'अभिवंचना के द्वीप' और उनमें पैदा आत्मचेतना जनित आग्रह के बढ़ते ज्वार को महज स्थानीकृत आयात वाला नकारात्मक गुण मानना पूरी तरह सही नहीं होगा (जोशी 1984)। उत्तरआदिम लोगों का स्वत्वाग्रह मानव के गहरे अस्तित्वजन्य संकट के प्रति प्रतिक्रिया को इंगित करता है। सेनेगल की स्वतंत्रता के एक

योजनाकार और गणतंत्र के एक बार राष्ट्रपति रह चुके लियोपोल्ड सेंगर ने इस पर विशेष जोर दिया है।

प्रकृति को पहचानने, उसे अपने हिसाब से बदलने और संस्कृति की सभ्यता का निर्माता बनने के जरिए ही आदमी अपनी पहचान आदमी के रूप में करता है। तब मानव का अपनी गतिविधि पर, अपने 'परिश्रम के व्यय' पर और अपनी उत्पादित वस्तुओं पर सचेत उत्पादक के रूप में अधिकार होता है। ....पूंजीवादी प्रणाली में उत्पादन उत्पादक पर बाहर से आरोपित होता है। कृकृ यह सृजन की आंतरिक जरूरत की नहीं, मानव के बाहरी जरूरतों की पूर्ति का साधन होता है। ....वेतनप्राप्त उत्पादक खुद से विरक्त होकर वस्तुगत उत्पादों के पर्दे के पीछे अन्य लोगों के लिए अजनबी हो जाता है। वह निष्क्रिय रूप से अपने उत्पादों के अधीन हो जाता है और सक्रिय रूप से अपने नियोक्ता के, जिसके वे उत्पाद होते हैं। आदमी आदमी से भेड़िया बन गया है, ...वह व्यक्तियों और वस्तुओं की स्वाभाविक सुव्यवस्था को नष्ट कर देता है। ....यह सच है कि समस्याओं के बारे में प्रतिक्रिया व्यक्त करने वाला हर मजदूर प्रबुद्ध है। इसलिए ऐसा औपनिवेशीकृत लोगों के साथ ही होता है जो अनेकानेक विरक्तियों के शिकार हैं। प्रबुद्ध जनों ने – ज्यादातर यूरोप के प्रबुद्ध जनों ने – अपनी आध्यात्मिक, मानवीय संपदा की खोज के लिए उन्हें जगा दिया है। ....समस्त पश्चिमी सभ्यता, समस्त मशीनी सभ्यता, समस्त कारखाना सभ्यता पदार्थीकृत है। हम देखेंगे कि अपदार्थीकरण के लिए संघर्ष में औपनिवेशीकृत लोगों को कौन सी भूमिका निभानी ही होगी (सेंगर 1966)।

जहां सेंगर ने मार्क्सवादी ढांचे में विरक्ति और मानवतावादी पुनरुज्जीवन के मुद्दे को प्रस्तुत किया है, वहीं उन्होंने कहा कि शब्द के पारंपरिक अर्थ में वे मार्क्सवादी नहीं हैं जिससे अन्य अंतर्दृष्टियां भी हासिल की जानी हैं। अमेरिका के उत्तर–पूर्वी राज्यों के 62 समुदायों के एक सर्वेक्षण के आधार पर रोजेन (1968) ने पाया कि प्रेरणाओं, मूल्यों और आकांक्षाओं को प्रभावित करने में सामाजिक वर्ग और नृजातीयता की अंतःक्रिया होती है। नृजातीय अंतर कायम रहते हैं जबकि सामाजिक वर्ग नियंत्रित होते हैं।

''सोवियत संघ का अनुभव भी कुछ भिन्न नहीं है।'' पार्टी के पूर्व महासचिव आंद्रोपोव ने 1982 में कहा था। अभिलेख बताते हैं कि सभी राष्ट्रों और राष्ट्रीयताओं की आर्थिक एवं सांस्कृतिक प्रगति राष्ट्रीय आत्मचेतना के साथ अनिवार्यतः जुड़ी हुई है। यह तर्कसंगत वस्तुनिष्ठ प्रक्रिया है। ''राष्ट्रों के बीच संबंधों की समस्याएं परिपक्व समाजवादी समाज के लिए अभी भी एजेंडा हैं। वे कम्युनिस्ट पार्टी की ओर से खास देखरेख और निरंतर ध्यान देने की मांग करती हैं (माथुर 1980)। लेकिन सोवियत नेतृत्व के सचेत दृष्टिकोण के बावजूद समय–समय पर नृजातीय उभार प्रकट होते रहे। बिल्कुल हाल में कज्जाक युवा वर्ग ने, जिनमें से अधिकांश अल्मा अता के विद्यार्थी थे, 'कज्जाकिस्तान कज्जाकों के लिए' का नारा बुलंद किया। नृजातिवृत्त (एथनोग्राफी) संस्थान, मास्को के विद्वान ब्रॉमली ने भी 'सापेक्ष संरक्षणवाद तथा कुछ खास नृजातीय गुणों की स्वतंत्रता' की ओर ध्यान आकृष्ट किया है (1976)।''

यहां पर कुछ संकल्पनात्मक स्पष्टीकरण प्रस्तुत करना आवश्यक है। हालांकि इस आलेख का संबंध जनजातीय सामाजिक संरचना से है, लेकिन समय–समय पर नृजातीय समूह और राष्ट्रीयताओं जैसे व्यापक सामाजिक श्रेणियों को भी उद्धृत किया गया है। इसका अर्थ यह नहीं है कि सारे नृजातीय समूह जनजातियां हैं; इसकी बजाय सभी जनजातियां नृजातीय समूह की विशेष श्रेणी का निर्माण करती हैं।

साझा मूल्यों, जीवनशैली तथा पहचान के अनन्य प्रतीक जाति चेतना से युक्त वंशानुगत समूह को नृजातीय समूह समझा जाता है। सामान्यतः किसी जनजातीय समुदाय का उत्पादक संसाधनों के मामले में ऐतिहासिक संबंध होता है; किसी नृजातीय समूह का ऐसा परमाधिकार हो भी सकता है और नहीं भी। इसके अलावा, जनजातीय समाज जहां अपेक्षाकृत बंद समाज होते हैं, वहीं नृजातीय समूह उस हद तक बंद नहीं भी हो सकते हैं। ईस्टॉन (1959) ने पाया कि जनजातीय समाज 'अनिश्चित राजनीतिक व्यवस्था' का निर्माण करता है जो दूसरे सामाजिक अस्तित्वों के संबंध में 'अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था' की एक प्रकार की लघुकृति होती है।

मार्क्सवादी दृष्टिकोण से राष्ट्र और राष्ट्रीयता के बीच एक महत्वपूर्ण अंतर यह है कि राष्ट्र के मामले में निश्चित भूक्षेत्र पर नियंत्रण का अर्थ उत्पादन और विनिमय में आम भूमिका पर आधारित स्थायी आर्थिक संबंध होता है, वहीं राष्ट्रीयता के मामले में भूक्षेत्र संबंधी परमाधिकार का अर्थ ऐसा स्थायी आर्थिक संबंध नहीं भी हो सकता है। सामान्य तौर पर यह कहा जा सकता है कि राष्ट्र की संकल्पना के साथ राष्ट्रीय पहचान, एक खास भूक्षेत्र के नियंत्रण और राजसत्ता के संचालन की अंतर्निहित प्रवृत्ति का सवाल जुड़ा होता है जो अंततः संगठित मानवजीवन की वैश्विक व्यवस्था में अवशिष्ट नैतिक महत्व द्वारा प्रबलित दमनकारी शक्ति के प्रयोग की क्षमता को इंगित करता है। राष्ट्रीयता का आशय भी अस्तित्व के प्रतीकों का मूर्तीकरण, विशिष्ट भूक्षेत्रों के मामले में ऐतिहासिक परमाधिकार, अवशिष्ट नैतिक महत्वों की स्वीकृति या उभरती नैतिक सीमाओं के साथ सामंजस्य लेकिन स्वतंत्र राजसत्ता संगठित करने की अंतर्निहित प्रवृत्ति अथवा चाह का अभाव है। एक ओर राष्ट्र और राष्ट्रीयता तथा दूसरी ओर नृजातीय समूह के साथ अनिवार्य अंतर पर आने पर यह लगता है कि जहां पहले मामले में सदस्यता इच्छाशक्ति द्वारा हासिल की जा सकती है, वहीं दूसरे मामले में सदस्यता सामान्यतः जन्म द्वारा हासिल होती है। यह इस तरह कि नृजातीय अस्तित्व नस्ल, धर्म, जनजातीय संगठन आदि–आदि पर आधारित हो सकता है। इसके अलावा, नृजातीय समूह के सदस्यों को दमनकारी शक्ति के भय के बजाय नैतिक बंधन एकजुट रखते हैं। इससे यह बात निकलती है कि नृजातीय अस्तित्व जातीय चेतना के अलावा, राज्य की दमनकारी शक्ति के प्रेरक के बजाय नैतिक समुदायों के बतौर सामूहिकता की संकल्पना का प्रतिनिधित्व करती है (राय बर्मन 1983)।

चूंकि जनजाति विशेष प्रकार का नृजातीय समूह है, इसलिए उत्तरआदिम निर्मितियों की मौजूदगी की समझ हासिल करने में समर्थ होने के लिए नृजातीयता की परिघटना पर गहरी नजर डालना जरूरी है। क्लिफोर्ड गीट्र्ज (1963) नृजातीयता को सक्रियकृत

आदिकालीन चेतना मानते हैं जिसकी जमीन अलग सार्वभौम राजत्व की मांग नहीं होती है। इस परिप्रेक्ष्य में नृजातीयता का मूल विषयनिष्ठ प्रवृत्तियों में होता है, लेकिन यह अनिवार्यतः राजनीतिक परिघटना होती है। नृजातीय समूह ऐसे हित समूह होते हैं जो उन अनौपचारिक सांगठनिक कार्यों को स्पष्टतः व्यक्त करने के क्रम में अपनी पारंपरिक संस्कृति का अंशतः दोहन करते हैं, जो औपचारिक राजनीतिक ढांचे के अंदर इन समूहों के सत्ता हेतु संघर्ष में काम आती है। लेकिन जैसा कि एप्स्टीन ने चिन्हित किया है कि कुछ दूसरे लोग नृजातीयता को 'पारिस्थितिक विश्लेषण' के ढांचे में परखी जाने वाली अंतःक्रिया के पैटर्न के बतौर देखते हैं (1978)। दूसरे परिप्रेक्ष्य में बड़े सामाजिक अस्तित्व के साथ अपने को जोड़ने के मामले में नृजातीयता हमेशा नकारात्मक परिघटना ही नहीं होती; यह सकारात्मक परिघटना भी हो सकती है (बार्थ 1969)। भारतीय कम्युनिस्ट पाटी के हाल के एक प्रकाशन में नृजातीयता के सकारात्मक और लोकतांत्रिक संभावना की पहचान की गई है (सरदेसाई 1979)। मार्क्सवादी सिद्धांत नृजातीयता को वस्तुतः अभिसारी विकासवादी ढांचे के अंतर्गत देखता है। इसकी आंतरिक पूर्वधारणा यह है कि विश्व के सरे नृजातीय समूह अंततः एक 'साझा समूह' में विलीन हो जाएंगे। हालांकि, लेनिन ने यह स्पष्ट कर दिया था कि सुदूर भविष्य में यह दुनिया वर्गहीन समाज में ही अस्तित्वमान होगी ('सिया 1986)। इस लिहाज से नृजातीयता की सतत आवृत्ति राज्य के चरित्र और राज्य तथा समाज के बीच संबंध का फलन है। नृजातीय सक्रियतावाद के प्रवाह में पहले पहलू को फ्रांस में साठ के दशक के परवर्ती भाग में नाटकीय ढंग से लाया गया है। विलियम बीयर के काम के आधार पर बलबीर अरोड़ा (1983) ने इसे आंतरिक उपनिवेशवाद से जोड़ा और उनका अवलोकन है कि यह अन्य चीजों के साथ–साथ व्यक्तियों के जीवन और धर्मों पर फ्रांसीसी एकात्मक तृप्ति की अत्यंत शक्तिशाली फांस के खिलाफ विद्रोह का प्रतीकीकरण भी है। मॉलमैन (1983) ने नृजातीय उभार के पहलुओं को कल्याणकारी राज्य के संकट के साथ जोड़ा है।

भिन्न परिप्रेक्ष्य में, मिखाइल राइकिन (1982) 'कल्याणकारी उपनिवेशवाद' की बात करते हैं। इन विविध सूत्रीकरणों का उल्लेख किया जा चुका है'; इसलिए नहीं कि उनकी अनुभवजन्य वैधता स्थापित की जा चुकी है, वरन इसलिए कि वे जांच की वैकल्पिक दिशा के लिए संकल्पनात्मक ढांचा प्रस्तुत करते हैं। हालांकि दृष्टिकोण यह है कि राज्य अपनी प्रकृति के बजाय एक संस्था के रूप में नृजातीयता को स्वयं प्रतिक्रियामूलक परिघटना के बतौर स्थापित करता है। लेकिन इस चिंतनधारा के अंदर दो दृष्टिकोण शामिल हैं। पहला राज्य की अव्यवहार्यता पर बल देता है और दूसरा राज्य को समाज पर एक बल प्रयोग महसूस करता है। 1965 में पहले यूरो–डॉलर संकट ने दर्शाया कि राष्ट्रोत्तर नेटवर्क में भागीदार निगमों ने सबसे बड़े राष्ट्र–राज्यों में भी स्थानीय अर्थव्यवस्था की सार्वभौमिकता को चुनौती देने के लिहाज से पर्याप्त संसाधनों पर नियंत्रण हासिल कर लिया है। प्रायः किसी सरकार के प्रत्यक्ष नियंत्रण के बाहर काम करने वाली निजी हस्तियों ने राज्यों की सार्वभौम सत्ता का आम तौर पर क्षरण किया है (वूल्फ 1982)। इस परिप्रेक्ष्य में गाल्टुंग (1972) के शब्दों में यह 'नकारात्मक शांति' है जो डेमोक्लीज की तलवार की तरह मानव जाति पर लटक रही है और तीसरी दुनिया के देशों के विभिन्न निर्मितियां अपनी गरीबी

को अपने जीवन पर असर डालने वाली घटनाओं को प्रभावित करने की अपनी अक्षमता के बतौर महसूस करती हैं। नृजातीय उभार की जड़ वैश्विक असहायता के बोध में गहरे धंसी है। यह विश्वशांति हेतु स्थानीय युद्ध की द्वंद्वात्मकता का एक आयाम है – वैश्विक स्तर पर नकारात्मक शांति के बादलों में एक प्रस्फोट के लिए। गांधी के लिए निजी हस्तियों का बर्चस्व ही नहीं, खुद राज्य भी एक अभिशाप था। गांधी के ट्रस्टीशिप सिद्धांत का एक वाक्य यह है कि ''समाज द्वारा संपत्ति के निजी स्वामित्व को खुद अपने कल्याण के लिए जिस हद तक अनुमति दी जाती है, उसके अलावा यह उसके किसी अधिकार कों मान्यता नहीं देता है'' (दांतावाला 1945)। उसके साथ ही, गांधी ने 'राज्यविहीन समाज अथवा स्वनियंत्रित सामंजस्य' की भी उम्मीद की (भट्टाचार्य 1969 :361)। गांधी ने राज्य और समाज के बीच अनिवार्य भेद किया और उनका विश्वास 'विशुद्ध नैतिक प्राधिकार पर आधारित जनता की सार्वभौमिकता' पर था। वह राज्य को बल प्रयोग के उपकरण के रूप में देखते थे। 'राज्य केंद्रीकृत एवं संगठित स्वरूप में हिंसा का प्रतिनिधित्व करता है। व्यक्ति की आत्मा होती है लेकिन राज्य चूंकि आत्मारहित यंत्र है इसलिए उसकी हिंसा की आदत कभी छुड़ाई नहीं जा सकती जिस पर उसका संपूर्ण अस्तित्व निर्भर है। मैं जिस चीज का अनुमोदन नहीं करता, वह है बल पर आधारित संगठन जो राज्य है (पूर्वोक्त : 352)। हालांकि दार्शनिक अराजकता का विस्तार विभिन्न स्वरूपों में इसकी राजनीतिक अभिव्यक्ति के अलावा अपने विस्तार में वैश्विक है और इतिहास में गहरे धसा है। गांगुली ने गांधी के पश्चिमी संबद्ध ता का उल्लेख किया है, खास कर थोरो, टाल्सटॉय और रस्किन के साथ, और गांधी के दृष्टिकोण की अराजकतावादी दार्शनिक सक्रियकर्मी क्रोपोत्किन के साथ विस्तार से तुलना की है (गांगुली 1973)। दार्शनिक अराजकता के उसी तल पर, अगर उन्हीं स्रोतों का भिन्न परिमाणों में संदर्भ नहीं दिया जाय, तो समकालीन विश्व में ऐसे भी बौद्धिक–नैतिक आंदोलन अस्तित्वमान हैं जिनका उल्लेख परा–आदिमवाद (पैरा–प्रिमिटिविज्म) के बतौर किया जा सकता है। ऐसे आंदोलन संचित होते पारिस्थितिकीय संकट द्वारा प्रबलित होते गए हैं। एडवर्ड गोल्डस्मिथ, गोर्ड रैत्रे, टेलर तथा अन्य लोगों का तर्क है कि पर्यावरण संकट और सामाजिक प्रणाली के संबंधित व्यवधानों के समक्ष उस दिशा में बढ़ना अनिवार्य है जिसमें (क) पारिस्थितिक प्रक्रियाओं में न्यूनतम व्यवधान हो, (ख) सामग्री और ऊर्जा का अधिकतम संरक्षण हो, (ग) ऐसी आबादी हो जिसमें कम नियुक्ति हो और (घ) सामाजिक प्रणाली ऐसी हो जिसमें व्यक्ति पहले तीन शर्तों द्वारा बाध्य महसूस करने के बजाय आनंदित हो। ऐसा लगता है कि यह राजनीति और अर्थव्यवस्था के सभी स्तरों पर विकेंद्रीकरण तथा ऐसे समुदायों के निर्माण के जरिए संभव है जो इतना छोटा हो कि वह समुचित रूप से स्वनियंत्रित तथा स्वतःसहयोगी हो (बॉडली 1976)।

प्रत्यक्षवाद और 'संभाव्य तथ्यों' के विश्लेषणात्मक मूल्यांकन की सीमाओं के आगे अगर कोई इतिहास को 'अनुकूलित तथ्यों' का सिलसिला मानने की कोशिश करता है, तो वह महसूस करता है कि दार्शनिक अराजकता और प्रकृति के साथ सामंजस्य के लिए मानव की तलाश के संश्लेषण के जरिए नैतिक बंधुत्व के उपयोग से बनने वाली उत्तरआदिम खंडात्मक निर्मितियां मानव जीवन की नई सीमाओं में व्यवहार्य हो रही हैं। इसका अर्थ

यह नहीं है कि युद्ध और शांति की, पर्यावरण क्षरण बनाम उन्नयन की समस्याओं के समुदायवादी समाधान नृजातीय केंद्र (कोर) या आदिम केंद्र का उपयोग करेंगे। रजनी कोठारी का सुझाव है कि 'अगर विश्व समाज को एकात्मक (मोनोलिथ) नहीं होना है तो सोचना होगा कि उसका भविष्य विविधतापूर्ण सांस्कृतिक अस्तित्वों वाले समुदाय का हो'। वह ऐसी 'वैश्विक प्रक्रिया' की बात करते हैं जो 'वर्चस्व और निर्भरता आधारित वैश्विक ढांचे से विविधतापूर्ण जनसमुदाय की स्वायत्तता और गरिमा के प्रति सम्मान वाले वैश्विक ढांचे की ओर अग्रसर हो, जो सचमुच की सभ्य विश्व व्यवस्था की बुनियाद रख सके'। लेकिन वे प्रयोजनवादी अपरिहार्यता (टिलियोलॉजिकल इनएविटैबिलिटी) की पदावली में सोचते नहीं दिखते और ग्राम्शी का अनुसरण करते हुए 'राष्ट्रीय राजनीतिक संकल्प' के महत्व पर बल देते हैं (कोठारी 1976)। स्पष्ट है कि इस सूत्रीकरण में समुदाय हमेशा नृजातीय समुदाय अथवा उत्तरआदिम समुदाय नहीं है। वह सामाजिक और भौतिक सामीप्य के दूसरे सिद्ध ांतों पर और ऐसे सामीप्य से बाहर पारस्परिक दायित्व तथा गैर–वंशानुगत सहयोग की स्वीकार्यता पर आधारित हो सकता है।

आज के परिप्रेक्ष्य में कोठारी के सूत्रीकरण में 'राष्ट्रीय संकल्प' का संदर्भ विशेष महत्व का है। इसका अर्थ यह हुआ कि जहां अनुकूल बौद्धिक–नैतिक माहौल उत्तरआदिम निर्मितियों समेत स्रभी नृजातीय अस्तित्वों में प्रबल होने लगा है, वहीं जीवन की गुणवत्ता, ऐसी निर्मितियों के बीच अंतःक्रिया तथा उन माध्यमों के लिए सकारात्मक योगदान कर सकता है जिनके जरिए खुद को अभिव्यक्त करने वाली राष्ट्र की राजनीतिक प्रक्रिया महत्वपूर्ण बनी रहती है।

इस अंतःक्रिया में उत्तरआदिम सामाजिक अस्तित्व इन कारणों से अपनी जनजातीय खासियत कायम रख सकता है – (क) दोहन के स्रोत के रूप में ही नहीं, अपनी मानसिक, भौतिक एवं सामाजिक जरूरतों की पूर्ति की शर्त के बतौर भी प्रकृति के प्रति मानव के दृष्टिकोण के कारण मानव के अस्तित्व पर आने वाले संकट का अचानक अहसास होने पर, (ख) 'कल्याणकारी फांस' के अमानवीय परिणामों तथा अपनी नियति का मालिक होने की मानव की गहरी लालसा पूरी कर पाने में कल्याणकारी राज्य की अक्षमता का क्रमिक अहसास होने पर, (ग) विभिन्न समुदायों के बीच विभिन्न स्वरूपों में सामुदायिक भूमि संसाधनों की मौजूदगी के कारण, (घ) जनजातीय एलीट के खंडों में इस बात पर व्यापक संदेह के बारे में बढ़ती जागरूकता से कि वैश्विक वर्चस्व में प्रमुख प्रौद्योगिकी जन्य विकास का सुर अंततः विश्वयुद्ध को अपरिहार्य बना रहा है, और (च) नैतिक समुदायों के रूप में राष्ट्र–राज्यों की मानवतावादी दृष्टि में उत्तरोत्तर क्षरण।

यह स्वाभाविक है कि जनजातीय भविष्य जहां जनजातीय समुदायों को उपलब्ध नैतिक एवं उत्पादक संसाधनों की विच्छिन्नता में निहित नहीं है, वहीं इसका आशय संकुचित जनजातिवाद का गहरा अन्वेषण भी नहीं है। जनजातीय समुदायों का जीवक्षम (वायवल) भविष्य जनजातियों के नैतिक एवं भौतिक संसाधन जुटाने को सार्वत्रिक महत्व प्रदान करने में है। इस मामले में एक दिलचस्प प्रयोग का उल्लेख करना उपयोगी होगा

जो अक्तूबर क्रांति के बाद सोवियत संघ में किया गया था। पितृसत्तात्मक सामुदायिक संबंधों की प्रधानता वाले इलाकों में किसान सोवियतों का निर्माण गोत्र, जनजाति अथवा नृजाति के आधार पर किया गया। जहां इसने रूपांतरण के तरीके को थोड़ा आसान बनाया, वहीं सोवियत नेताओं ने समुदायों की आंतरिक शक्ति संरचना और गोत्र आधारित सोवियतों के काम का समय के साथ लोकतंत्रीकरण भी किया (आंद्रेयेव 1983)। 1956 में स्वतंत्रता हासिल करने के बाद विभिन्न धर्मों व विश्वासों वाले 100 जनजातियों के देश सूडान ने एक मातृसत्तात्मक, बहुधर्मी, बहुसांस्कृतिक और बहुदलीय निर्माण का प्रयोग आरंभ किया। कुछ पारंपरिक सूडानी राजनीतिकों का पुराना विचार खारिज करना पड़ा कि अफ्रीकी लोगों की कोई 'संस्कृति' नहीं होती और अरब लोगों को अफ्रीका में अपनी संस्कृति का निर्यात करना चाहिए। दक्षिणी सूडानी लोग यह नहीं सोच सके कि वे ऐसी अफ्रीकी संस्कृति और राजनीतिक मनोवृत्ति विकसित कर सकते हैं जो सूडान के बहुसंख्यक लोगों के अस्तित्व को नजरअंदाज करती हो, जिनकी सोच में राजनीतिक प्रक्रिया देश की विविध उप–संस्कृतियों अथवा समुदायों के इर्दगिर्द घूमती थी; उसी दौरान वर्ग हितों के बीच मतभेद उभर आए। यह तो नाइजीरियाई राजनीतिक प्रणाली के गुण हैं जो राजनीतिक प्राधिकार के पैटर्न और उभरती नाइजीरियाई समुदाय का सीमा निर्धारण करते हैं (ओयोबेयर 1981)।

हंगरी में कल्याण, नृजाति और संस्कृति के पक्षों के बीच सीमांकन करने वाली रेखाएं धुंधली हो गई हैं। हालांकि शोधों का रुझान इस बात पर जोर देने का है कि जिप्सियों की समस्याओं का चरित्र मूलतः सामाजिक प्रकृति का है और कल्याण, संस्कृति एवं नृजाति संबंधी समस्याओं का समाधान सहअस्तित्व में रह रहे जिप्सी और गैर–जिप्सी समुदायों के स्वायत्त हितों पर आधारित खास सामाजिक परिप्रेक्ष्यों के अंतर्गत चलने वाली प्रक्रिया में है (मेगजारो और जानोस 1986)। 23 सितंबर 1986 की एक प्रेस रिपोर्ट के अनुसार कनाडा के 111 अलास्काई गांवों के एस्किमो और इंडियन लोगों ने खुद को 'सार्वभौम राष्ट्र' घोषित करते हुए सरकार का अपना नगर परिषद स्वरूप समाप्त करने और उसकी जगह सैकड़ों साल पुराना पारंपरिक जनजातीय परिषद कायम करने का निर्णय किया है (द हिंदुस्तान टाइम्स, 6 सितंबर 1985)। तथ्यों के इस परिप्रेक्ष्य में देखा जाय कि न्यायालय के अनुकूल निर्णय और खुद देशज आबादी के आंदोलन के परिणाम के बतौर कनाडा की सरकार देश के संविधान में संशोधन हेतु लंबी बातचीत में जाने को बाध्य हुई ताकि देशज आबादी की राजनीतिक सत्ता में प्रभावी भागीदारी हो। मार्च 1987 में कनाडा के राजनीतिक और आदिवासी नेताओं ने स्वीकार किया कि निष्कर्ष पर पहुंचने की उनकी सहमति असफल रही है। ऐसा लगता है कि इंडियन (देशज) और इनुइट (एस्किमो) आबादी के लिए स्वशासन के एक पैटर्न पर संघीय सरकार, छः प्रांतों के प्रमुख (प्रीमियर) तथा देशज नेताओं की सहमति हो गई थी, लेकिन तीन प्रांत प्रमुखों की हठधर्मिता और एक प्रांत प्रमुख के असहयोग के कारण यह गतिरुद्ध हो गई। तीनों प्रमुखों ने भय प्रकट किया कि अगर आदिवासियों को अपने भूक्षेत्रों में खनन का अधिकार दिया जाता है, तो उनकी सीमाओं के अंदर मौजूद कुछ प्राकृतिक संसाधनों पर से प्रांतों का नियंत्रण समाप्त हो जाएगा। इंडियन और इनुइट समूहों का कहना है कि स्वशासन और अन्य प्रथागत अधिकार आदिवासी लोगों के लिए

जन्मजात हैं, लेकिन ओटावा और अन्य अधिकांश प्रांत असहमत हैं और जहां वार्ता प्रगति पर है, उन मामलों में वे सिर्फ स्वशासन पर डटे रहना चाहते हैं। खुद कनाडा के प्रधानमंत्री ने भी वार्ता की असफलता पर गहरी नाराजगी जतलाई। ''हमें किसी भ्रम में नहीं रहना चाहिए'', उन्होंने अपने समापन वक्तव्य में कहा, ''असफलता की हमें कीमत चुकानी पड़ेगी'' (टेलीग्राफ, 29 मार्च 1987, कनाडा शेल्व्स राइट्स फॉर एबोरिजनल्स)।

अलगाववादी आंदोलनों को छोड़ दें तो राय बर्मन (1984 क) ने भारत में जनजातीय लामबंदी के आंदोलनों को दो व्यापक श्रेणियों में रखा है – अवराष्ट्रवाद (इनफ्रा–नेशनलिज्म) और मूल–राष्ट्रवाद (प्रोटो–नेशनलिज्म)। दोनों ही राज्यसत्ता के कामकाज के परिप्रेक्ष्य में अस्तित्वमान होते हैं, जब जनजातीय लोग महसूस करते हैं कि छोटे विरल अस्तित्व के बतौर वे अपने हितरक्षा की स्थिति में नहीं होंगे। अवराष्ट्रवाद का प्रवर्तन पारंपरिक एलीट द्वारा पारंपरिक संचार तंत्र का कामकाज अपनाने के जरिए आधुनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया जाता है। अवराष्ट्रवादी लामबंदी के घटक मूलतः उनके साथ जुड़े संसाधनों पर उनके पारंपरिक नियंत्रण ही नहीं, उनके उपयोग के पारंपरिक पैटर्न के साथ भी संबंधित है। मूल–राष्ट्रवाद में शिक्षित एलीट (पारंपरिक एलीट के साथ गठजोड़ करके या उसके बिना भी) समाज–राज्य अंतःक्रिया के समक्ष नई चुनौतियों से मुकाबले के लिए संस्कृति के गैर–पारंपरिक संसाधनों और सामाजिक संगठनों की रणनीतियों का भी उपयोग करता है। मूल–राष्ट्रवाद मूलतः उन क्षेत्रों में अस्तित्वमान होता है जहां उत्पादन के पितृसत्तात्मक स्वरूप की प्रधानता होती है। ऐसे क्षेत्रों में मूल–राष्ट्रवाद आ तो सकता है लेकिन वह उन क्षेत्रों में प्रबल होता है जहां आदिम–सामंती पद्धति के पुट वाले उत्पादन के पितृसत्तात्मक स्वरूप की प्रधानता होती है और उन क्षेत्रों में भी जहां कल्याणकारी राज्य प्रभावी होता है (पोल्यानी 1971)। मूल–राष्ट्रवाद का लक्ष्य कल्याणकारी राज्य में भी उस हद तक राजसत्ता में भागीदारी पाना हो सकता है जिसमें राज्य की बल प्रयोग की शक्ति के उपयोग की निर्णायक जवाबदेही उसके पास नहीं होती है। तथापि, अवराष्ट्रवाद और मूल–राष्ट्रवाद राष्ट्रवाद के अपूर्ण चरण नहीं हैं। ये राज्य के साथ अपनी अंतःक्रिया के दौर में गैर–राज्य समाजों की समसामयिक नृजातीय प्रक्रियाएं हैं जो अनुभव के आधार पर तो राष्ट्र–राज्य नहीं होते, लेकिन वे खुद को संस्कृति, भाषा आदि आदिम निष्ठाओं पर आधारित महसूस करते हैं। अतः अवराष्ट्रवाद और मूल–राष्ट्रवाद के भविष्य के बारे में अलग से सोचना सही नहीं होगा। ऐसा काफी हद तक संभव है कि अवराष्ट्रवाद और मूल–राष्ट्रवाद की और संस्था के रूप में राज्य की सतत अंतःक्रिया अंततः राज्य के साथ–साथ अवराष्ट्रवाद और मूल–राष्ट्रवाद का भी चरित्र बदल दे। परिणामतः, संस्था के रूप में राज्य भिन्न प्रकार के नियामक संगठन में बदल सकता है जो राज्यविहीन सरकार भी हो सकता है; दूसरी ओर नृजातीयता में भी अधिक खुलापन और संकल्पवाद परिलक्षित हो सकता है।

अवराष्ट्रवाद और मूल–राष्ट्रवाद की मांगों के प्रति राज्य की प्रक्रिया की कुछ प्रतिक्रियाओं को यहां इंगित किया जाएगा। भारत के संविधान में शैक्षिक संस्थानों में

नामांकन की विशेष सुविधाओं तथा सार्वजनिक सेवाओं में पदों के आरक्षण के जरिए अनुसूचित जनजातियों के पक्ष में सुरक्षात्मक भेदभाव का प्रावधान किया गया है। राज्य विधानमंडलों और संसद में भी स्थानों के आरक्षण के प्रावधान हैं जो 1990 तक जारी रहेंगे। अनुसूचित क्षेत्रों (ऐतिहासिक और संख्यात्मक आधार पर जनजातियों की प्रधानता वाले और उस रूप में अधिसूचित क्षेत्र) के प्रशासन के प्रावधान का संविधान में विस्तार से उल्लेख है। इसमें विशिष्ट प्रथागत मामलों में विधि निर्माण सहित स्वायत्त जिलों और आंचलिक परिषदों का कामकाज शामिल है। इन प्रावधानों के बावजूद यह कहना कठिन है कि जनजातीय और उत्तरआदिम लोगों की आकांक्षाएं और अधिकार पूर्णतः पूरे किए गए हैं। खास कर समुदायों और उनके संसाधनों के बीच संबंध की औपनिवेशिक व्याख्या जारी रखने तथा बड़ी औद्योगिक व जलविद्युत परियोजनाओं जैसे विकासमूलक उपायों के जरिए पारंपरिक संसाधनों से उनकी बड़े पैमाने पर बेदखली हो रही है (राय बर्मन 1987)।

सुरक्षात्मक भेदभाव की बात करें तो इसका एक संशोधित संस्करण, जिसे सकारात्मक कार्रवाई कहा जाता है, अमेरिका में नागरिक अधिकार अधिनियम के तहत 1964 से लागू है। पहली बार इसका उपयोग विद्यालयों में पृथक्करण रोकने के लिए अनेक उपायों के जरिए किया गया था जिसमें समुचित नस्ली मिश्रण सुनिश्चित करने के लिए दूरवर्ती विद्यालयों में बच्चो को ले जाने के लिए बस सेवा भी शामिल थी। बाद में इस उपाय का उपयोग रोजगार और आवासन के क्षेत्र में किया गया जिसके अंतर्गत नस्ल ही नहीं, लिंग, राष्ट्रीय उद्‌गम और धर्म भी शामिल था। हालांकि सत्तर के दशक के उत्तरार्द्ध तक नीति निर्माताओं में विचार का माहौल इस उपाय के खिलाफ आगे–पीछे रहा है और इस पर 'विपरीत भेदभाव' के बतौर आक्रमण किया जाता रहा है। रीगन संक्रमण दल (ट्रांजिशन टीम) की एक रिपोर्ट ने सकारात्मक कार्रवाई, खास कर कोटा प्रणाली को समाप्त करते हुए इस प्रभाव का पक्ष लिया। सर्वोच्च न्यायालय ने इसके लिए रास्ता तब तैयार कर दिया जब उसने 1978 में एक फैसले में विश्वविद्यालय में अल्पसंख्यक आवेदकों के लिए खास संख्या में स्थान आरक्षण को समाप्त कर दिया था। हालांकि अगले साल रोजगार के क्षेत्र में इसने एक कंपनी के तहत स्वैच्छिक सकारात्मक कार्ययोजना को कायम रखा जिसके अंतर्गत एक खास प्रशिक्षण कार्यक्रम में अधिक वरिष्ठ गोरे लोगों की तुलना में काले लोगों को वरीयता दी गई थी। 1987 में दिया गया नवीनतम फैसला 1979 के फैसले की दिशा में ही था लेकिन उससे आगे गया था जिसमें कहा गया था कि नियोक्ता पूर्ववर्ती भेदभाव के साक्ष्य के बिना भी महिलाओं और अल्पसंख्यकों को गोरे पुरुषों की तुलना में बढ़ावा दे सकते हैं। उन्हें सिर्फ यही दिखाना है कि 'श्रमशक्ति में प्रत्यक्ष असंतुलन' मौजूद था (द हिंदुस्तान टाइम्स, 3 अप्रैल 1987, संपादकीय)।

एक अलग किस्म का सुरक्षात्मक भेदभाव मलेशिया में है जहां मलय लोगों का सेवाओं और जीवन के विभिन्न कार्यों में कम प्रतिनिधित्व है। जिन क्षेत्रों में उनका कम प्रतिनिधित्व है, उन क्षेत्रों में एक खास समय सीमा में उनका आनुपातिक प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करने के मकसद से वर्धमान अनुकूलनशील (प्रोग्रेसिवली एडैप्टिव) कोटा प्रणाली

लागू करने के लिए राष्ट्रीय एकता विभाग का निर्माण किया गया है (खितगार्ड 1981)।

उत्तरआदिम और अन्य जनजातीय लोगों की जीवक्षमता का महत्वपूर्ण मुद्दा उनके संसाधनों की उपलब्धता का पैटर्न है। भारत के परिप्रेक्ष्य में मुद्दों की जांच में न्यायमूर्ति हिदायतुल्ला द्वारा उपयोगी अगुआई की गई है। उनके शब्दों में :

पहली बार ब्रिटिश लोगों ने पुरानी परंपराओं के बरअक्स व्यक्ति को समुदाय से अलग करने की कोशिश की। भू–संपदा पर विचार करते समय यह स्मरण करना उपयोगी होगा कि भू–संपदा ने किसी समूह के राजनीतिक कार्यों को हमेशा उसकी सामाजिक अर्थव्यवस्था से संबद्ध किया है। जब जमीन का महत्व बढ़ा, तो राजनीतिक गतिविधियों में कईगुना वृद्धि हुई। इस लिहाज से कुल और जनजाति के सदस्यों की भू–संपदा का दोहरा अर्थ था। जब समुदाय से व्यक्ति को संपदा की सुपुर्दगी होती थी, तो सुपुर्दगी समुदाय के नियंत्रण पर आधारित थी। तब यह कहा जा सकता था कि इस पर समुदाय और व्यक्ति का अकेले अथवा परिवार समूह में एक ही साथ स्वामित्व था (1983 : 11,24)।

इरफान हबीब (1963 :111) ने कुछ यूरोपीय यात्रियों द्वारा दिए गए वक्तव्यों की वैधता की कि मध्यकाल में भूमि का स्वामित्व एकमात्र राजा में निहित होता था, किंचित विस्तारपूर्वक जांच की है। उनका निष्कर्ष है कि यह सिद्धांत हिंदू अथवा मुस्लिम कानूनों के समस्त ज्ञात बोध के लिए नितांत अजनबी है। वस्तुतः अधिकांश उत्तरआदिम और अन्य जनजातीय लोगों के लिए किसी न किसी स्वरूप में सामुदायिक अधिकार व्यक्तियों के लिए व्यापक संसाधनों की उपलब्धता हासिल करने की शर्त था (उन चीजों के अलावा जिन्हें उनके लिए सामुदायिक प्रणाली के अंतर्गत या अन्य तरीके से शामिल किया जाना विशेष तौर पर निर्धारित किया गया था)। लेकिन भारत में शुरू किए गए भूमि सुधार के उपायों में राज्य और व्यक्ति के बीच बिचौलियों के उन्मूलन को आधार बनाकर ज्यादातर मामलों में सामुदायिक अधिकारों की अवहेलना की गई है। इसकी परिणति संबंधित व्यक्तियों लिए अपने संसाधनों की उपलब्धता के मूलाधार के उच्छेद में हुई है (राय बर्मन 1985)।

ऐतिहासिक अधिकारों की अवहेलना के मामले में कुछ मार्क्सवादियों और उदारवादियों द्वारा सामुदायिक अधिकारों की मान्यता समाप्त करने के पक्ष में दो तर्क रखे जाते हैं। लंबे समय तक मार्क्सवादी मानते रहे कि सामुदायिक भूमि प्रणाली एक कालदोष है और द्वंद्व ात्मक प्रक्रिया के जरिए समाजवादी संपत्ति में चरम रूपांतरण के लिए व्यक्तिगत अधिकारों का मार्ग प्रशस्त किया ही जाना चाहिए। लेकिन अब आम तौर पर स्वीकार किया जाता है कि मार्क्स और एंजेल्स ने अपने जीवन के अंतिम दौर में सामुदायिक भूमि प्रणाली की सकारात्मक ऐतिहासिक संभावना को मान्यता दी थी (कार 1985)। 1881 में वेरा जैसुलिच को लिखे अपने पत्र में मार्क्स ने लिखा था कि उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली के प्रादुर्भाव के लिए सामुदायिक प्रणाली का अपरिहार्य उच्छेदन सिर्फ पश्चिमी यूरोप के लिए मान्य है। 1882 में कम्युनिस्ट घोषणापत्र के रूसी संस्करण के मार्क्स और एंजेल्स द्वारा हस्ताक्षरित प्राक्कथन में इसकी पुष्टि की गई थी कि सामुदायिक स्वामित्व की तत्कालीन रूसी प्रणाली

साम्यवादी विकास के लिए आरंभ बिंदु हो सकती थी। बोल्गाकोव के साथ अपने राजनीतिक विवाद में लेनिन (1961) ने लिखा था कि 'तर्कसंगत रूप से हम ऐसे पूंजीवादी कृषि संगठन की बिल्कुल आसानी से कल्पना कर सकते हैं जिसमें भूमि राज्य, ग्राम, समुदाय (कम्यून) आदि की संपत्ति हो। वास्तविक व्यवहार में हम देखते हैं कि सभी विकसित पूंजीवादी देशों में संपूर्ण भूमि अलग निजी उद्यमों के अधिकार में होती है; लेकिन ये उद्यम अपनी ही नहीं, भूस्वामियों, राज्य अथवा ग्राम समुदायों से लगान पर लेकर भी भूमि का उपयोग करते हैं (जैसे यह सुज्ञात है कि रूस में कृषक सामुदायिक भूमि पर स्थापित निजी उद्यम मुख्यतः पूंजीवादी कृषक उद्यम हैं)।

वर्तमान में, पूंजीवादी कृषि उद्यमों द्वारा सामुदायिक भूमि परिशोधन (अमॉर्टाइजेशन) भारत में भी काफी व्यापक रूप में है। हरियाणा में पंचायतों की व्यवस्था के तहत बाजारोन्मुखी फसलें लगाने के लिए सामुदायिक भूमि सबसे ऊंची बोली लगाने वाले को नीलामी में वार्षिक आधार पर दी जाती है। नागालैंड में एक संविधि के प्रावधानों के तहत पारंपरिक ग्राम परिषदों को गरीबी निवारण कार्यक्रमों के क्रियान्वयन हेतु निधि प्रवाह हेतु तथा सामुदायिक निधियों की उगाही और सामुदायिक भूमि पर उत्पादक गतिविधियों समेत समुदाय कल्याण की गतिविधियों के लिए बैंक से ऋण लेने हेतु ग्रामीण विकास बोर्ड की स्थापना का अधिकार दिया गया है (राय बर्मन 1984 ख)। मणिपुर में न्यायालय वाद संख्या एआइआर 1961, मणिपुर 31 (वी48सी10) में न्यायिक आयुक्त ने जनजातीय गांवों के सामुदायिक अधिकारों को मान्यता देते हुए निर्णय दिया था (राय बर्मन 1971)। वर्तमान में अनेक गांवों में जनजातीय लोगों को अपनी सामुदायिक भूमि के प्रबंधन के जरिए शैक्षिक संस्थानों तथा अपने सदस्यों की स्वास्थ्य एवं संस्कृति संबंधी जरूरतों के लिए योगदान करते पाया जाता है। यहां इस पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि उत्तर–पूर्व भारत के कुछ भागों में समुदाय के अतिथि का विशेष महत्व होता है। इस अंचल के लोगों को ब्रितानी औपनिवेशिक सत्ता और जापानी सैन्य विस्तारवाद के बीच टकराव के दौरान युद्धजनित विनाश का प्रत्यक्ष अनुभव रहा है।

उनमें से अनेक लोगों के लिए समुदाय बालू के ढेर में खाई खोदना नहीं, नव सार्वभौमवाद का ब्लॉक बनाना है (राय बर्मन 1986ख)। लेकिन कभी–कभार अकल्पनाशील प्रशासकों के हस्तक्षेप के जरिए इसे विरूपित कर दिया जाता है जो लोगों के 'कल्याण' के लिए कृतसंकल्प होते हैं, यहां तक कि प्रधानों और कुलपतियों को सामुदायिक भूमि पर अपना सामंती अधिकार मानने के लिए बढ़ावा देकर भी, ताकि उसे कल्याणकारी कार्यक्रमों के क्रियान्वयन के लिए नवसामंतों से अपने हाथ में लिया जा सके। हालांकि अगर राज्य प्रायोजित नव–सामंतीकरण प्रक्रिया के नहीं, तो ऐसे प्रशासन प्रायोजित नव–सामंतीकरण के लोगों द्वारा अस्वीकार किए जाने के भी साक्ष्य मौजूद हैं (राय बर्मन 1986 ग)।

न्यूजीलैंड में और मूल निवासी न्यायालय अधिनियम 1984 ने एक साधारण प्रणाली को संस्थाबद्ध किया जिसके द्वारा मूल निवासी न्यायालय के आदेश से किसी माओरी भूखंड के मालिकों को समाविष्ट किया जा सकता था। उसके बाद मालिक एकल अस्तित्व

हो जाते हैं। 1972 में समावेशन के नियंत्रणाधीन कुल परिसंपत्ति का परिमाण लगभग 6,13,258 डालर था। एक मूल्यांकन अध्ययन में दर्शाया गया है कि अगर विस्तार कोषों की आवश्यकता हो तो समावेशनों में उपार्जन को कायम रखने की मजबूत प्रवृति है और दूसरे, समावेशनों में उधार लेने की मजबूत एवं उल्लेखनीय क्षमता है (विनियाता 1979)।

इस प्रकार सामुदायिक प्रणाली पूंजीवादी ढांचे में भी प्रौद्योगिकीय अथवा आर्थिक विकास के लिए कोई अवरोध नहीं है। पेरू में ऐसे समुदाय भी हैं जिनकी सिंचित भूमि का निजी प्रबंधन होता है जबकि शुष्क भूमि और घास वाली प्राकृतिक भूमि समुदाय के हाथ में रहती है। दो समुदाय ऐसे भी हैं जिनकी शुष्क और सिंचित भूमि समुदाय के हाथ में है और घास वाली प्राकृतिक भूमि निजी संपत्ति है (मेजिया 1981)।

ग्रीनलैंड में, जहां शिकारी और मत्स्यजीवी समुदायों को 1953 में किए गए संविधान संशोधन के जरिए डेनमार्की कल्याणकारी राज्य की सीमा में शामिल कर लिया गया है, वहां सामुदायिक स्तर पर भोजन में साझेदारी, बंधुत्व और सहयोग की पहले से मौजूद एस्किमो परंपरा को भी राज्य के सहयोग से साथ–साथ प्रोत्साहित किया जाता है हालांकि राज्य का सहयोग मुख्यतः निजी उद्यमों को मिलता है (बेंट 1983)।

ऑस्ट्रेलिया में भूमि के अधिकार की आदिवासियों की मांगें हालांकि दशकों से अस्तित्वमान हैं, लेकिन इस मुद्दे पर न्यायिक छानबीन पहली बार 1969 में अर्नहेम द्वीप के संदर्भ में शुरू हुई। न्यायमूर्ति ब्लैकबर्न ने आदिवासी स्वामित्व इन आधारों पर खारिज कर दिया कि ऑस्ट्रेलियाई कानून द्वारा इसे साफ तौर पर कभी मान्यता नहीं दी गई और संपत्ति की आदिवासी संकल्पना संपत्ति कानून के व्यापक विचार के अंतर्गत उपयुक्त नहीं है। जैसा कि मॉर्स का अवलोकन है कि दूसरी प्रस्थापना को कानूनी और नृशास्त्रीय आधार पर चुनौती दी जा सकती है, वहीं मूल निवासी के स्वामित्व के अस्तित्व के लिए सरकार की मान्यता की जरूरत पर भी कानूनी एवं ऐतिहासिक आधारों के तहत सवाल खड़े किए जा सकते हैं (1983)। अमेरिका में राष्ट्र के अधिकार को तर्कसंगत ठहराने के लिए जमीन हासिल करने हेतु खोज करके यूरोपीय लोग 'खोज' के सिद्धांत की दुहाई देते हैं। 1973 में कनाडा के सर्वोच्च न्यायालय ने कैल्डर और ब्रिटिश कोलंबिया के महान्यायवादी के बीच एक कानूनी मुकदमें में इस मुद्दे की सुनवाई की। जैसा कि मॉर्स ने सूचित किया है कि न्यायाधीशों में से तीन ने आदिवासी स्वामित्व के जारी अस्तित्व को अस्वीकार कर दिया। दूसरी ओर विरोध करने वाले न्यायाधीशों का विश्वास था कि नाइसेज लोगों का अपना आदिवासी स्वामित्व अभी भी बरकरार है (मॉर्स 1983)। इस विवाद में दो अत्यंत महत्वपूर्ण संकल्पनाएं शामिल हैं। एक है 'लेक्स लोकी रेइ सिटाइ' और दूसरा है 'रेस नल्लीअस'। 'लेक्स लोकी री सिटाइ' (उस जगह का कानून जहां वस्तु अवस्थित है) का अर्थ है कि 'साझा कानून का सामान्य नियम यह है कि जहां ऐसी संपत्ति अवस्थित है, उस जगह के कानून संविदा के अधिकार, पक्षों के अधिकारों, हस्तांतरण की विधियों तथा उनके साथ जुड़े धर्मकार्यों के मामले में अनन्य रूप से प्रभावी हैं। 'रेस नल्लीअस' की संकल्पना का अर्थ ऐसी चीज है जिसका कोई वैध मालिक अथवा धारणकर्ता नहीं है; टेरा नुल्ली

(अर्थात ऐसी जमीन जो किसी व्यक्ति या राज्य के न्यायिक अधिकार अथवा सार्वभौमिकता से बाहर है) इसकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण श्रेणियों में से एक है।

अमेरिका में बसने वाले यूरोपीय लोगों द्वारा जीते गए अमेरिकी इंडियन लोगों के क्षेत्रों में 'रेस नल्लीअस' सिद्धांत के उपयोग की कठिनाइयों के समक्ष उपनिवेशवादियों ने तर्क दिया कि आदिवासी आबादी इतनी अधिक 'बर्बर' थी कि उसे न्यायालय द्वारा 'लेक्स लोकी' की मान्यता नहीं दी जानी चाहिए। ब्रितानी प्रिवी काउंसिल ने जाकर 1919 में इसे निर्विवाद रूप से माना कि कुछ संस्कृतियां इतनी 'आदिम' हो सकती हैं कि उनके और 'लेक्स लोकी' की किसी संकल्पना के बीच 'अनुल्लंघनीय खाई' बन जाती है। लेकिन हाल के दशकों में शोधकर्ताओं ने आदिवासी विधि प्रणाली में इस विचार की जड़ खोद दी। जैसा कि मार्क देनहेज ने पाया कि आज विश्व में कुछ स्थान ऐसे भी हैं जहां राज्य इस आधार पर जमीन को पूर्णतः राज्यसात करने का दावा कर सकते हैं कि वहां कोई मान्य 'लेक्स लोकी' नहीं है (1983 : 512–46)।

इन रुझानों का सार–संकलन करते हुए क्षत्रपति सिंह का अवलोकन है कि 'नए सार्वजनिक कानून के विधिशास्त्र ने दर्शाया है कि भौगोलिक क्षेत्र में अधिवास से उत्पन्न अधिकार व्यक्तियों पर ही नहीं, समूहों अथवा वर्गों पर भी लागू होते हैं। किसी भौगोलिक भू–क्षेत्र में रहने के व्यक्तिगत और सामूहिक, दोनों प्रकार के अधिकारों के लिए चरम दार्शनिक औचित्य एक ही होना है, अर्थात दोनों प्रकार के अधिकारों की शुरुआत एक ही कारणवश होती है' (1986 : 27–36)। हालांकि सिंह द्वारा उद्धृत दार्शनिक औचित्य पराभौतिक (मेटाफीजिकल) प्रकृति का नहीं है, लेकिन इसकी जड़ राजनीतिक और वैधानिक समाजशास्त्र में है। कानून के ऐसे वैकल्पिक दृष्टिकोण भी हैं जो राजनीतिक प्रणाली को प्रेरणा देते हैं। वैधानिक प्रत्यक्षवाद कहे जाने वाले दृष्टिकोण के अनुसार राज्य के सारे आदेशपरक कानून वैध हैं।

इस अभिविन्यास के केंद्र में मैक्स वेबर की संकल्पना है कि किसी खास भूक्षेत्र के अंतर्गत भौतिक बल के वैध उपयोग पर राज्य को एकाधिकार हासिल होता है (अलमंड और कोलमैन 1964 :5)। इसके विपरीत एरलिच द्वारा प्रस्तुत वैधानिक बहुलतावाद का अभिविन्यास है जिसके अनुसार राज्य के बाध्यकारी मानदंड के बजाय सामाजिक व्यवहार ही विधान की वैधता का स्रोत है (पूर्वोक्त : 7)। 'समाज की प्रणाली का अनुरक्षण और रूपांतरण करने वाली वैध व्यवस्था' के मामले में कई कर्ताओं में से एक राज्य भी है, हालांकि वह सबसे महत्वपूर्ण है।

यह दूसरा दृष्टिकोण है जो समाज और राज्य की अंतःक्रिया में आजादी के 'एककेंद्रिक केंद्र' एक 'सहकारी सार्वजनिक संपत्ति' पर गांधी के चिंतन के संगत है (गांगुली 1973 :76)। इस प्रकार भारत के परिप्रेक्ष्य में यह एक आदर्शक (नॉर्मेटिव) आयाम है। हाल के वर्षों में आदर्शक आशय को अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में भी प्रबलित किया जा रहा है। 1976 में पांच आर्कटिक देशों – कनाडा, अमेरिका, सोवियत संघ, नॉर्वे और डेनमार्क

(ग्रीनलैंड के लिए) – द्वारा 'ध्रुवीय भालुओं के संरक्षण' पर एक समझौता हस्ताक्षरित और अनुसमर्थित हुआ। समझौते के अनुच्छेद 111(1) में इस प्रकार का प्रावधान किया गया है : ' .... (डी) पारंपरिक अधिकारों के प्रयोग से और उस पक्ष के कानूनों के साथ संगतिपूर्ण तरीके से स्थानीय लोगों द्वारा पारंपरिक विधियों का प्रयोग करके, या (ई) जहां भी उसके राष्ट्र के लोगों को पारंपरिक साधनों द्वारा ध्रुवीय भालुओं को ले जाने का अधिकार है या ले जाया जाता रहा है, जब ध्रुवीय भालुओं को ले जाया जाता है, तो कोई संविदाकारी पक्ष ले जाने की अनुमति दे सकता है'।

इस विकास का प्रमाण देते हुए देनहेज का अवलोकन है कि जहां आदिवासी समूहों के संरक्षण का उपयोग सार्वभौमिकता या अधिकार क्षेत्र के राष्ट्रीय दावे के लिए तर्क के बतौर किया जा सकता है, वहां यह दावा तब और भी मजबूत हो जाता है जब यह महज निवासियों के कल्याण हेतु नैतिक विचारों पर नहीं, 'लेक्स लोकी' के अंतर्गत स्थानीय आबादी के कानूनी अधिकारों पर भी आधारित होता है (1983)। यह एशिया और अफ्रीका के ऐसे पुराने राष्ट्रों और नवस्वतंत्र राज्यों के बीच संबंधों की स्थापना हेतु विशेष रूप से महत्वपूर्ण है जिनके अंदर और बाहर पार–सीमांत (ट्रांस–बोर्डर) जनजातियां निवास करती हैं। ■

lnHk

एलेन, पाउला गुन, 1983. आइडब्ल्यूजीआइए संवादपत्र संख्या 34 : लेट अस कंटीन्यू.

अलमंड, जी.पी. और जे.एस. कोलमैन, पॉलिटिक्स ऑफ द डेवलपिंग एरियाज, प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस.

आंद्रेयेव, इगो, 1983. सोवियत एक्सपेरिएंस ऑफ एस्टैब्लिशिंग पीजेंट्स, एशिया एंड अफ्रीका टुडे, अंक 2, मास्को.

अरोरा, बलबीर, 1983. माइनरिटीज एंड रिजनल ऑटोनोमी इन द वेल्फेयर स्टेट इन यूरोप, इडपैड सेमिनार, 13–15 जून, हेग.

अराइट गियोवानी, 1982. रिथिंकिंग ऑफ द कन्सेप्ट्स ऑफ क्लास एंड स्टेटस ग्रुप इन ए वर्ल्ड सिस्टम पर्सपेक्टिव, कॉलोकिम ऑन इंडिजेनस ग्रुप्स इन वर्ल्ड डेवलपमेंट, 4–6 जनवरी, आइसीएसएसआर.

बनर्जी, सुकुमार, 1981. इंपैक्ट ऑफ इंडस्ट्रियलाइजेशन ऑन ट्राइब पॉपुलेशन, एएसआइ मोनोग्राफ, अंक 52.

बार्थ, फ्रेडरिक, 1969. एफ. बार्थ संपादित एथनिक ग्रुप एंड बांउंडरीज में भूमिका, लंदन, जॉर्ज एलेन एंड अनविन.

भट्टाचार्य, बुद्धदेब, 1969. इवॉल्यूशन ऑफ पॉलिटिकल फिलोसॉफी ऑफ गांधी,

कलकत्ता बुक हाउस.

ब्लैंचर्ड, डी.एस., 1980. काह्नवेक, ए हिस्टोरिकल अप्रोच, कनाडा, कान्यू, काहेका राओटिहोहक्वा कल्चरल सेंटर.

बोधी, जे.एच., 1976. एंथ्रोपोलॉजी एंड कन्टेंपोरेरी ह्यूमन प्रॉब्लेम्स, कमिंग पब्लिकेशंस, वाशिंगटन स्टेट यूनिवर्सिटी.

बोंग, मलवाल, 1981. रिजनलिज्म एंड एथनिसिटी इन द सूडान, विकासशील देशों में नृजातीय तनावों में कमी की ढांचागत व्यवस्थाओं पर कार्यशाला, नैरोबी, सितंबर, फोर्ड फाउंडेशन.

ब्रॉडेल, बर्नार्ड, 1980. ऑन हिस्ट्री, लंदन, वाइडनफील्ड और निकॉल्सन.

ब्रॉमली, यू.वी. 1976. सोवियत एथनोग्राफी : मेन ट्रेंड्स, मास्को, एकेडमी ऑफ साइंसेज.

कार, ई.एच., 1970. 1972. स्टडीज इन रिवॉल्यूशन, न्यूयार्क, ग्रॉस्कस एंड डनलिप.

दस्तावाला, एम.एल. 1945. ट्रस्टीशिप : इट्स वैल्यू ऑरिएंटेशन, गांधी मार्ग, खंड 7, अंक 829, दिसंबर.

देशेज मार्क, 1983. फोक लॉ, नेशनल सेल्फ–इमेज एंड देयर इंपैक्ट ऑन द सॉवरेंटी ऑफ कंट्रीज, एच.डब्ल्यू. फिंकलर संपादित पेपर्स ऑफ सिंपोजिया ऑन लॉ एंड लीगल प्लूरलिज्म मे, क्यूयूएईएस, वैंकोवर.

ईस्टॉन, डेविड, 1959. पॉलिटिकल एंथ्रोपोलॉजी, बी.जी. सीगल संपादित बायनियल रिव्यू ऑफ एंथ्रोपोलॉजी में, स्टैनफोर्ड, यूनिवर्सिटी ऑफ कोलंबिया प्रेस.

एप्सटीन, ए.एल. 1978. ईथॉस एंड आइडेंटिटी, टाविस्टॉक पब्लिकेशन, गाल्सटुंग, 1972. रॉबिन क्लार्क के द साइंस ऑफ वार एंड पीस में उद्धृत, मैकग्रॉ हिल बुक कंपनी.

गांगुली, बी.एन. 1973. गांधी'ज सोशल फिलॉसोफी, नई दिल्ली, विकास.

गीट्र्ज क्लिफोर्ड, 1963. ओल्ड सोसाइटीज एंड इंटीग्रेटिव रिवॉल्यूशन, सी. गीट्र्ज संपादित ओल्ड सोसाइटीज एंड न्यू स्टेट्स में.

गियान्न सिया, 1986. चाइना'ज नेशनलिटी पॉलिसी, एंथ्रॉप्स, 18 :1/3.

गॉदेलियर मॉरिस, 1977. पर्सपेक्टिव्स इन मार्क्सिस्ट एंथ्रोपोलॉजी, कैंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस.

भारत सरकार, 1982. रिपोर्ट ऑफ द कमिटी ऑन फॉरेस्ट्स एंड ट्राइबल्स इन इंडिया, गृह विभाग, जनजातीय विकास विभाग.

हबीब, इरफान, 1963. द ऐग्रेरियन सिस्टम ऑफ मुगल इंडिया, बंबई, एशिया

पब्लिशिंग हाउस.

हिदायतुल्ला, एम. 1983. राइट टू प्रोपर्टी एंड द इंडियन कंस्टीट्यूशन.

इस्मालीगोवा, आर.एन. 1978. एथनिक प्रॉब्लेम्स ऑफ अफ्रीका, मास्को, प्रोग्रेस पब्लिशर्स.

आइजीडब्ल्यूआइए (इंडिजेनस ग्रुप फॉर इंडीजेनस अफेयर्स), संवादपत्र, जुलाई 1981.

पूर्वोक्त, संवादपत्र, जुलाई 1983, द अपरूटेड आइवा.

जेन्सन, बेंट, 1983. एक्सपेरिमेंटेषन, स्टॉक–टेकिंग एंड पाराडायमेटिक डेवलपमेंट इन वेल्फेयर स्टेट ऑफ डेनमार्क, इडपैड सेमिनार, हेग, 13–14 जून.

जोषी, आर.एस. 1984. ट्राइब आइलैंड्स ऑफ डिप्राइवेशन, नेशनल बुक डिपो.

कान, हरमन, 1979. वर्ल्ड इकोनॉमिक डेवलपमेंट, वेस्ट व्यू प्रेस.

क्लिटगार्ड, आर.ई. एंड राल्स काट्ज, 1981. एथनिक इनइक्वलिटीज एंड पब्लिक पॉलिसी – द केस ऑफ मलेशिया, हार्वर्ड यूनिवर्सिटी, केनेडी स्कूल ऑफ गवर्नमेंट.

कोठारी, रजनी, 1976. कोठारी संपादित स्टेट्स एंड नेशन बिल्डिंग में भूमिका, बंबई, एलाइड पब्लिशर्स.

क्रोबर, ए.एल. 1948. एंथ्रोपोलॉजी.

लैंबर्ट, 1963. वर्कर्स, फैक्टरीज एंड सोशल चेंज.

लेनिन, वी.आइ. 1961. थियरी ऑफ रेंट, कलेक्टेड वर्क्स ऑफ लेनिन, खंड 5 में, मास्को फॉरेन लैंग्वेजेज पब्लिशिंग हाउस.

मैनुअल, रॉबर्ट, 1979. इंडियन गवर्नमेंट – ह्वाट वाज एंड ह्वाट कैन बी, यूबीसीआइसी, खंड 2, अंक 6.

मैरिन, कैरिन बॉएज, 1978. ऍक्यूमुलेशन एंड ऑर डायलेक्टिक्स, आर.आर. मोसर और एम.के. गौतम संपादित ऍस्पेक्ट्स ऑफ ट्राइबल लाइफ इन साउथ एशिया में, स्विट्जरलैंड, स्टडीज एथनोलॉजिका बर्नेस्टा.

मार्क्स, कार्ल, 1881. रिप्लाई टू लेटर ऑफ वेरा जेसुलिच.

माथुर, गिरीश, 1980. लेषंस ऑफ अल्मा अता फॉर इंडिया, लिंक, 4 जनवरी.

मेग्जारो, एजेंस और डेविड जानोस, 1986. जिप्सी डिसएडवांटेजेज एंड सोशल पॉलिसी इन हंगरी, समाज विज्ञान का 11वां विश्व कांग्रेस, टेलिग्राफ, रविवार, 29 मार्च 1987, कनाडा शेल्व्स राइट्स फॉर एबोरिजनल्स.

मेजिया, 1981. लैंड राइट्स ऑफ द इंडिजेनस पीपल्स एंड इंटरनेशनल रिफॉर्म्स एंड सिस्टम्स ऑफ लैंड टेन्योर, द इंटरनेशनल एनजीओ कॉन्फेरेंस ऑन इंडिजेनस पीपल्स एंड द लैंड की रिपोर्ट, जेनेवा, 15–18 सितंबर.

मॉलिमेन, एच.ए.ए. 1983. माइनरिटी पॉलिसी इन द वेल्फेयर स्टेट, इडपैड सेमिनार, हेग.

मॉर्स, बी. डब्ल्यू. 1983. लैंड राइट्स एंड कस्टमरी लॉ, वर्ल्ड कांग्रेस ऑफ द इंटरनेशनल यूनियन ऑफ एंथ्रोपोलॉजिकल एंड एथनोलॉजिकल साइंसेज के भाग के रूप में आयोजित कन्फेरेंस ऑफ द इंटरनेशनल वर्क ग्रुप ऑन इंडिजेनस अफेयर्स में प्रस्तुत आलेख, वैंकोवर, अगस्त.

ओयोबेयर, सैम ईगित, 1981. स्ट्रक्चरल चेंज एंड द प्रॉब्लेम्स ऑफ नेशनल कोहेशन, द नाइजीरियन एक्सपेरिएंस वर्कशॉप स्ट्रक्चरल अरेंजमेंट टू ईज एथनिक टेंशन में, केन्या, 20–25 सितंबर.

पोल्यानी, कार्ल, 1971. प्रिमिटिव फ्यूडलिज्म ऑफ डिके, जॉर्ज डाल्टन संपादित इकोनोमिक डेवलपमेंट एंड सोशल चेंज में, अमेरिकन म्यूजियम ऑफ नेचुरल हिस्ट्री.

रेंजर, टी.ओ. 1972. द अफ्रीकन चर्चेज ऑफ तंजानिया, दारेस्सलाम, हिस्टोरियल ऐसोसिएशन ऑफ तंजानिया.

रेडफील्ड, रॉबर्ट, 1953. द प्रिमिटिव वर्ल्ड एंड इट्स ट्रांसफॉमेशंस, कॉर्नेल यूनिवर्सिटी प्रेस.

रॉजेन, बर्नार्ड सी. 1968. रेस, एथनिसिटी एंड द एचिवमेंट सिंड्रोम, आर. मैश संपादित रेस, क्लास एंड पावर में, न्यूयार्क, वैन रेनहोल्ड कंपनी.

पूर्वोक्त, 1971. डेमोग्राफिक एंड सोषियो–इकोनोमिक प्रोफांइल्स ऑफ द हिल एरियाज ऑफ नॉर्थ–ईस्ट इंडिया.

पूर्वोक्त, 1978. पोस्ट प्रिमिटिव्स ऑफ छोटानागपुर : ट्रेंड्स इन एथनिक ग्रुप रिलेशंस इन एशिया एंड ओसेनिया, पेरिस, यूनेस्को.

पूर्वोक्त, 1980. चैलेंजेज एंड रिस्पौंस इन ट्राइबल इंडिया, एम.एस.ए. राव संपादित सोशल मूवमेंट्स इन इंडिया, खंड 11 में, साउथ एशिया बुक्स.

पूर्वोक्त, 1981. ट्राइबल सोशल डेमोग्राफी : इसूज फॉर द एटीज, जर्नल ऑफ सोशल एंड इकोनोमिक स्टडीज, 9,1.

राय बर्मन, बी.के. 1983. ट्रांसफॉर्मेशन ऑफ ट्राइब्स एंड एनालॉगस सोशल फार्मेशंस, इकोनोमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, खंड 8, अंक 27, जुलाई.

पूर्वोक्त, 1984 क. ट्राइबल्स एंड इरिगेशन वर्ल्ड फोकस, खंड 5, अंक 11, 13,

वार्षिकांक, नवंबर–दिसंबर.

पूर्वोक्त, 1984 ख. टूवड्र्स पोवर्टी एलेविएशन प्रोग्राम्स इन नागालैंड एंड मणिपुर, नई दिल्ली, मित्तल पब्लिकेशंस.

पूर्वोक्त, 1985. हिस्टोरिकल इकोलॉजी ऑफ लैंड सर्वे एंड सेटलमेंट इन ट्राइबल एरियाज एंड चैलेंजेज ऑफ डेवलपमेंट, नई दिल्ली, काउंसिल फॉर सोशल डेवलपमेंट.

पूर्वोक्त, 1986 ख. इंस्टीट्यूशनल फाइनांस एंड ट्राइबल डेवलपमेंट, मेनस्ट्रीम, 18 जनवरी.

पूर्वोक्त, 1986 ग. कम्युनिटी लैंड एंड इंस्टीट्यूशनल फाइनांस विथ रेफरेंस टू ट्राइबल एरियाज ऑफ मणिपुर एंड त्रिपुरा, नई दिल्ली, काउंसिल फॉर सोशल डेवलपमेंट.

पूर्वोक्त, 1986 क. मॉर्बिडिटी एंड न्यूट्रिषनल स्टेटस ऑफ शिड्यूल्ड ट्राइब्स ऑफ इंडिया, बी. चॉधरी संपादित ट्राइबल हेल्थ : सोषियो–कल्चरल डाइमेंशंस में, नई दिल्ली, इंटर इंडिया पब्लिकेशंस.

पूर्वोक्त, 1987. फर्मेंट इन नॉर्थ–ईस्ट इंडिया, आइयूएमडीए संवादपत्र, खंड 1, अंक 3.

राइवकिन मिखाइल, 1982. मास्को'ज मुस्लिम चैलेंज, लंदन, हॉर्स्ट एंड कंपनी.

साहलिंस, एम.डी. 1968. ट्राइब्समेन.

fijuht ioZr dk ckLd yksxksa dk chp lgdkfjrk dk vuks[kk vuqHko

crk;k जाता है कि दक्षिणी फ्रांस और उत्तरी स्पेन के पिरेनीज पर्वत पर रहने वाले बास्क लोग जो भाषा बोलते हैं, वह द्रविड़ परिवार से संबंधित है। उनकी भूमि को यूज्कादी कहा जाता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान उनको आजादी देने का स्पष्ट वादा किया गया था, जिसे पूरा किया जाना अभी भी शेष है।

कुछ विद्वान बास्क क्षेत्र की एक जगह मौंद्रागॉन में 'सहक्रिया' का दिलचस्प विवरण देते हैं। यह पूंजीवाद, समाजवाद, साम्यवाद और सहकारितावाद के अन्य स्वरूपों से इतना अलग है कि यह खंडों में उनका अतिक्रमण कर जाता है और पूरी तरह अलग और अनोखी चीज बन जाता है। यह नई समाज व्यवस्था का प्रतिनिधित्व करता है जिसका फैलाव प्रत्येक बास्क प्रतिवेश तक है। लगभग 40 लाख परिवार अपनी रकम काजा दाबोरल पोपुलर (लोकश्रम बैंक) में जमा करते हैं। यह 120 शाखाओं वाला सहकारी बैंक है जिसका मुख्य काम समुदाय के लिए श्रमिक के स्वामित्व वाले कार्य सृजित करना है। छियासी सहकारी इकाइयां औद्योगिक उद्यम हैं। उनकी प्रति श्रमिक उत्पादकता देश में सर्वाधिक है और उनका प्रति श्रमिक मुनाफा उनके प्रतिस्पर्धियों की तुलना में लगभग दूना है। हालांकि वेतनमान 4.5 और 1 के अनुपात तक सीमित है, लेकिन वेतन और ओवरटाइम मिलाकर भी कोई व्यक्ति सबसे कम भुगतान पाने वाले व्यक्ति से 4.5 गुने से अधिक रकम नहीं प्राप्त कर सकता है। अमेरिका में वेतन का अनुपात 100 के मुकाबले 1 से भी अधिक है। यदि श्रमिक के स्वामित्व वाले शेयरों पर आय हो, तो उससे हर साल निम्न वेतनमान और मजदूरी की क्षतिपूर्ति की जाती है।

पूंजीवादी समाज में व्यवसाय के क्रमिक रूप से चार प्रमुख घटक गिनाए गए हैं – पूंजी, उत्पाद, प्रबंधक और श्रमिक। मौंद्रागॉन में व्यवसाय का स्वरूप इस प्रकार है; पहला, बैंक का उद्यमकर्ता विभाग। उद्यमकर्ता विभाग बैंक से सहायता का अनुरोध करने वाले समूहों का साक्षात्कार लेता है। बैंक सिर्फ समूहों का साक्षात्कार लेता है, व्यक्तियों का कभी भी नहीं। चूंकि व्यवसाय को सहकारी होना है इसलिए आरंभकर्ता समूह के सदस्यों के बीच मित्रता का बंधन एक अनिवार्य पूर्व शर्त होती है। पहले श्रमिक–स्वामियों के बीच प्यार का संबंध इस नए व्यवसाय की बुनियाद तैयार करता है। जब बैंक किसी समूह का चुनाव करता है, तो वह श्रमिक–स्वामित्व वाले सहकारी व्यवसाय के सृजन के लिए एक साझेदारी में शामिल होता है। आरंभकर्ता समूह का प्रत्येक सदस्य नए व्यवसाय को पूंजी की पर्याप्त राशि हेतु ऋण देता है ताकि बैंक और समूह के सदस्य, दोनों जोखिम में भागीदार रहें। उसके बाद समूह अकेले बैठक करता है और अपने एक सदस्य को प्रबंधक

चुनता है। उस व्यक्ति को एक विशेषज्ञ (जिसे गॉड फादर के पदनाम से जाना जाता है) के मार्गदर्शन में न्यूनतम दो वर्ष बैंक में बिताने होते हैं। वे मिलजुलकर व्यवसाय योजना तथा सामुदायिक विकास योजना विकसित करते हैं।

कोई भी व्यवसाय बैंक के निदेशक मंडल के पास अनुमोदन के लिए तब तक नहीं जा सकता है जब तक बैंक का सामुदायिक विकास विभाग आश्वस्त न हो जाय कि जो उस योजनाबद्ध साधन के अंतर्गत काम करेंगे, उन श्रमिक–स्वामियों की अधिकतम संख्या के लिए आवास, वाणिज्यिक और अन्य सभी सामुदायिक सेवाएं प्रदान की जाएंगी।

लोगों का भला किस उत्पाद से होगा, आरंभकर्ता समूह उत्पाद के मामले में इसके सिवा कोई फिक्र नहीं करता। वे समूह के दोस्त होते हैं जो साथ काम करना चाहते हैं और अच्छी आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन और श्रमिकों के स्वामित्व वाले काम का सृजन करके समुदाय का भला करना चाहते हैं।

जैसे ही उत्पाद का चुनाव हो जाता है, दो वर्षों का योजना निर्माण का काम संपन्न हो जाता है और बैंक के निदेशक मंडल द्वारा आगे बढ़ने की स्वीकृति देते ही व्यवसाय शुरू हो जाता है। किसी भी समय, जब प्रबंधक कारगर नहीं रह जाता, तो उसकी पदावनति कर दी जाती है (विश्वासघात की गतिविधियों को छोड़ अन्य किसी भी मामले में उसे निकाला नहीं जाता) और एक नए प्रबंधक का चयन किया जाता है। अगर कोई उत्पाद जीवक्षम (वायबल) नहीं रह जाता तो नए उत्पाद की तलाश की जाती है, चाहे इसके लिए बिल्कुल नई मशीनें हासिल करने की जरूरत ही क्यों न पड़े। व्यवसाय के सामने जितनी अधिक परेशानी आती है, बैंक घटती ब्याज दर पर उतना ही अधिक ऋण प्रदान करता है। पहले 13 प्रतिशत पर, उसके बाद 7 प्रतिशत पर और उसके बाद 0 प्रतिशत पर। जैसे ही व्यवसाय सफल होता है, ऋण अंततः चुका दिया जाता है और इस कारण बैंक का कोई भी ऋण बिना भुगतान हुए नहीं रहता।

एक विद्वान का अवलोकन है कि ''व्यक्तिवादी आत्म–तादात्मय (सेल्फ–आइडेंटिटी) के विपरीत, इसकी स्थापना करने वाले बास्क लोगों का सामूहिक आत्म–तादात्मय बहुत मजबूत है।'' जब बास्क का कोई आदमी इस पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है कि वह कौन है, तो वह सहज रूप से बास्क लोगों की बातें करने लगता है। वहां 'हम' के बाहर होने के बजाय 'मैं' उसके बहुत अधिक अंदर स्थित होता है। यह देशजकरण आधुनिक परिदृश्य है। जब देशज को जीवनशैली के संदर्भ में और वर्चस्वहीनता और हाशिए पर धकेले जाने के संदर्भ में परिभाषित किया जाता है, तब भी बास्क लोग उतने ही 'देशज हैं जितने विश्व के दूसरे स्थानों पर स्थित दूसरे देशज लोग हैं।

पोलैंड में भी इसी तरह का एक उद्यम है। जहां इस प्रकार के उद्यम पहली बार शुरू हुए, वहां बास्क और पोल, दोनों ही लोग विदेशी शक्तियों के अधीन

होकर उत्पीड़नग्रस्त हुए थे। मौंद्रागॉन जैसी एक प्रणाली श्रीलंका में भी है और यूरोप, एशिया, अफ्रीका तथा दक्षिणी अमेरिका के दूसरे देशों में भी उभर रही है। यह सुझाता है कि आधुनिक औद्योगिक समाजों (चाहे वे पूंजीवादी हों या समाजवादी) के लोग भी अगर समुदाय के रूप में गहरा बंधुत्व महसूस करते हैं, तो वे मौंद्रागॉन के लोगों की तरह ही सहकारी प्रणाली का निर्माण करके खुद को अभिव्यक्त करने की ओर प्रवृत्त होंगे। ■

tutkfr D;k gkrh g\ % ijLij fojk/kh ifjHkk"kk,a

टी.बी. नायक

tutkfr क्या होती है? कल्याण और संस्कृतिकरण के संबंध में सारे तर्क जनजाति की परिभाषा पर निर्भर करते हैं, खास कर भारत में। केंद्र और राज्य सरकारों द्वारा मान्यताप्राप्त जनजातियां वे हैं जिन्हें राष्ट्रपति के अनुसूचित जनजाति आदेश, 1950 में शामिल किया गया है। लेकिन हर साल ऐसे अनेक दूसरे समुदायों से आवेदन प्राप्त होते हैं जो अनुसूची में शामिल होना चाहते हैं (उसी तरह, जैसे सैंकड़ों जातियों ने पिछड़ा घोषित किए जाने की अपील की)।

अभी किसी समुदाय को जनजाति समझने के वास्तव में क्या मापदंड हैं? जनजातीय जीवन के सूचक क्या–क्या हैं? जंगलों में रहना? सूरत जिले (गुजरात) के डबला जंगल में नहीं रहते हैं। वे विकसित समुदायों के साथ अनाविलों और बनियों की तरह उपजाऊ मैदानी भागों में रहते हैं; तथापि वे अनुसूची में शामिल हैं। दूसरी ओर, चित्रकूट के समीप मारिया के साथ जंगलों में रहने वाले पंका लोग और बस्तर में कुटुमसार इससे बाहर हैं।

आप कह सकते हैं कि 'जनजातीय सामाजिक संस्कृति, गणचिन्ह (टोटम) वाले कुल आदि को सूचक के बतौर निर्धारित किया जा सकता है'। लेकिन यहां भी उलझन है। गोंड बड़े जनजातीय समूह हैं लेकिन आबिर, जो कई लाख आबादी वाला मध्य प्रदेश का बहुत महत्वपूर्ण समुदाय है और सामाजिक संरचना में कमोबेश गोंड लोगों जैसा ही है, इस सूची में शामिल नहीं है।

'आदिम धर्म'? लेकिन आपको नहीं मालूम है कि भारत में कौन सा आदिम धर्म है क्योंकि यहां जनजातीय देवताओं के बारे में अत्यंत गूढ़ दर्शन से लेकर भारत के अधिकांश विकसित समुदायों के धर्म में अंधविश्वास का अबाध क्रम मौजूद है। अत्यंत अस्थिर होने के कारण यह सूचक वस्तुतः कारगर नहीं होगा। उनलोगों के साथ क्या होता है जो जनजातीय समुदाय से तो आते हैं लेकिन शिक्षा ग्रहण करते हैं और शहरी क्षेत्रों में रहते और काम करते हैं? जनजातीय समुदाय ने भी अन्य समुदायों की तरह मंत्री, सरकारी अधिकारी, कर्मचारी, पटवारी, मिल मजदूर और खनन मजदूर पैदा किए हैं। (ऐसे हजारों लोग हैं जिनकी पहचान अन्य हिंदुओं से कत्तई अलग नहीं है)। क्या उन्हें अब भी जनजाति माना जाना चाहिए? वे तो कहते हैं कि वे हैं, लेकिन कुछ लोग उनके दावों को खारिज करते हैं। (हम यहां इसके कारणों पर चर्चा नहीं करेंगे)।

tutkfr ds fy, lq>k, x, dN ekinM

क्या ये मापदंड चलेंगे?

(1) किसी जनजाति के 'जनजाति' होने के लिए उसमें कम से कम कार्यशील परस्पर निर्भरता होनी चाहिए (हिंदू वर्ण व्यवस्था उच्च परस्पर निर्भरता का एक उदाहरण है)।

(2) उसे आर्थिक रूप से पिछड़ा होना चाहिए जिसका मतलब है कि :

(क) इसके सदस्य मौद्रिक अर्थतंत्र का पूरा महत्त्व नहीं समझते हों,

(ख) प्राकृतिक संसाधनों के दोहन में आदिम साधनों का उपयोग होना चाहिए :

(ग) जनजाति की अर्थव्यवस्था अल्पविकसित अवस्था में होनी चाहिए; तथा

(घ) उसे आर्थिक तौर पर बहुधंधी होना चाहिए।

(3) इसके लोगों का दूसरों के मुकाबले अधिक भौगोलिक अलगाव होना चाहिए।

(4) सांस्कृतिक रूप से किसी जनजाति की साझा बोली होनी चाहिए जिसमें आंचलिक आधार पर भिन्नता हो सकती है।

(5) किसी जनजाति को राजनीतिक तौर पर संगठित होना चाहिए और उसका सामुदायिक पंचायत प्रभावी संस्था होनी चाहिए।

(6) समुदाय के सदस्यों में परिवर्तन की कम से कम आकांक्षा होनी चाहिए। उनमें एक किस्म का मनोवैज्ञानिक संरक्षणवाद होना चाहिए जो उन्हें पुराने रीति–रिवाजों से जोड़े रखता हो।

(7) किसी जनजाति के पारंपरिक कानून होने चाहिए और उसके सदस्यों को कानूनी अदालत में उन विधानों के चलते पीड़ित होना पड़ सकता है।

'जनजाति' होने के लिए किसी समुदाय में ये सारी विशेषताएं होनी चाहिए। वह संस्कृतिकरण की प्रक्रिया से गुरज रहा हो सकता है लेकिन उसके संस्कृतिकरण का परिमाण उसके रीति–रिवाज, देवता, भाषा आदि के परिप्रेक्ष्य में तय होना चाहिए। संस्कृतिकरण का बहुत ऊंचा परिमाण उसे जनजाति होने से स्वतः वंचित कर देगा।

dN ifjHkk"kk, & uoKkfud nf"Vdks.k

उक्त बातों की आंशिक पुष्टि में स्वर्गीय प्रोफेसर मजूमदार ने कहा थाः ''कुछ समय पहले से और पिछड़ा वर्ग आयोग की रिपोर्ट आने के बाद से नृवैज्ञानिकों में जाति, जनजाति, पिछड़ा तथा वर्तमान उपयोग के कुछ अन्य शब्दों की मानक परिभाषा के बारे में चिंता व्याप्त है। उक्त चर्चा में मानक लक्ष्यार्थों की जरूरत पर ध्यान केंद्रित किया गया है, बशर्ते कि हम उन्हें विकसित कर सकें। मैंने अपनी पुस्तकों ने अनेक परिभाषाएं दी हैं

लेकिन उनके आशयों से नृविज्ञानी जो समझ सकता है, वह दूसरों द्वारा नहीं समझा जा सकता जबकि नीतिगत निर्णय दूसरों द्वारा ही किए जाते हैं। अतः परिभाषा देने के मामले में मैं अपनी स्थिति एक बार पुनः स्पष्ट करूंगा जिसे नृविज्ञानियों तथा जनजातीय व समाज कल्याण में दिलचस्पी रखने वाले अन्य लोगों के बड़े हिस्से में स्वीकृति मिल सकती है।''

''जनजाति भूक्षेत्रीय संबद्धता वाला, अंतर्विवाही, अविशेषीकृत कार्यों वाला, जनजातीय अधिकारियों द्वारा शासित, वंशानुगत या इससे भिन्न, भाषा या बोली के मामले में एकजुट, जनजातियों या जातियों से मान्य सामाजिक दूरी वाला लेकिन जातीय संरचना के मामले में निष्कलंक, जनजातीय परंपराओं, विश्वासों एवं रीति–रिवाजों का अनुगामी, बाहरी स्रोत के विचारों के देशीकरण के प्रति कठोर, और सबसे बढ़कर नृजातीय सजातीयता और भूक्षेत्रीय अखंडता के प्रति सचेत सामाजिक समूह है।''

''कोई जनजाति 'अनुसूचित' हो भी सकती है और नहीं भी। वह अंशतः या पूर्णतः संस्कृतिकृत हो सकती है। अगर आर्थिक स्थिति और संस्कृतिकरण का परिमाण ऐसा हो कि स्तरीकरण अस्तित्वमान हो चुका हो, तो किसी जनजाति को अनुसूचित दर्जा देने का कोई मतलब नहीं है, जैसे कि मिर्जापुर जिले के दूधी और सरगुजा जिले के राजगोंड जनजातियों के मामले में। इसी प्रकार, किसी जनजाति का एक हिस्सा पिछड़ा हो सकता है और एक हिस्सा नहीं। अतएव किए जाने वाले सुधारक उपायों का निर्णय स्थिति के आधार पर किया जाना चाहिए। किसी जनजाति को ईसाई बनाया जा सकता है, लेकिन जब तक उस जनजाति में अपनी सजातीयता, कुटुंब और भूक्षेत्रीय अखंडता के प्रति चेतना कायम रहती है, वह जनजाति बनी रहती है।''

''अगर किसी जनजाति के सदस्य शिक्षा और अवसरों के जरिए अपने समूह की स्थिति में सुधार करते हैं और अपने जनजातीय संपर्कों से स्थायी या अस्थायी तौर पर दूर भी रहते हैं, तो भी वे जनजाति बने रहते हैं, हालांकि जनजाति के हर सदस्य या हर हिस्से को तरजीह और अवसर देने की जरूरत नहीं है। अगर जनजाति की सदस्यता जनजाति के लोकाचार और आकांक्षाओं की साझेदारी को इंगित करती है, तो उसके आधार पर किसी व्यक्ति को उस जनजाति को उसके अनुसूचित दर्जे के अधिकार के कारण उपलब्ध तरजीहों का हकदार होना चाहिए।''

''लेकिन जहां जनजाति कई हिस्सों में विभाजित है जिनमें से कुछ हिस्से दूसरों से अधिक विकसित हैं और अंतर्विवाह और अंतःजनजातीय संबंध सीमित हैं, तो विकसित हिस्सों को पिछड़ों के लिए प्रावधानित तरजीहों की मांग नहीं करनी चाहिए। संताल परगना के संतालों की अपनी भूक्षेत्रीय संबद्धता है और वे अपनी सजातीयता, यहां तक कि अपने नृजातीय मूल के प्रति भी सचेत हैं, लेकिन मूलतः संताल परगना के ही रहे चाय बागान के कुली या दीनाजपुर की कृषक आबादी, उस तरह से नहीं सोचती और उन्हें जनजाति नहीं मानना चाहिए।''

''पूर्व में इंगित किए गए परीक्षणों को आसानी से लागू किया जा सकता है और

जनजातियों की नई सूची तैयार की जा सकती है जिसे लेकर हम आष्वस्त हैं कि उसमें ऐसी जनजातियों की संख्या कम होगी जिनकी देखरेख करने और स्तर उन्नत करने की जरूरत हो।''

''जातियों की भी ऐसी ही सूची तैयार की जा सकती है किन्हें समान्य स्तर तक उठाने के लिए हमें पूरा प्रयास करने की जरूरत है और कौन आर्थिक और सामाजिक रूप से उन्नत हैं, हालांकि पारंपरिक कारणों से उन्हें निम्न, शोषित, बाहरी और अछूत समझा जाता रहा है। जातियों के मामले में जांच के ये मापदंड होने चाहिए – 1. शिक्षा का स्तर, 2. आर्थिक सुरक्षा, 3. संपत्ति और 4. वे जिस इलाके में निवास करते हैं, वहां जाति श्रेणीक्रम में उनकी प्रस्थिति (स्टेटस)। इससे पिछड़ों के अंदर सार्विक श्रेणीकरण में उन्नत और कृषि, उद्योग या हस्तशिल्प के जरिए आर्थिक सुरक्षा–संपन्न और सामाजिक महत्व–रहित जातियों के बीच घालमेल समाप्त हो जाएगा।''

''अवसर की समानता, समान अधिकार और पेशा चुनने की आजादी हमारी आबादी के लांछित तबकों में सामाजिक समूहों को अनुसूचित करने से, जैसा कि अभी किया जा रहा है, कहीं अधिक जरूरी है। कुछ खास जातियों के साथ विशेष बर्ताव के लिए इसकी जांच की जानी चाहिए कि अतीत में उन्हें अधिकारों तथा अवसरों से वंचित किया गया था या नहीं और वैसी जातियों के लिए देखरेख और उत्थान के उपायों की जरूरत है या नहीं।''

''जौनसार बावर के कोटा लोग लकड़हारे और पानी खींचने वाले थे। उनको अधिकार नहीं दिए गए थे, वे जमीन नहीं रख सकते थे, उनके लिए स्वर्णाभूषण पहनना मना था और चिर ऋणग्रस्तता ने उन्हें गुलाम बना दिया था जो पीढ़ियों से जारी था। ऐसी जातियों के लिए विशेष देखरेख की जरूरत है, लेकिन ऐसी जाति को अनुसूचित तबके के लिए निर्धारित विशेष तरजीहों का लाभ नहीं मिलना चाहिए जो अपने बच्चों को पढ़ने नहीं दे, तब भी उसके पास संपत्ति और एक तरह से आर्थिक सुरक्षा हासिल हो। ऐसे मामलों में निरक्षरता को पिछड़ापन के परीक्षण का आधार नहीं बनाया जाना चाहिए जहां किसी जाति के सदस्य सुविधा उपलब्ध होने तथा सरकार द्वारा प्रदान किए जाने के बावजूद अपने बच्चों को शिक्षित होने से स्वेच्छापूर्वक रोकें।''

''पिछड़ापन एक सापेक्ष शब्द है और प्रत्येक जाति या समुदाय दूसरी जातियों या समुदायों के मुकाबले कमोबेश पिछड़ा होता है। समाजिक सेवाओं, शिक्षा एवं चिकित्सा सहायता का सर्वव्यापीकरण, समान स्तर तक पहुंचने के लिए अवसरों की समानता और पेशों के चुनाव की आजादी, जो कल्याणकारी राज्य का अवश्य ही लक्ष्य होना चाहिए, निर्भरता कम कर देगी और विशेष बर्ताव की जरूरत को भी।''

''उक्त मामलों में निकाले गए निष्कर्ष उनमें से अधिकांश बातों के खिलाफ नहीं जाते जिन्हें मैंने जनजाति की अपनी परिभाषा में शामिल किया है। मैंने आर्थिक तर्कों को इस कारण शामिल नहीं किया है कि 'आर्थिक रूप से पिछड़े' और मौद्रिक अर्थशास्त्र के पूरे महत्व को समझने की असफलता'' (2क) जनजातियों और अनेक जातियों को एक ही

श्रेणी में ला खड़ा करेगी। अर्थव्यवस्था का अर्धविकसित (2ग) चरण स्थिति में कोई सुधार नहीं करता। मेरी परिभाषा में प्रासंगिक बिंदु 2ख, 2घ, 3, 4, 5 और 6 शामिल हो जाते हैं। मेरी परिभाषा ही कुछ अधिक स्पष्ट है। मैंने सातवें बिंदु को स्वीकार नहीं किया है क्योंकि सामाजिक परिवर्तन के युग में जनजाति पारंपरिक नियमों का अनुसरण करती है या नहीं, इसके जरिए शून्य अंक नियत करना निस्संदेह कठिन है।''

प्रोफेसर एरेनफेल्स ने कुछ दूसरी ही बात कही हैं :

(1) कोई समुदाय, चाहे वह कितना भी छोटा क्यों न हो, किसी भौगोलिक क्षेत्र में दूसरे समुदायों से अलगाव में रह सकता है। यह बात जाति के साथ–साथ जनजाति पर भी लागू होती है। हालांकि सही जनजाति के सदस्य सामान्यतया हिंदू जाति श्रेणीक्रम में शामिल नहीं किए जाते और ज्यादातर मामलों में आम बोली ही बोलते हैं, उनके विश्वास साझा होते हैं, वे साझा पेशागत गतिविधियों का अनुसरण करते हैं और सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि वे खुद को छोटे किंतु अर्ध–राष्ट्रीय इकाई का सदस्य मानते हैं।

(2) मैं उक्त परिभाषा में से 'आर्थिक रूप से पिछड़ा', 'आदिम साधनों', और 'अर्धविकसित अवस्था' को निकाल दूंगा और उनकी जगह 'आत्मनिर्भर' शब्द शामिल करूंगा (जैसे खासी, गोंड, भील, अफारिया और अन्य जनजातियां आंशिक तौर पर अपने गैर–जनजातीय पड़ोसियों से भी आर्थिक रूप से अधिक विशेषीकृत हैं)। यद्यपि किसी जनजाति का प्रत्येक व्यक्ति अपने परिवार समूह के लिए काम कर सकता है और इस तरह कार्यरूप में जनजाति के दूसरे सदस्यों से स्वतंत्र रह सकता है, लेकिन यह देखा जाना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति कुल मिलाकर गैर–जनजातीय हिंदूओं के जाति श्रेणीक्रम के सह–भागीदार के रूप में रहने के बजाय समुदाय के साथ किस हद तक भाईचारा के साथ रहता है।

(3) भौगोलिक अलगाव की परिभाषा से मैं सहमत हूं हालांकि प्रत्येक जनजाति लोगों की अलग–थलग पड़ी इकाई नहीं होती (जैसे भील, संताल, इरुला आदि)। लेकिन अगर किसी जनजाति की अर्थव्यवस्था की अपनी प्रणाली होती है, तो उसका भाईचारा निस्संदेह अधिक स्थायी होगा।

(4) साझा बोलियां या भाषाएं आसाम और मध्य क्षेत्र के आदिवासियों के लिए तो आम है लेकिन जनजातीय चेतना के निर्माण के लिए यह बहुत जरूरी नहीं है। संस्कृतिकरण पूर्व के दौर में अधिकांश जनजातियों की मूल धार्मिक संकल्पनाएं अपने हिंदू, बौद्ध, मुसलमान या ईसाई पड़ोसियों से भिन्न थीं लेकिन अब हर मामले में ऐसा नहीं है।

(5) किसी जनजाति के लिए हमेशा न तो राजनीतिक रूप से संगठित होना जरूरी है, न उसका सामुदायिक पंचायत होना। उसके अंदर किसी प्रधान या कुछ वरिष्ठ लोगों का होना आवश्यक नहीं है जो समुदाय के अंदर कमोबेष सत्ता संभालते हों।

(6) मैं उक्त उल्लेख का प्रासंगिक पैरा हटाकर ये शब्द रख दूंगा : 'किसी जनजाति के सदस्यों में वैसे समूह का सदस्य होने की अनुभूति होती है जिसका अस्तित्व महत्वपूर्ण होता है।

(7) लगभग सभी जनजातियों में अपने पारंपरिक नियम और रीति–रिवाज होते हैं जो उनके गैर–जनजातीय पड़ोसियों से भिन्न होते हैं। निस्संदेह, अधिकांश मामलों में वे 'इसके कारण न्यायालयों में और गैर–जनजातीय लोगों के साथ संपर्क की परिस्थितियों में नुकसान झेलते हैं'।

प्रोफेसर अयप्पन उक्त मामले में कुछ ज्यादा ही संशयग्रस्त हैं और हमें टेट रीगन द्वारा 'उपजाति' (स्पिेशीज) की दी गई परिभाषा की याद दिलाते हैं। परिभाषा को स्वीकारते हुए हम कहेंगे कि जनजाति ऐसा समूह है जिसे एक सक्षम नृविज्ञानी जनजाति मानता हो। अगर प्रशासक स्पष्ट परिभाषा चाहता है जिसे वह आंख मूंदकर लागू कर सके और उस पर टिक सके, तो उनका कहना है कि हमें कहना चाहिए कि हमारे पास ऐसी कोई परिभाषा नहीं है, ठीक उसी तरह जैसे कोई प्राणि विज्ञानी उपजाति (स्पेशीज) की बिल्कुल स्पष्ट और हर मामले में उपयोगी परिभाषा देने की स्थिति में नहीं होता है।

VkVk lekt foKku laLFkku dk nf"Vdks.k

टाटा समाजविज्ञान संस्थान (टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल साइंस) भी इस मामले में कतई स्पष्ट नहीं है। ऊपर उद्धृत बिंदुओं के जवाब में उसका कहना है कि ''कुछ साल पहले भारतीय सामाजिक कार्य मंच (इंडियन कांफेरेंस ऑफ सोशल वर्क) ने इस मामले में एल.एम. श्रीकांत की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की थी। रिपोर्ट से युक्त मुद्रित विवरणिका (ब्रोशर) भारतीय सामाजिक कार्य मंच के कार्यालय में उपलब्ध है''।

इस प्रकार के प्रभाव की व्यवहारिक उपयोगिता और खास परिस्थितियों में मदद हेतु परिणाम के उपयोग की संभावना का निर्णय कर पाना महत्वपूर्ण है। जनजाति राजनीतिक निहितार्थों वाला राजनीतिक ढांचा होती है। सामाजिक ढांचा सामाजिक कार्यों के मामले में बदलता रहा है। महत्वपूर्ण समस्या यह नहीं है कि 'जनजाति क्या होती है?', बल्कि यह है कि 'कोई जनजाति संस्कृतिकरण के कारण कब जनजाति नहीं रह जाती है?'।

संस्थान के डाक्टर मेहता का आगे कहना है, ''मैंने संस्कृतिकरण की माप के लिए संभावित दृष्टिकोण चिन्हित किया है। भारत सरकार की अधिक चिंता इस बात की है कि संस्कृतिकरण के विभिन्न स्तर वाली जनजातियों की किस तरह से मदद की जाय; और गैर–जनजातियों के साथ पूर्णतः आत्मसात्करण (ऐसिमिलेशन) के साक्ष्य वाली जनजातियों की नियति के निर्णय के लिए यह महत्वपूर्ण है''।

इस आलेख के आरंभ में प्रस्तुत सात सूत्री दृष्टिकोण के बारे में संस्थान की यह टिप्पणी है :

1. ''(1) जनजाति की परिभाषा के प्रयास में जनजाति और समुदाय के बीच भ्रम

की स्थिति दिखती है। कोई जनजाति समुदाय शब्द के वैज्ञानिक अर्थों में उसके अस्तित्व के बगैर भी परिवारों का समूह भर हो सकती है। सामाजिक संगठन के बतौर कोई जनजाति अपने कार्यों या जरूरतों अथवा उसके विविध घटकों, इकाइयों या समूहों के बीच परस्पर निर्भरता के मामले में निर्णय लेने में सक्षम होती है। आर्थिक पिछड़ापन बहुत सापेक्ष होता है। अनेक मामलों में जनजातियों की काफी विकसित आखेट अथवा मत्स्याखेट अर्थव्यवस्था होती है और वे अन्य विकसित अर्थव्यवस्थाओं की अपेक्षा अपने भौतिक वातावरण से अधिक सुपरिचित होती हैं। अर्थव्यवस्था का गैर–सामंती से सामंती और उसके बाद व्यावसायिक स्थितियों तक उद्भव जनजातीय उद्भव के किसी भी चरण में अस्तित्वमान हो सकता है। उदाहरणस्वरूप, यह चिन्हित किया गया है कि स्कॉटलैंड में जनजातियां काफी विकसित आर्थिक स्थिति के साथ अस्तित्वमान हैं। सुझाए गए वक्तव्य में एक दिलचस्प आशय यह है अगर जनजातियां आर्थिक तौर पर विकसित होती हैं, तो वे जनजाति नहीं रह जाएंगी। इसका निर्णय खुद किसी संगठित जनजाति पर ही छोड़ दिया जाना चाहिए या फिर इस मकसद के अनुरूप कोई सामाजिक ढांचा विकसित करना चाहिए।''

2. ''(2) यह बहुत अधिक सापेक्ष है और 'तुलनात्मक' शब्द परिभाषाओं के प्रयास में अपवादस्वरूप ही उपयोगी है। बेहतर होगा कि घाटी अनुभाग सिद्धांत (वैली सेक्शन थियरी) को लागू किया जाय और सुझाव दिया जाय कि जनजाति का सामान्य निवास मैदानी क्षेत्रों के बजाय पहाड़ी क्षेत्रों या वनों में होता है, हालांकि यह सुज्ञात है कि जनजातियों का विवाद समुद्र के किनारे और रेगिस्तानों में भी है।''

3. ''(3) यह हंटर की परिभाषा में शामिल है।''

4. ''(4) पुराने सामाजिक ढांचे का आधुनिक सामाजिक संस्थाओं के साथ बहुत अधिक घालमेल है। यह किसी जनजाति के मूलभूत सामाजिक गुण के बजाय सामाजिक संस्कृतिकरण को बेहतर अभिव्यक्त करता है।''

5. (5) इसे स्वीकार करना मुश्किल है और बुद्धिमान तथा परिष्कृत गैर–आदिवासियों द्वारा सुझाए गए बदलावों के मूल्य के प्रति समझदार जनजातीय भय की मिथ्या धारणा हो सकती है। अनेक मामलों में परिवर्तनों के प्रति अनिच्छा न्यायसंगत है; और अन्य मामलों में वांछित परिणाम हासिल करने में बाहरी अभिकरणों की अक्षमता को अंतःक्रिया के मामले में हर संपर्क पर किए गए प्रतिरोध को रूढ़िवादिता माना जाता है। जैसे ही प्रतिरोध समाप्त होता है, परिवर्तन की इच्छा पूर्ण हो जाती है। इसके अलावा, परिवर्तन की इच्छा से परे भी सामाजिक परिवर्तन संभव है'। 'पारंपरिक विधान' गैर–जनजातीय लोगों में भी बहुत आम है। जनजातीय अनुसंधान ब्यूरो, पश्चिम बंगाल के बी.के. राय बर्मन द्वारा प्रस्तुत एक अन्य दृष्टिकाण भी है जिसके अनुसार :

''ऐसा लगता है कि मापदंड आदर्श ढर्रे के जनजातीय समुदायों पर लागू होता है जिसकी संकल्पना नृविज्ञानियों ने सैद्धांतिक मकसद से की है। ये अनुसूचित जनजातियों की सूची में शामिल समुदायों के साथ अनुभव के आधार पर संबंधित नहीं लगते हैं। तर्कसंगत आशय यही प्रतीत होता है कि जो समुदाय उक्त मापदंडों पर खरे नहीं उतरते, उन्हें जनजाति नहीं माना जाना चाहिए, चाहे वे अनुसूचित जनजातियों की सूची में शामिल ही क्यों न हों।''

वे आगे कहते हैं, ''मापदंड के औचित्य की जांच करने के पहले मैं एक सवाल पूछना चाहूंगा। क्या वर्तमान सामाजिक स्थिति इस पूर्वधारणा को सही ठहराती है कि जनजातियों की सामाजिक परिघटना (जैसा कि नृविज्ञानियों ने माना है) और अनुसूचित जनजाति की राजनीतिक–संक्रियात्मक (ऑपरेशनल) परिघटना (जैसा कि समाज का राजनीतिक अंग मानता है) को अनिवार्यतः समरूप होना चाहिए? मेरे लिए ऐसा सोचना मुश्किल है। जनजाति की नृवैज्ञानिक परिभाषा सामाजिक प्रक्रियाओं के स्तरीकरण के लिए बहुत ही उपयोगी चीज है। लेकिन 'अनुसूचित जनजाति' संक्रियात्मक प्रयोजनों के लिए इस प्रकार मान्यताप्राप्त व्यक्तियों का मूर्त सामूहिक प्रभाव है। अतः अनुसूचित जाति के निर्धारण के मापदंड की संकल्पना संक्रियात्मक प्रयोजनों के फलन के रूप में की जानी चाहिए।''

''जैसा कि संविधान में लिखित है और जैसा अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के तत्वावधान में हुए अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में स्वीकार किया गया है कि राजनीतिक समुदाय द्वारा जनजातीय और अर्ध–जनजातीय आबादी की मान्यता का मुख्य प्रयोजन ऐसी आबादी को राष्ट्र के अन्य प्रक्षेत्रों के समकक्ष पहुंचाना और राष्ट्रीय नीति में उनका समेकीकरण है। अतः यह तर्कसंगत ढंग से इस बात का अनुसरण करता है कि जिन समुदायों के बारे में माना जाता है कि उन्हें राष्ट्रीय नीति में समेकित करने और राष्ट्र के अन्य तबकों के समकक्ष लाने के लिए के लिए विशेष उपाय करने की जरूरत है, उन्हें संक्रियात्मक प्रयोजनों के लिए जनजाति के रूप में मान्यता दी जानी चाहिए।''

''साफ कहें तो यह अनुसूचित जनजातियों का मापदंड तय करने की समस्या के संबंध में प्रयोजनात्मक उपागम (प्रैग्मेटिक अप्रोच) है। लेकिन इस पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि सामाजिक परिघटना की संक्रियात्मक मान्यता हमेशा प्रयोजनात्मक होती है; परिणाम के संदर्भ में विचार करके ही ऐसा किया जाता है।''

''मैं सोचता हूं कि यह बिंदु अत्यंत महत्व का है कि सामाजिक प्रक्रियाओं के अध्ययन के लिए सैद्धांतिक प्रयोजन हेतु जनजाति की संकल्पना और समेकीकरण के संक्रियात्मक प्रयोजनों के लिए अनुसूचित जनजाति की मान्यता का समरूप होना जरूरी नहीं है और कुछ खास परिस्थितियों के तहत समरूप हो भी नहीं सकती हैं। संक्रियात्मक प्रयोजनों के लिए अनेक लोगों को अनुसूचित जनजाति नहीं माना जा सकता जो सैद्धांतिक नृवैज्ञानिक संकल्पनाओं के अनुसार जनजातीय लोग हैं। अन्य लोगों को, जो सैद्धांतिक नृवैज्ञानिक संकल्पनाओं के अनुसार जनजातीय लोग हैं, जनजाति माना जा सकता है।''

''मूल बात यह है कि ऐसी मान्यता से वर्धमान समेकीकरण (प्रोग्रेसिव इंटिग्रेशन) में मदद मिलेगी या नहीं। सैद्धांतिक नृविज्ञान और संक्रियात्मक नृविज्ञान, या और भी सटीक ढंग से कहें तो संक्रियात्मक जनजातिविज्ञान के दृष्टिकोण के बीच इस महत्वपूर्ण अंतर को समझने में आम तौर पर सामाजिक कार्यकर्ता और खास तौर पर नृवैज्ञानिक असफल दिखते हैं।''

''जब तक सैद्धांतिक नृविज्ञान की सीमाओं को इस क्षेत्र में मान्यता नहीं मिलती है, तब तक संक्रियात्मक नृविज्ञान अपने आप महत्वपूर्ण नहीं हो जाएगा। मैंने कुछ प्रतिष्ठित नृविज्ञानियों के साथ अनुसूचित जनजाति के मापदंड के सवाल पर चर्चा की है। मापदंड के सवाल पर उनके मत एक–दूसरे से भिन्न होते हैं लेकिन एक सवाल पर वे आम तौर पर सहमत होते हैं। वह यह कि जो समुदाय नृजातीय परिभाषा पर खरे नहीं उतरते, उन्हें अनुसूचित जनजातियों की सूची में शामिल नहीं किया जाना चाहिए। मैं उनके शुद्धतावाद की सराहना करता हूं। लेकिन मैं महसूस करता हूं कि यह विचारपद्धति फलदायी नहीं है। यह सामाजिक प्रक्रियाओं के एक महत्वपूर्ण तथ्य की उपेक्षा करती है कि जनजाति की नृवैज्ञानिक परिभाषा से निरपेक्ष समाज में ऐसी अन्य संकल्पनात्मक चीजें भी हैं जिनके आधार पर अनुसूचित जनजातियों को मान्यता मिली है। जब हम किसी सामाजिक प्रक्रिया का अध्ययन करते हैं, तो किसी परिघटना के सही या गलत के रूप में निर्धारण के लिए हम न तो किसी सामाजिक तौर पर स्वीकृत मापदंड का आसानी से ठप्पा लगा सकते हैं और न ही उपेक्षा कर सकते हैं। प्रक्रिया की पहचान के लिए हमें उस इतिहास का कारक (फैक्टोरियल) विश्लेषण करना चाहिए जिससे मापदंड का उद्भव हुआ है।

jktuhfrd lenk; }kjk ykxw ekinaM

अब हम इस बात की पड़ताल करें कि अनुसूचित जनजाति की सूची के निर्धारण हेतु राजनीतिक समुदाय द्वारा क्या मापदंड अपनाए गए। संविधान में मापदंड का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया है। पिछड़ा वर्ग आयोग ने, जिसे अनुसूचित जनजातियों की सूची में संशोधन करने के लिए कहा गया था, एक जगह उल्लेख किया है कि अनुसूचित जनजातियां ''अपना अलग बहिष्कृत अस्तित्व बरकरार रखती हैं और आबादी के मुख्य जत्थे में पूर्णतः आत्मसात नहीं होतीं। अनुसूचित जनजातियां किसी भी धर्म की अनुगामी हो सकती हैं। उन्हें अनुसूचित जनजाति के बतौर जीवनयापन के स्वरूप के कारण सूचीबद्ध किया गया है'' (पिछड़ा वर्ग आयोग की प्रश्नावली, भाग 1)। एक अन्य जगह पर आयोग ने उल्लेख किया है कि अनुसूचित जनजातियों की जीवनयापन के तौर–तरीके से पहचान की जा सकी; ''अनुसूचित जनजातियों की जीवन–पद्धति विशिष्ट थी'' (पिछड़ा वर्ग आयोग की प्रश्नावली, भाग 1, पृष्ठ 53)। पिछड़ा वर्ग आयोग की रिपोर्ट संसद में रखते समय अपने ज्ञापन में गृह मंत्री ने कहा कि अनुसूचित जनजाति के निर्धारण हेतु मापदंड उपलब्ध था। हालांकि उन्होंने स्पष्ट रूप से नहीं कहा कि वह मापदंड क्या था। अप्रत्यक्षतः प्रतीत होता है कि आयोग द्वारा अपनाए गए मापदंड को भारत सरकार ने स्वीकार कर लिया है।''

''जीवन प्रणाली की विशिष्टता पर राजनीतिक समुदाय द्वारा दिया गया जोर महत्वपूर्ण है। संक्रियात्मक प्रयोजनों के लिए अनुसूचित जातियों का सीमांकन विशेष लक्षणों के आधार पर ही नहीं, नृजाति–विज्ञान और आसपास की सभ्यता के स्थिर रूपों (स्टीरियो–टाइप) के आधार पर भी किया जाना चाहिए।''

''परिवर्ती सभ्यता के राजनीतिक अंगों द्वारा कुछ समुदायों को 'विशिष्ट' या 'भिन्न' मानना ऐसे समुदायों का परिवर्ती सभ्यता के साथ समेकीकरण के अभाव का सूचक है। बहुत संभव है कि नृवैज्ञानिक छानबीन करने पर पता चले कि अनेक मामलों में 'विशिष्टता' का विचार काल्पनिक है। यह महज अतीत की विरासत है और अधिकांश मामलों में समुदायों को आदिम स्तर से सभ्यता तक की निरंतरता (कंटीन्यूअम) में रखा जा सकता है।''

आदिम सभ्यता की निरंतरता की अवस्थिति निस्संदेह भारत में सामाजिक अध्ययन का बहुत महत्वपूर्ण क्षेत्र है। लेकिन कुछ खास समुदायों के 'भिन्न' होने के संदर्भ में स्थिर रूपों का अस्तित्व तब भी सामाजिक अध्ययन का कम महत्वपूर्ण क्षेत्र नहीं है जब वे भिन्न न भी हों। संक्रियात्मक प्रयोजनों के लिए उन सामाजिक प्रक्रियाओं का स्पष्ट विश्लेषण किया जाना और उन्हें उपयुक्त तरीके से निपटा जाना चाहिए जिनके जरिए विरूपित सहजबोध समाज में अस्तित्व में आते हैं।''

''बहरहाल, पड़ोसियों का नृजाति–विज्ञान एकमात्र अनुचिंतन (कंसीडरेशन) नहीं होना चाहिए। संबंधित समुदायों के श्रेष्ठगणों (इलीट) की मनोवृत्ति को भी राष्ट्रीय समेकीकरण के एक अन्य कारक के बतौर मान्यता मिलनी चाहिए।''

''इस संबंध में यह पूछना प्रासंगिक है कि अनुसूचित जातियों के निर्धारण में नृवैज्ञानिक परिभाषाओं की पूरी तरह उपेक्षा की जाय या नहीं। मैं सोचता हूं कि उसकी पूरी तरह उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। नृजातीय परिभाषा एक संकल्पनात्मक ढांचे के रूप में काम कर सकती है जिसके संदर्भ में अनुसूचित जनजातियों के बतौर मान्यताप्राप्त विभिन्न समुदायों का मूल्यांकन किया जा सकता है। संक्रियात्मक प्रयोजनों के लिए नृजातीय परिभाषा एक प्रकार की 'सामान्य परिभाषा' हो सकती है लेकिन साथ ही साथ 'वास्तविक परिभाषा' की भी खोज की जानी चाहिए।''

''मैं महसूस करता हूं कि संक्रियात्मक प्रयोजनों के लिए अनुसूचित जनजातियों के अस्तित्व को सामाजिक जीवन की अकेली श्रेणी का निर्माता नहीं माना जाना चाहिए। श्रेणियों का सीमांकन संस्कृतिकरण के चरणों के बजाय समेकीकरण के प्ररूपविज्ञान (टाइपोलॉजी) के संदर्भ में किया जाना चाहिए। समेकीकरण के प्ररूपविज्ञान के सवाल पर मैं कुछ विचार रख रहा हूं और उनका विस्तृत उल्लेख बाद में करने की कोशिश करूंगा।''

''लेकिन इसी बीच मैं आश्वस्त हूं कि संक्रियात्मक प्रयोजनों के लिए संस्कृतिकरण के चरणों के संदर्भ में अनुसूचित जातियों का वर्गीकरण उनुपयोगी है। मैं स्वीकार करता हूं कि संस्कृतिकरण के चरणों के संदर्भ में जनजातीय समुदायों का वर्गीकरण – अनिवार्यतः

अनुसूचित जनजातियों का ही नहीं – भारी शैक्षिक महत्व की चीज है, लेकिन अगर हम शैक्षिक महत्व और संक्रियात्मक महत्व के बीच फर्क नहीं करते हैं तो भूलभुलैया में उलझ जाएंगे।''

dN vrfojk/kh fcn

अब, इस आलेख के आरंभ में नृजातीय दृष्टिकोण से सुझाए गए मापदंडों के बारे में मैं महसूस करता हूं कि निम्नलिखित सूचनाएं भी जरूरी हैं।

1. यह स्पष्ट नहीं है कि हम जिन विशेषताओं पर विचार करते हैं वे अनियत रूप से निर्धारित हैं या सांख्यिकी आधार पर सहसंबंधित।

2. क्या हमलोंगों ने मापदंडों को कुछ ऐसी जनजातियों के संदर्भ में अनुभव के आधार पर सत्यापित कर लिया है जिन्हें हम जनजाति मानते हैं? अगर हां, तो उनमें से कुछ के बारे में बताया जाना चाहिए था।

3. जहां समुदाय के विभिन्न खंड अलग–अलग लक्षण दर्शाते हों, वहां हम समुदाय की विशेषताओं को कैसे प्रस्तावित करेंगे?

4. वह और भी विस्तृत उल्लेख के लिहाज से निम्नलिखित टिप्पणियां करते हैं :

5. हिंदू वर्ण व्यवस्था में उच्च स्तर की परस्पर निर्भरता (इंटर–डिपेंडेंस) और अंतःनिर्भरता (इंट्रा–डिपेंडेंस), दोनों होती है। क्या हम दोनों प्रक्रियाओं को जनजातीय लोगों के परिपेक्ष्य में भी देखेंगे?

6. संताल, गोंड, भील आदि बड़ी जनजातियां हालांकि अनेक मामलों में एकल समाज का निर्माण करती हैं, लेकिन जिसके लिए गिंसबर्ग ने 'समुदाय' शब्द का प्रयोग किया है, उस अर्थ में समुदाय का निर्माण नहीं करतीं। हमें उन्हें एकल समुदाय निर्माण करने वाला मानना चाहिए या गुणज (मल्टिपल) समुदाय निर्माण करने वाला।

7. क्या हम यह मानते हैं कि एक ही आदिम बोली बोलने वाले समुदाय एक जनजाति का निर्माण करते हैं? पश्चिम बंगाल के एक जिले में दो समुदाय आसपास रहते हैं। दोनों की आबादी 200 से अधिक नहीं है। दोनों ही मालपहाड़िया भाषा बोलते हैं, द्रविड़ परिवार से आते हैं। लेकिन दोनों अलग जनजाति होने का दावा करते हैं। एक मालपहाड़िया कहलाता है और दूसरा कुमारभाग पहाड़िया। वे न तो आपस में विवाह करते हैं, न एक पांत बनाते (इंटरलाइन) हैं। उनकी पंचायतें आदि भी अलग–अलग होती हैं। हम उन्हें एक जनजाति निर्माण करने वाला मानेंगे या नहीं? दूसरी ओर नगा समूह के मामले में हमारी स्थिति क्या होगी जो एक–दूसरे को समझ में न आने वाली अलग–अलग बोलियां बोलते हैं?

8. ऐसा लगता है कि जनजातीय समाजों में परिवर्तन के अभाव के लिए अनियत कारक के बतौर मनोवैज्ञानिक संरक्षणवाद अनियत रहा है। लेकिन क्या यह संभव नहीं है

कि बाहरी कारक भी आमूल परिवर्तनवाद (रैडिकलिज्म) को कुंठित करे?

9. क्या हम यह नहीं समझते हैं कि प्रभावी पंचायतों वाले समुदायों के लिए न्यायालय में पीड़ित होने की बहुत कम आशंका होती है और मुकदमे न्यायालय तक बिल्कुल नहीं जाएंगे? अनुसूचित जनजातियों को पारिवारिक कानून और संपत्ति कानून के अधिकारक्षेत्र से बाहर रखा गया है।

10. संस्कृतिकरण पर उक्त जोर इस परिकल्पना पर आधारित लगता है कि संस्कृतिकरण समेकीकरण का लक्षण है। लेकिन क्या ऐसा हमेशा होता है?

tutkrh; ykxk d fy, ,d ç'kkld dk ekinM

जनजातीय लोगों के बारे में अपने खुद के अनुभव वाले एक अनुभवी प्रशासक का कहना है कि समस्याओं के प्रति उक्त विचारपद्धति और सरकारी विचारपद्धति के तल भिन्न हैं। उनके अनुसार पहली विचारपद्धति नृजातीय दृष्टिकोण से प्रभावित है जबकि सरकारी विचारपद्धति प्रशासनिक और संवैधानिक दृष्टिकोण से। एक ही तल की समानांतर रेखाओं की तरह भिन्न तलों की अभिसरित होती सरल रेखाएं भी आपस में कभी नहीं मिल सकती हैं।

उनका कहना है कि ''कुछ पिछड़े वर्गों को संविधान ने दस वर्षों के लिए खास तौर पर संरक्षा प्रदान की है। उनमें से कुछ हरिजन और बाकी आदिवासी हैं। अगर 'जनजातियों' और 'जातियों' की जगह इन शब्दों का निरंतर प्रयोग किया जाय तो ढेर सारे भ्रमों से बचा जा सकता है, ठीक उसी तरह जैसे विक्टोरियाई उपन्यासकारों ने नीदरलैंड के 'गार्मेंट' शब्द की जगह 'ट्राउजर' का उपयोग करके अर्थ अधिक स्पष्ट किया था। हरिजनों और आदिवासियों को विशेष सुविधाएं स्पष्टतः इसलिए दी गई थीं कि वे लोग पिछड़े थे और देश के दूसरे तबकों की प्रगति धीमी कर रहे थे। निस्संदेह, इस निर्णय के पीछे अतीत की सदियों में की गई गलतियों को दुरुस्त करने के लिहाज से सामाजिक न्याय का भी कुछ विचार रहा होगा।

fu"d"kZ

''अगर मैं यहां तक के विश्लेषण में सही हूं, तो कुछ निष्कर्ष इस प्रकार हैं। संरक्षा का पात्र होने के लिए आदिवासियों या हरिजनों से कुछ चीजें अपेक्षित थीं। उन्हें शोषित होना था, शोषक नहीं। विशेष बर्ताव एक व्यवहारिक संभाव्यता हो, इसके लिए उनका पर्याप्त संख्या में होना भी जरूरी था। जब तक वे महज कुछ नहीं, वरन सारी वांछित शर्तें पूरी न करते, तब तक शेष आबादी की कीमत पर उन्हें तरजीह देने के लिए देश को सही नहीं ठहराया जाता।''

जहां तक हरिजनों का सवाल है, तो उनके वर्गीकरण में कोई कठिनाई नहीं थी। हरिजन कुछ क्षेत्रों में अन्य लोगों के मुकाबले निस्संदेह पिछड़े थे : वे शोषित थे, शोषक नहीं

और विशेष सुविधाओं के प्रावधान के औचित्य के लिहाज से उनकी संख्या भी पर्याप्त थी। कठिनाई तो आदिवासियों के मामले में थी। कुछ क्षेत्रों में वे शेष आबादी जैसे ही विकसित थे; जैसे नागपुर तहसील के गोंड कुंबी से कत्तई भिन्न नहीं हैं, जबलपुर के राजगोंड लोधी जितने ही विकसित हैं। इस तरह के ढेरों उदाहरण मौजूद हैं।

'अतः विभिन्न क्षेत्रों में 'आदिवासी' को परिभाषित करना आवश्यक हो गया और अनुसूची ने अंततः वही काम किया। स्वाभाविक ही है कि इसमें कमियां थीं जो इस तरह के किसी प्रयास में अपरिहार्य है, लेकिन उन्हें यथाशीघ्र ठीक करने के प्रयास भी किए गए।'

''मैं नृजातिवृत्तीय (एथनोग्राफिक) अथवा नृवैज्ञानिक विचारों पर आधारित किसी परिभाषा के पक्ष में नहीं हूं जब तक कि खुद 'आदिवासी' को परिभाषित करने के लिए ऐसे विचार अपरिहार्य न हो जायं। हमलोगों को यह तथ्य नजर से ओझल नहीं होने देना चाहिए कि हरिजनों और आदिवासियों के लिए विशेष बर्ताव एक अस्थायी चरण है और हमलोगों को ऐसा कुछ नहीं करना चाहिए जिसकी परिणति उनके और शेष आबादी के बीच अंतर को स्थायी बनाने में हो।''

''तब भी मैं खुद को एक अलग नस्ल मानने की आदिवासियों में बढ़ती प्रवृत्ति से असंतुष्ट हूं : 'हम आदिवासी हैं' का अति प्रचलित जुमला मेरे कानों में चुभता है, सांप्रदायिक लगता है। अगर ये अलगाववादी प्रवृत्तियां जारी रहीं तो उनके अनर्थकारी परिणाम होंगे। अंततः इस अर्थ में क्या राजपूत अलग नस्ल नहीं हैं कि वे सीथियन हैं? और क़षगम आंदोलन के बारे में क्या कहेंगे? और झारखंड? और नगाओं का अलग राज्य?''

''दो और बिंदु हैं जिन पर मैं चर्चा करना चाहता हूं। पंका बस्तर जिले में अनुसूचित जनजाति के रूप में सूचीबद्ध हैं और इसी कारण उन्हें जनजाति नहीं माना जाता है। तथ्यतः मेरे द्वारा तय मापदंडों के मुताबिक उन्हें किसी संरक्षा का पात्र बिल्कुल नहीं माना जाना चाहिए। वे लोग मुख्यतः छोटे दूकानदार और आदिवासियों को कर्ज देने वाले सूदखोर हैं, वे उनका शोषण करते हैं ....और अहीरों की बात करें तो वे कुर्मियों से अधिक पिछड़े नहीं हैं और पशु संपदा के कारण आर्थिक रूप से बहुत बेहतर स्थिति में हैं।''

आदिवासियों के बीच बीस साल से भी अधिक समय गुजारने वाले एक सामाजिक कार्यकर्ता इसी मकसद से अपना दृष्टिकोण इस प्रकार प्रकट करता है ('किसी जनजाति की पहचान के लिए सटीक मापदंड तय करना बहुत मुश्किल है। ....यहां में चिन्हित करना चाहूंगा कि कुछ साल पहले अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति आयुक्त एल.एम. श्रीकांत की अध्यक्षता में एक विशेष समिति का गठन किया गया था)। आयुक्त से छः–सात साल पहले कलकत्ता में मुलाकात हुई थी। वे जनजाति की स्पष्ट पहचान के प्रति आश्वस्त थे। जहां तक मुझे याद है, उन्होंने जनजातियों को चार श्रेणियों में बांटा था :

(1) जनजातियां

(2) अर्ध–जनजातियां

(3) संस्कृतिकृत जनजातियां

(4) आत्मसात्कृत (ऐसिमिलेटेड) जनजातियां।

''हालांकि विभिन्न श्रेणियों अथवा जनजातियों और अर्ध–जनजातियों के बीच स्पष्ट सीमारेखा खींचना कठिन काम है। इसी प्रकार, यह भी नहीं मालूम कि संस्कृतिकृत और आत्मसात्कृत जनजातियों के बीच भेद कैसे किया जाय। लेकिन आयोग द्वारा जारी पुस्तिका (पैंफलेट) के अनुसार मातृ समुदायों से जनजातियों का भेद करने के लिए कुछ मापदंड दिए गए थे।...''

'भूतपूर्व मध्य प्रदेश सरकार ने फैसला किया है कि जिन जनजातियों की केंद्रित संख्या 20 प्रतिशत या अधिक है (1956 के अनुसूचित जनजाति आदेश में दी गई सूची के अनुसार), उन्हें अनुसूचित जनजाति माना जाएगा और जिनकी 20 प्रतिशत से कम है, उन्हें पृष्ठभूमिक वर्ग (बैकग्राउंड क्लासेज) माना जाएगा। अनुसूचित क्षेत्र में परिवर्तित क्षेत्र के लिए मापदंड यह है : तहसील को इकाई मानते हुए, जिन इलाकों में जनजातीय लोगों की आबादी 50 प्रतिशत या अधिक है, वे अनुसूचित क्षेत्र हैं।

अन्य समुदायों से भेद करने का मेरा अपना तरीका है। यह उनके निवास, सांस्कृतिक रीति–रिवाज, विश्वास, जीवनपद्धति, बोली, और सामाजिक एवं आर्थिक दशा पर निर्भर है।

इस प्रकार यह दिखता है कि इस बात पर हम आज तक भी सहमत नहीं हैं कि जनजाति क्या है?' ■

लेखक का परिचय

प्रोफेसर बी.के. रॉय बर्मन (विक्रम केशरी रॉय बर्मन) का जन्म सिलहट (अब बंग्लादेश) में सन् 1922 में हुआ। 'वाकिंग एन्साइक्लोपीडिया' एवं 'एन्थ्रोफिल एन्थ्रोपोलोजिस्ट' जैसी उपाधियों से जाने जाते रहे हैं। सोलह वर्ष की आयु में ही जापानी आक्रमण के विरूद्ध लड़ने के लिए चीन पहुँच गए थे और 1942 के कॉलेज छात्र के रूप में स्वतंत्रता आंदोलन में शामिल हो गए।

सिलचर (आसाम) के सेठ कॉलेज में प्रवक्ता के रूप में उन्होंने अपनी पेशेवर ज़िंदगी की शुरूआत की एवं विश्व भारती, शाँति निकेतन से एन्थ्रोपोलोजी के प्रोफेसर के रूप में अवकाश प्राप्त किया।

श्री राय बर्मन जी, सेंटर फॉर द स्टडी ऑफ डेवलपिंग सोसाइटीज़ (सी.एस.डी.एस.), नई दिल्ली में वरिष्ठ विजिटिंग फैलो भी रहे। वह अनुसूचित जाति एवं जनजाति आयोग कार्यालय एवं रजिस्ट्रार जनरल ऑफ इंडिया में भी विभिन्न पदों पर रहे। जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में अध्यापन किया तथा काउंसिल फॉर सोशल डेवलेपमेंट में निदेशक एवं प्रोफेसर के रूप में भी बर्मन जी ने कार्य किया।

प्रोफेसर बर्मन इंडियन सोशल साइंस कांग्रेस के अध्यक्ष एवं फ्युचरोलॉजी कमीशन ऑफ द इंटरनेशनल यूनियन ऑफ एन्थ्रोपोलोजिकल एडं एथनोलोजिकल साईंसेज़ के चेयरमैन भी रहे।

बर्मन जी, ओ.बी.सी., एस.सी. एडं एस.टी. कमीशन, ढेबर कमीशन एवं केलकर कमीशन में भी रहे तथा मंडल कमीशन की तकनीकी समिति के चेयरमैन भी थे।

जनगणना संचालनों की सामाजिक अध्ययन इकाई का श्रेय भी श्री राय बर्मन जी को ही जाता है। भारत सरकार द्वारा स्थापित नेहरू फैलोशिप भी सबसे पहले बर्मन जी को ही मिली। अमरीकन बॉयोग्राफिकल इंस्टीट्यूट द्वारा स्थापित 'अल्बर्ट आइन्सटीन अवार्ड ऑफ एक्सीलेंस' (2011) से भी बर्मन जी विभूषित हुए।

बर्मन जी ने मणिपुर के गाँव अवांगखुल में 'इंस्टीट्यूट फॉर पीपुल्स एक्शन' की स्थापना की। इम्फाल में जे.एन.यू. केन्द्र की स्थापना में भी उनका अहम् योगदान रहा। उन्होंने सिक्किम सरकार के सलाहकार के रूप में भी कार्य किया तथा भोपाल में 'इंस्टीट्यूट ऑफ मैन' की स्थापना में भी उनकी अहम् भूमिका थी।

शायद ही भारत का कोई ऐसा जिला हो जहां बर्मन जी न गए हों। इसी अनुभव से उनकी भारतीय समाजों एवं संस्कृतियों पर तुलनात्मक संभावनाओं पर गहन पकड़ थी। 26 जून 2012 की प्रातः बर्मन ने शरीर त्याग दिया। हरित स्वराज संवाद (SADED) का यह सौभाग्य है कि इसके प्रारम्भ से ही हमें प्रो. बी.के. राय बर्मन का मार्गदर्शन अंतिम समय तक मिला। हमारे आग्रह पर वह अपनी उम्र एवं स्वास्थ्य की परवाह न करते हुए मैक्सिको के आदिवासियों के बीच भी गये।

'हरित स्वराज' का विचार मनुष्य से प्रकृति के रिश्ते को समाज के राजनैतिक, सामाजिक, साँस्कृतिक पक्षों के लोकतान्त्रिक आधार से जोड़ता है। 'दक्षिण एशियाई हरित स्वराज संवाद' (सैडेड) विभिन्न वैचारिक प्रवाहों को संजो कर उनके बीच संवाद को प्रोत्साहित करता है ताकि 'हरित स्वराज' के बहुआयामी विचार की गहराई तक पहुँचा जाए। दक्षिण एशिया के संदर्भ में 'हरित स्वराज संवाद' ऐसे व्यापक प्रवाहों का हिस्सा है जो स्थानीय समुदायों से लेकर देश व दुनिया के स्तर पर मनुष्य जीवन के लोकतान्त्रीकरण के लिए प्रयासरत् हैं। यह प्रकल्प सेन्टर फॉर द स्टडी ऑफ डवेलपिंग सोसाइटीज़, लोकायन, केपा व सिएमेनपू फाऊन्डेशन (फिनलैण्ड) की साझी सृजनात्मक पहल के बतौर शुरू हुआ था।

'दक्षिण एशियाई हरित स्वराज संवाद' एक चौपाल है। इसके द्वारा प्रकाशित पुस्तकें लेखक के विचार प्रस्तुत करती हैं ताकि समाज में चल रहे संवादों की झलक मिले। संवाद की इस प्रक्रिया को बढ़ावा देने के लिए पाठकों से गुज़ारिश है कि वह इसमें भागीदार बनें व अपने विचार हमें लिख भेजें।

दक्षिण एशियाई हरित स्वराज संवाद
South Asian Dialogues on Ecological Democracy (SADED)
www.saded.in

ISBN
978-93-81144-64-0